परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १३, अंक १

दिसम्बर, १९९१ / कार्तिक-मार्गशीर्ष, २०४८

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद

आनन्दप्रकाश दीक्षित मो.प्र.मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

* पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य-प्रकार के पत्राचार के लिए संपर्क करें, संपादक, **परामर्श (हिंदी)** : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७(महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, **परामर्श (हिंदी)** : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर **कार्यालय में मिल जाए**, तो अंक बचे होने पर पुन: भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु.५०/-
(२) व्यक्तियों के लिए	रु.४०/-
(३) एक प्रति	रु.१२/-

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु.१५००/-
व्यक्तियों के लिए रु.४००/-

* राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की **दो टाईप की हुई प्रतियाँ** भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बडा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बडा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

University of Poona.

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बडा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

University of Poona.

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बडा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफ़ा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

University of Poona.

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्वज्ञान केंद्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेंद्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

समकालीन भारत में दार्शनिक लेखन और भारत का तत्त्व

मनुष्य के सभी अन्वेषण किसी सत्य को लक्षित करते हैं और इस सत्य का निरपेक्ष होना ही अभीष्ट होता है, किन्तु विज्ञान का सत्य, काव्य का सत्य, आचरण का सत्य और दर्शन का सत्य ये या तो एक ही सत्य के विभिन्न पक्ष हैं या फिर मूलतः ही परस्पर भिन्न सत्य हैं। इन्हें जो भी कहा जाय इससे ये अन्वेषण और इनके सत्य आंशिक ही सिध्द होते हैं। किन्तु अपनी इस आंशिकता में भी इनका दावा सार्वभौमिकता का ही होता है; ये व्यक्ति-संकुचित या संस्कृति-संकुचित रूप में नहीं देखे जाते। इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण या जगत् - आत्मा - ब्रह्म की अद्वयता ये व्यक्तिगत या संस्कृतिगत दृष्टियों के संकुचित या सापेक्ष सत्यों के रूप में नहीं देखे जाते, बल्कि सार्वभौम, व्यक्ति और संस्कृति की सीमाओं से निरपेक्ष सत्यों के रूप में ही देखे जाते है। किन्तु दूसरी ओर जिस सीमा तक कोई व्यक्ति अपनी दृष्टि में विशिष्ट और विविक्त होता है उसी सीमा तक वह विकसित माना जाता है। यही बात संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी इतनी ही सही है, किन्तु वैयक्तिक या सांस्कृतिक दृष्टियों का यह वैशिष्ट्य उनके द्वारा देखे गए सत्य की सार्वभौमिकता में बाधक नहीं होता। बल्कि जितना ही कोई व्यक्ति विकसित और इस प्रकार विशिष्ट होता है उतना ही उसके द्वारा देखा गया सत्य सार्वभौम होता है। यही बात संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । उदाहरणतः बुद्ध या कबीर जैसे व्यक्ति विशिष्ट या असाधारण कहे जाते हैं क्योंकि वे ऐसे सत्य के द्रष्टा समझे जाते हैं जो महत् और सार्वभौम है, जबकि संकुचित दृष्टियुक्त व्यक्ति साधारण कहे जाते हैं । यह बात संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी उतनी ही लागू होती है । इस का कारण यह है कि वैयक्तिक या सांस्कृतिक वैशिष्ट्य चेतना के विकास और उसकी

जागृतता से प्रतिफलित होता है और यह जागृतता चेतना के सत्य के अवगमन की पर्यायवाची होती है। तब इस वैशिष्ट्य का क्या अर्थ है, यदि इसका एक अनिवार्य अर्थ अन्यों से भिन्नता नहीं है तो ? इसका अर्थ वास्तव में अन्यों से भिन्नता नहीं होकर अपने में प्रतिष्ठितता और अपनी दृष्टि में स्पष्टता होता है। अन्यों से पृथक्ता या असाधारणता केवल उसका दूसरों द्वारा लक्षित गुण होता है जो गुण भी वास्तव में उस व्यक्ति या संस्कृति की अन्यों से उत्कृष्टता के रूप का होता है। साधारण व्यक्ति की साधारणता अन्य बातों के अतिरिक्त इस बात में भी होती है कि उसकी अपनी कोई दृष्टि नहीं होती, अथवा वह बहुत धुँधली और अस्पष्ट होती है, और परिणामस्वरूप वह या तो अन्यों की दृष्टियों का तात्कालिक रूप से अनुसरण करता है अथवा बिना किसी दृष्टि के ही कार्य करता है। इसी प्रकार संस्कृतियाँ अल्प विकसित होने अथवा समृद्ध अर्थ-गर्भित विचार से रहित होने पर, अथवा समाज में जीवन की क्षीणता होने पर दूसरी संस्कृतियों के सम्मुख अपना अस्तित्व खो देती है और उनमें मिल जाती हैं। निश्चय ही संस्कृतियों की विशिष्टता बने रहने के दूसरे भी कारण होते हैं, किन्तु यहाँ उनकी चर्चा अप्रासंगिक होगी।

इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति वर्तमान विश्व की चार संस्कृतियों में से एक कही जा सकती है जो न केवल अत्यन्त समृद्ध और नितांत विशिष्ट है बल्कि जिसका इतिहास सुदीर्घ है। किसी संस्कृति का यह वैशिष्ट्य उस मूल्य या आदर्श से निश्चित होता है जिसके अनुसार वह संस्कृति मनुष्य के जीवन की सार्थकता निश्चित करती है। दूसरे शब्दों में, उस संस्कृति में परमार्थ, परम तत्त्व और परम अन्वेष्य किसे माना जाता है उसके अनुसार उसका स्वरूप, स्वभाव और वैशिष्ट्य बनता है। ये प्रश्न जब स्वभावत: आत्म-चेतन रूप में विचारित और विवेचित होते हैं तब उस संस्कृति में दर्शन का जन्म होता है, अन्यथा ये किसी संस्कृति के संपूर्ण चरित्र को ही विशेषित करते हैं। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता, मोक्ष, सत्य की अनुभूतिगम्यता, और योग-साधना से परिलक्षित होती है और ये ही मुख्यत: इसके दार्शनिक विचार के विषय रहे हैं।

इस पर कहा जा सकता है कि कुछ भारतीय दर्शन-संप्रदाय प्रकृति या जगत् को भी सत्य मानते हैं और आध्यात्मिक साधना उनका वैशिष्ट्य नहीं है, बल्कि वे बहुत सीमा तक लोकवादी-संसारवादी ही कहे जा सकते हैं; जैसे मीमांसा न्याय और वैशेषिक दर्शन। तो इसका उत्तर यह होगा कि इस दृष्टि से वास्तव में मीमांसा को ही एक सीमा तक पृथक् किया जा सकता है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक भी अपना अन्वेष्य मोक्ष को ही कहते हैं। किन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि न्याय और वैशेषिक में भी जीवन का साध्य लौकिक सुख या बुद्धिप्रकाश नहीं स्वीकार किया गया है, बल्कि मोक्ष ही स्वीकार किया गया है और बौद्धिक युक्ति-विमर्श को केवल उसके साधन के

रूप में ही देखा गया है।

भारतीय जीवन-दृष्टि का मूल उपनिषदों को कहा जा सकता है। निश्चय ही बौद्ध और जैन दृष्टियां उपनिषद्-मूलक नहीं हैं किन्तु एक आधारभूत अर्थ में ये दृष्टियां उपनिषदों के अनुरूप और ग्रीक या चीनी दृष्टियों से आधारभूत रूप में भिन्न हैं। औपनिषद् तथा बौद्ध और जैन दृष्टियां सत्य को चेतना के तादात्म्यभाव के रूप में गम्य देखती हैं और विषयात्मक या विकल्पात्मक ज्ञान को असदात्मक मानती हैं। यहाँ सांख्य दर्शन-संप्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो विषय को सत् मान कर भी ज्ञान की दृष्टि से उसे अवांछनीय और असत् ही मानता है; ज्ञान उसके अनुसार विषय को आत्मा से भिन्न और परिणामत: अप्रेयात्मक देखने में है।

यहाँ कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शन-संप्रदाय ज्ञान को विषयात्मक रूप में ही देखते हैं, इनके अतिरिक्त वेदांत के ही द्वैतवादी और प्रत्यभिज्ञावादी (काश्मीर शैव) संप्रदाय हैं जो शांकर वेदांत, सांख्य और जैन तथा बौद्ध मतों से बहुत भिन्न हैं। सांख्य में भी दो मत हैं, जिनमें एक ईश्वरवादी है और दूसरा निरीश्वरवादी। इन सबसे अलग सिद्ध और जोगिया संप्रदाय हैं जो विशेष रूप से दार्शनिक युक्ति-विमर्श को कोई महत्त्व नहीं देते, केवल अनुभूति और तादात्म्यभाव को ही महत्त्व देते हैं, किन्तु जिनकी दार्शनिक युक्ति-विमर्श में यह तटस्थता स्वयं दार्शनिक मान्यतापरक कही जा सकती है। इस प्रकार भारत में कोई एक दार्शनिक परंपरा अथवा विभिन्न परंपराओं में एक आधारभूत अनुरूपता जैसी कोई बात नहीं है। इसी प्रकार यूरोप में भी दार्शनिक मतवादों की विभिन्नता कम नहीं रही है और प्लोटाइनस में आध्यात्मिक रहस्यवाद की तथा मध्ययुगीन दर्शन में धार्मिक चिन्तन की ऐसी पराकाष्ठा रही है कि इस काल के दार्शनिक चिन्तन को आधुनिक यूरोप अपनी दार्शनिक परंपरा में ही सम्मिलित नहीं करता रहा है और इस युग को अंधकार युग मानता रहा है। किन्तु यहां कहा जा सकता है कि आधुनिक यूरोपीय दार्शनिक परंपरा प्लोटाइनस और उसके उत्तरवर्ती दार्शनिक चिन्तन की परंपरा को इसलिए अंधकार युग मानती है क्योंकि यह परंपरा ग्रीक और आधुनिक यूरोपीय दार्शनिक परंपरा के मूल बोध से असंबद्ध है। हेगल ने सुकरात को "अवधारणा को सत् से मुक्त कराने वाला"कहा हैऔर अवधारणा की इस मुक्ति को ही यूरोपीय दर्शन का वैशिष्ट्य कहा है। हेगल के अनुसार अवधारणा की सत् से यह मुक्ति पौर्वात्यों को उपलब्ध नहीं थी, परिणामत: पौर्वात्य दर्शन धर्म से कभी पृथक् नहीं हो पाया। यही कारण है कि पश्चिम में चिंतन के शुद्ध आकार को उसकी अंतर्वस्तु से स्वतंत्र करके देखा गया। इसके विपरीत भारतीय तार्किक चिन्तन सदैव वस्तुमूलक ही रहा, इसमें शुद्ध आकारिक तर्क का कभी विकास नहीं हुआ। इसी प्रकार, हुस्सर्ल के अुनसार ग्रीस ने दर्शन को केवल आत्म-बोध की अभीप्सा (लव ऑफ विज्डम) के रूप में ही नहीं देखा बल्कि प्रथम विज्ञान,

आधार विज्ञान, (फर्स्ट साइंस) के रूप में भी देखा। यही दृष्टि उसके अनुसार पाश्चात्य संस्कृति और दर्शन का वैशिष्ट्य है।[1] निश्चय ही भारत में दर्शन को कभी वस्तु-जगत् का शुद्ध तर्क-युक्ति-परक विश्लेषण नहीं माना गया और न मात्र तर्क-युक्ति को ज्ञान का पर्याय माना गया, बल्कि यहां दर्शन को आत्म-बोध की अभीप्सा के रूप में ही देखा गया। किन्तु बहुत से दर्शन-संप्रदायों ने युक्ति-तर्कात्मक विमर्श मेंभी कोई कमी नहीं रखी और प्रतिद्वन्द्वी दार्शनिकों से तार्किक चुनौती मिलने पर कभी साक्षात्कार या श्रुति-प्रमाण का आश्रय नहीं लिया। श्रुति-प्रमाण का आश्रय वास्तव में वहीं तक लिया जहां तक प्रतिपक्षी उसे स्वीकार करने को तैयार था।

प्रोफेसर जे. एन्.मोहन्ती ने ग्रीक और भारतीय दर्शन में इस प्रकार भेद किया है: "ग्रीक फिलोसोफिया प्रज्ञा की कामना है, ऐसी कामना जिसमें प्रज्ञा का अनन्त अन्वेषण चलता है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन पूर्वत: दृष्ट सत्य के व्यवस्थित परिशीलन को, उसकी व्याख्या और विवेचन को लक्षित करता है। यह सत्य का अन्वेषण नहीं करता बल्कि उसका विशदीकरण, उसकी बुद्धिसंगतता का प्रदर्शन, अवधारणात्मक निर्धारण और स्पष्टीकरण करता है। ग्रीक फिलोसोफिया में जिज्ञासाभिभूत व्यक्ति-चिन्तक की भूमिका निर्णायक रहती है, इसके विपरीत दर्शन में वैयक्तिक चिन्तक की भूमिका, वह चाहे कितना ही महत् क्यों नहीं हो, गौण रहती है। वह किसी संप्रदाय की स्थापना नहीं करता बल्कि उसकी व्याख्या-परंपरा को ही आगे ले जाता है। दर्शन सत्य का प्रत्यक्ष है, अथवा उसके प्रत्यक्ष की संभावना है जो कि किसी भी व्यक्ति-चिन्तक अथवा व्याख्याकार से पहले से देखा गया होता है।"[2]

किन्तु यह बात शायद इस प्रकार और पूर्णरूप से दोनों दर्शन-प्रणालियों के सम्बध में सही नहीं है, सर्वप्रथम "ग्रीक दर्शन प्रज्ञा का अन्वेषी है वह पूर्वसिद्ध सत्य को लक्षित नहीं करता" यह सही नहीं है। सत्य उसके लिए भी पूर्वत: और प्रज्ञा से स्वतंत्रत: ही सिद्ध है, अन्यथा प्रज्ञा और अप्रज्ञा में अन्तर ही कैसे होगा? वास्तव में प्लेटो जिस प्रकार प्रत्ययों को दिव्य-लोकवासी सत्ताएं देखता है और ऐन्द्रिय लोक को उनकी असम्यक् अनुकृति के रूप में देखता है उससे यह स्पष्ट है कि उसके लिए भी सत्य उसी प्रकार स्वतंत्र और ज्ञान उसी प्रकार वस्तुतंत्र है जिस प्रकार प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के लिए है। जहां तक सत्य के पूर्वत: साक्षात्कृत होने का प्रश्न है, यह भी मुख्यत: वेदांती दार्शनिकों के लिए ही सही है, अन्यों के लिए नहीं। निश्चय ही बौद्ध भी बुद्ध को ही द्रष्टा मानते हैं और स्वयं को उस दृष्टि का व्याख्याकार ही मानते हैं, किन्तु बौद्धों में साक्षात्कार की योग्यता सबमें स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक बुद्धवचनों को कभी प्रमाण रूप में उद्धृत नहीं करते थे न उनके भाष्य और व्याख्याएं ही लिखते थे। इसी प्रकार सांख्यकारिकाकार ने भी सत्य को अपने से पूर्वदृष्ट रूप में नहीं प्रतिपादित किया है न भर्तृहरि ने किसी पूर्व-दृष्ट सत्य की व्याख्या का दावा किया है। यही बात

प्रत्यभिज्ञ दार्शनिकों के लिए भी कही जा सकती है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक पूर्व-दृष्ट सत्य की व्याख्या मात्र को अपना कार्य मानते थे यह कहना सही नहीं है। ऐसा कहने पर यह विरोध भी होगा कि भारतीय दार्शनिक अपने कार्य को 'दर्शन' नहीं मान कर 'दर्शन' की बौद्धिक व्याख्या मानते थे। ग्रीस दर्शन से भारतीय दर्शन का आधारभूत भेद संभवतः यह कहा जा सकता है कि अधिकांश भारतीय दर्शन सत्य को बुद्धिगम्य नहीं मान कर अतिक्रामी साक्षात्कारगम्य मानते थे। दूसरा भेद यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन परतत्त्वों-विषयक विमर्श को ही दर्शन का कार्य मानते थे, मनुष्य और जगत्-विषयक स्थितियों को नहीं। मनुष्य का सामाजिक पक्ष धर्मशास्त्र का विषय माना जाता था और प्राकृतिक जगत्-विषयक विभिन्न पक्ष विभिन्न विज्ञानों के विषय माने जाते थे। किन्तु प्रकृति के मूल स्वरूप के विषय में सांख्य की त्रैगुण्य की अवधारणा प्रायः स्वीकृत थी, सांख्य की विशिष्टता उसे सत् स्वीकार करने और पुरुष से उसके सम्बध के निरूपण में थी।

इनमें प्रथम भेद अधिक मौलिक कहा जा सकता है किन्तु तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनके अपवाद दोनों संस्कृतियों में नहीं मिलते हैं। उदाहरणतः प्लोटाइनस का 'एक' स्पिनोजा का चिदचिद्-विशिष्ट परतत्त्व, कांट का संकल्पात्मक आत्मतत्त्व और अगम्य वस्तु-तत्त्व, और नीत्शे तथा हाईडेगर के सत्तत्व बुद्धि से अतीत ही हैं। दूसरी ओर भारतीय दर्शनों में न्याय, प्रत्यभिज्ञा या काश्मीर शैव संप्रदायों तथा शब्द-ब्रह्मवाद में तत्त्व को उस प्रकार अबुद्धिगम्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु तब भी दो महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं जो भारतीय और यूरोपीय दर्शनों में कहे जा सकते हैं: प्रथम यह कि यूरोपीय दर्शन के समान भारतीय दर्शन में वस्तु से पृथक् शुद्ध आकार को और इस प्रकार प्रागनुभविक को स्वीकार नहीं किया गया, अथवा कहें, नहीं देखा गया। दूसरी ओर पश्चिम में ऐसे शुद्ध अद्वय तत्त्व को नहीं देखा गया जो सब भेदों को या तो उपसंहृत करता है अथवा जिसके होते सब भेद मिथ्या हैं। अथवा कहें, पाश्चात्य दर्शन ने प्रागनुभविक और आनुभविक के बीच एक मौलिक भेद किया जो भारतीय दर्शन में नहीं देखा गया और दूसरी ओर भारतीय दर्शन ने परमार्थ और व्यवहार में मौलिक अंतर किया जो पश्चिम में नहीं देखा गया, किन्तु तब भी भारत में पर-तत्त्व की अबाधितता की अवधारणा शुद्ध आकारिक नहीं होने पर भी आनुभविक की आगन्तुकता को देखती है और इसी प्रकार विकल्प और वस्तु का भेद प्रागनुभविक और आनुभविक से नितांत भिन्न नहीं है। दूसरी ओर कांट में ट्रासेंडेंट तथा ट्रासेंडेंटल का भेद परमार्थ और व्यवहार के भेद से नितांत भिन्न नहीं है, यद्यपि यह सही है कि उसमें परमार्थ- विषयक अवधारणा की वह सूक्ष्मता और आत्यंतिकता नहीं है जो मोक्ष और निर्वाण की कल्पना में, अथवा ब्रह्म, शुद्ध विज्ञान और शून्य की कल्पना में उपलब्ध होती है। ये अंतर इन दो परंपराओं में एक आधारभूत अंतर की ओर संकेत करते

हैं और वह अंतर यह है कि प्रागनुभविक और आनुभविक का भेद जहां अवधारणा और अनुभव के बीच है और उसका लक्ष्य तर्क है, परमार्थ और व्यवहार का सत्य विषयक है और उसका लक्ष्य जीवन और उसका साध्य है। वास्तव में विकल्प और निर्विकल्पक के भेद का संम्बध भी इसी व्यवहार-परमार्थ के भेद से ही है, मात्र तर्क से नहीं । इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय दर्शन में शुद्ध तार्किक प्रश्नों पर विचार नहीं हुआ है, ऐसा विचार भी बहुत हुआ है। नागार्जुन ने अवधारणाओं के शुद्ध तार्किक विश्लेषण द्वारा ही उनकी शून्यता प्रदर्शित की है और इसी प्रकार वसुबन्धु ने शुद्ध तार्किक युक्तियों से ही विज्ञानवाद की स्थापना की है। इसी प्रकार श्री हर्ष ने वेदांत-सिद्धान्त को शुद्ध तार्किक आधार देने के लिए *खंडनखंडखाद्य* की रचना की, व्यासतीर्थ ने *न्यायामृत* तथा मधुसूदन सरस्वती ने *अद्वैतसिद्धि* की रचना की। बौद्धों का भाषादर्शन, विशेषत: अपोहवाद, इसी प्रकार एक तार्किक-अन्तर्दृष्टिमूलक सिद्धान्त है। इस प्रकार भारतीय दर्शन को सामान्य रूप से धार्मिक दर्शन नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार मध्ययुगीन यूरोपीय दर्शन को कहा जा सकता है। वास्तव में भारत का धार्मिक चिन्तन भी अन्य संस्कृतियों के धार्मिक चिन्तनों से इस दृष्टि से मौलिक रूप से भिन्न है कि इसके कुछ संप्रदायों में ईश्वर को भी स्वीकार नहीं किया है और जिनमें किया गया है उनमें से कुछ की ईश्वर की कल्पना उस प्रकार व्यक्तिपरक नहीं है जिस प्रकार अन्य धर्मों में है। बौद्ध और जैन तो ईश्वर को अस्वीकार ही करते हैं,उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य और निर्गुण भक्ति-संप्रदाय भी वैयक्तिक ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार भारतीय दर्शन वास्तव में उतना धर्मपरक नहीं है जितना भारतीय धर्म दर्शनपरक है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन-परंपरा को किसी एक सूत्र में परिभाषित नहीं किया जा सकता, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह मुख्यत: आध्यात्मिक-तत्त्वमीमांसात्मक है। इस परंपरा का एक बहुत निर्बल पक्ष भी है कि इसमें मनुष्य के सामाजिक-राजनीतिक-ऐतिहासिक पक्षों को दार्शनिक चिन्तन का विषय नहीं बनाया गया, नैतिक पक्ष की भी सामान्यत: उपेक्षा की गई जबकि *गीता* को नैतिक दर्शन का उत्कृष्टतम काव्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार *महाभारत* में भी नैतिकता पर दार्शनिक चिन्तन का अत्यन्त उत्कृष्ट स्तर उपलब्ध होता है। किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि जबकि *गीता* पर अनेक दार्शनिकों ने टीकाएं और भाष्य लिखे हैं, किसी ने नैतिकता विषयक प्रश्नों पर विचार नहीं किया है। इसी प्रकार काव्य और कलाओं पर भी अभिनवगुप्त को छोड़ कर, किसी दार्शनिक ने विचार नहीं किया,यद्यपि यह सही है कि काव्य पर काव्यशास्त्रियों ने जो विचार किया उसमें दार्शनिक चिंतन के भी तत्त्व मिलते हैं।

दर्शन की यह परंपरा कुछ शताब्दियों पूर्व प्राय: जड़ा गई थी। भारत में अग्रेंजी

शासन की स्थापना के साथ युरोपीय संस्कृती के संपर्क से एक चुनौती के रूप में इस देश में एक वैचारिक जागरण हुआ और बहुत से विचारकों ने युग की चुनौतियों और मनः स्थितियों के अनुसार अपनी परंपरा के साथ पुनः सजीव संपर्क स्थापित किया। राजा राममोहनराय, स्वामी विवेकानंद,स्वामी दयानंद, श्री अरविन्द, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी आदि कितने ही नाम इस प्रसंग में लिये जा सकते हैं। किन्तु कुछ ऐसे नाम भी हैं जो इस बात को दर्शाते हैं कि भावना और धार्मिक जीवन के स्तर पर इस सांस्कृतिक परंपरा की अंतर्धारा अजस्र रूप से प्रवाहित हो रही थी जो इसकी दार्शनिक परंपरा के लिए उपजीव्य बनी। इसके उदाहरणों के रूप में श्री रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि तथा अन्य अनेक संतों,तपस्वियों और धर्म-प्रवर्तकों के नाम लिये जा सकते हैं। द्रष्टव्य है कि स्वामी विवेकानंद के जनक परमहंस थे और स्वामी दयांनद के स्वामी व्रजानन्द। इसी प्रकार श्री अरविन्द भी उपनिषद् और योग की परंपरा से अन्तःसंम्बध्द थे, उनका आधार केवल वैचारिक नहीं था। इस प्रकार जबकि देश में वैचारिक उद्वेलन बाहरी चुनौती के फलस्वरूप हुआ इसका उपजीव्य एक मूल और जीवित परंपरा ही थी। यह केवल एक संयोग की बात ही नहीं है कि स्वामी दयांनद, तिलक, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी चारों ने *श्रीमद्‌भगवद्‌गीता* की व्याख्याएं लिखी। यह इस बात का ही द्योतक है कि इस संस्कृति की धार्मिक-आध्यात्मिक परंपरा जीवित थी और वह नये युग और नयी चुनौतियों के अनुसार नयी दृष्टि का आधार बन सकती थी। द्रष्टव्य है कि परंपरा का यह उज्जीवन उससे सर्वथा भिन्न प्रकार का है जैसा विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के लेखन में पहले जर्मन प्रत्ययवाद के प्रकाश में वेदांत की व्याख्या के रूप में और इधर पाश्चात्य आकारिक तर्क के प्रकाश में नव्य-न्याय की व्याख्या के रूप में दृष्टिगत होता है। यह लेखन जीवित परंपरा की प्रेरणा का फल नहीं होकर उसके अतीत के अध्ययन के प्रयत्न का परिणाम कहा जा सकता है, किन्तु वह भी दूसरी परंपरा के प्रकाश में आधुनिक भारतीय दर्शन के इतिहास-लेखकों में किसी ने भी इस आधारभूत भेद को प्रायः नहीं देखा।

१९५० के बाद देश की दार्शनिक परिस्थिति में एक और आधारभूत मोड़ आया। स्वतंत्रता के बाद देश से दर्शन के बहुत से अध्यापक और विद्यार्थी इंग्लंड और अमरीका के विश्वविद्यालयों में अध्ययन के लिए भेजे गए। ये लोग भारतीय दर्शन की परंपरा से इतिहास के रूप में भी परिचित नहीं थे। इसलिए इन्होंने अपनी पिछली पीढ़ी के अनुरूप पाश्चात्य दर्शन के प्रकाश में भारतीय दर्शन की व्याख्या भी नहीं की, इन्होंने सीधे तत्कालीन पाश्चात्य दार्शनिकों के ही विचारों को दुहराना आरंभ किया और दावा किया कि आज का यही एक प्रासंगिक दर्शन है और इसका भारत के नागरिकों द्वारा लेखन होने पर यही भारतीय दर्शन हो जाता है। अपने कथन के पक्ष में इनकी यह युक्ति है कि दर्शन के प्रश्न सार्वभौम होते हैं, देश-काल से सीमित नहीं होते। किन्तु

ये लोग यह नहीं देखते कि उनकी यह बात मान लेने पर उनके समकालीन आंग्ल-अमरीकी दर्शन-प्रणाली के अनुसरण और उसके प्रश्नों को ही दर्शन के एकमात्र प्रश्न मानने का कोई औचित्य नहीं रहता, उन्हें सभी देशों और कालों की दर्शन-प्रणालियों का समान रूप से अध्ययन करना चाहिए और तब किसी युक्ति के आधार पर ही इनके बीच चयन करना चाहिए । किन्तु वे ऐसा करते हैं यह देखने में नहीं आता। देखने में केवल यह आता है कि दर्शन के जो अध्यापक अध्ययन के लिए आंग्ल-अमरीकी विश्वविद्यालयों में गए वे उन देशों की दर्शन-प्रणाली का अनुसरण करते हैं और तब भी अपने मौलिक चिन्तक होने और सार्वभौम सत्यों के द्रष्टा होने का दावा करते हैं। यदि ये लोग मौलिक चिन्तक होने का दावा छोड़ कर अपने को उसी प्रकार पश्चिमी विद्याविद् की भूमिका में देखते, जिस प्रकार मैक्स मूलर, डाउसन या श्चर्बात्सकी को भारत-विद्याविद् की भूमिका में देखते थे तब ये शायद अधिक उपयोगी कार्य कर पाते और भारतीय दार्शनिक चिन्तन की समकालीन परंपरा को इस प्रकार व्यामिश्रित और पथभ्रष्ट नहीं करते।

इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि हम आज अपने प्राचीन दार्शनिक वाङ्.मय का ही अध्ययन और चिन्तन करें और अपने को वहीं तक सीमित रखें । मौलिक विचारक के लिए परंपरा का अर्थ सत्यान्वेषण में पूर्वजों द्वारा तय कर लिये गए मार्ग पर उनसे आगे बढ़ना होता है। किन्तु यह कार्य उसके लिए कोई भी परंपरा नहीं कर सकती,केवल वही परंपरा कर सकती है जो उसकी जातीय स्मृति और मानसिक परिवेश बनाती है। यदि कोई व्यक्ति एक संस्कृति में उत्पन्न होकर दूसरी में पलता, शिक्षित होता और रहता है तो यह दूसरी संस्कृति ही उसकी परंपरा और परिवेश होती है। वही उसका सांस्कृतिक व्यक्तित्व बनाती और उसके चिन्तन को उर्वर बनाती है। किन्तु जैसा कि हमने कहा, अपनी सांस्कृतिक परंपरा से सम्बन्धित होने का अर्थ उससे अपनी दृष्टि को बांधना या सीमित करना नहीं है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के दो पक्ष कहे जा सकते हैं, एक उसका निजी-विशिष्ट और दूसरा जातीय या सांस्कृतिक। अब,प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह सहज है कि वह अपने व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों में प्रतिष्ठित हो। किन्तु अधिकांश व्यक्ति ऐसे नहीं होते वे अपनी प्रामाणिकता, अपने अनुभव और अपनी आत्मा में नहीं खोजते, बल्कि अन्यों के समर्थन में अथवा अन्यों के अनुकरण में खोजते हैं। ऐसे व्यक्ति अप्रामाणिक कहे जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रामाणिक व्यक्ति अन्यों से सीखता या ग्रहण नहीं करता है। वास्तव में सही अर्थों में वही अन्यों से सीख और ग्रहण कर सकता है। क्योंकि मनुष्य के संदर्भ में सीखने और ग्रहण करने का अर्थ स्वयं विचार कर सकने और स्वयं देख तथा परख सकने की योग्यता अर्जित करना होता है।

इस पर कहा जा सकता है कि इसका अर्थ होगा कि किसी भारतीय को

पश्चिम-विद्याविद् और किसी पाश्चात्य को भारत-विद्याविद् भी नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। विद्या-विद् होना किसी परंपरा को विषय रूप में देखना है। वास्तव में जब हम अपनी परंपरा के भी किसी पक्ष के विद्वान् होते हैं तब अपनी पंरपरा भी हमारे लिए विषय-रूप ही होती है। अंतर केवल यह होता है कि वह हमारी विषयिता भी होती है। किन्तु एक म्रष्टा चिन्तक अथवा म्रष्टा कलाकार के लिए परंपरा की विषयिता ही अपेक्षित होती है और वह विषयिता केवल वही परंपरा दे सकती है जो चिंतक का जातीय अतीत और परिवेश होती है। यह बात ऐसे दार्शनिक चिंतक के लिए भी सही है जिसकी दर्शनिक परंपरा पर्याप्त समृद्ध नहीं है।

किन्तु भारतीय दार्शनिक परंपरा न केवल पर्याप्त समृद्ध है बल्कि दार्शनिक दृष्टि से तीन समृद्धतम परंपराओं में से एक भी कही जा सकती है। भारतीय परंपरा के अतिरिक्त केवल ग्रीक और पाशचात्य परंपराएं ही तुलनीय रूप से समृद्ध कही जा सकती हैं। ऐसे में यदि कोई दर्शन का लेखक इस परंपरा की उपेक्षा कर पाश्चात्य परंपरा में प्रतिष्ठित होता है तो उसे भारतीय दार्शनिक नहीं कह सकते।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि यदि दर्शन की भारतीय परंपरा ही भ्रांत अथवा अयुक्त परंपरा प्रतीत होती है, अथवा उसे वही विदेशी, अर्थात् अपने बोध और स्वभाव के विपरीत प्रतीत होती है तो क्या किया जाय? तब इसमें क्या औचित्य है कि वह इस परंपरा का अपने को अंग बनाए? इसका एक उत्तर होगा कि यह कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु तब वह 'भारतीय दार्शनिक' नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसका एक दूसरा और अधिक गंभीर पक्ष यह है कि ऐसा व्यक्ति उचित रूप से अपनी परंपरा का भीतरी आलोचक होगा। परंपरा का भीतरी आलोचक होना भी परंपरा का अंग होना ही है। ऐसे भीतरी आलोचक सभी परंपराओं में समय-समय पर होते हैं और वास्तव में वे परंपरा के अनुयायियों की तुलना में उसे अधिक समृद्ध बनाते हैं, क्योंकि ये आलोचक परंपरा के आत्मचेतन होने के द्योतक होते हैं। भारत में ऐसे अनेक आलोचक हुए हैं और इस परंपरा ने उन्हें उतना ही सम्मान दिया है जितना इसके अनुयायियों को दिया है। महात्मा बुद्ध और महावीर तो इसके प्रमुख प्रमाण हैं ही, अन्य भी अनेक प्रमाण हैं: उदाहरणत:, चार्वाक,अजित केश कंबली, मक्खलि घोषाल, मत्स्येन्द्र नाथ और गोरखनाथ आदि। निश्चय ही बुद्ध और मत्स्येंद्रनाथ आदि दार्शनिक नहीं थे किन्तु ये उस सत्य के द्रष्टा समझे जाते थे जिस सत्य और दृष्टि को बौद्धिक पदावली में व्याकृत करने को भारतीय परंपरा अपना कार्य मानती थी। जो भी हो, यहां प्रासंगिक बात यह है कि परंपरा के भीतरी आलोचक परंपरा के उतने ही अंग होते हैं, जितने मूल परंपरा के प्रस्थापक होते हैं। इन तत्त्वज्ञों के समान ही इनके दार्शनिक अनुयायी थे जो परंपरा के आलोचक थे और परंपरा के मूल प्रस्थापकों के साथ संयुक्त रूप से परंपरा के निर्माता बने।

इस प्रकार किसी संस्कृति में भीतरी आलोचना उसके स्वास्थ्य का लक्षण और उसकी कारक ही होती है और उसका ही अंग समझी जाती है- ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ऊहापोह किसी निष्कर्ष का अंग होता है। किन्तु किसी दूर देश की संस्कृति में चल रहे दार्शनिक विचार-विमर्श से अपने को सम्बद्ध करने, उसके विचारकों को अपना आदर्श मानने और वहां चल रहे विचार-विमर्श में अपने को साक्षीदार समझने के कारण ये लेखक अपनी परंपरा के तो अंग नहीं ही रहते, ये उस दूसरी परंपरा के अंग भी नहीं बन पाते और इस दूसरी परंपरा के विचारक इन्हें प्राय: ही अपना साझीदार और अपनी परंपरा में योगदान करने वाला नहीं मानते। और न वास्तव में वे ऐसा होने योग्यं होते ही हैं, क्योंकि परंपरा की आत्मा में हम लोरी के साथ ही प्रतिष्ठित होते हैं। अथवा कम-से-कम सुदीर्घ काल तक उस परंपरा में रहना, उसके साहित्य, लोक-जीवन और हाव-भाव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध में प्रतिष्ठित होना अपेक्षित होता है। यही कारण है कि आंग्ल-अमरीकी दर्शन-प्रणाली में लिखने वाले अनेक भारतीय दर्शनाध्यापकों में से किसी एक को भी वहां के किसी लेखक ने कभी एक बार भी अपने लेखों में उध्दृत नहीं किया, जबकि यहां के ये लेखक उन पर ऐसे लिखते हैं जैसे वे मंत्र-द्रष्टा हों। जर्मनी में अवश्य डॉ. जे. एन्. मोहन्ती को थोड़ी स्वीकृति मिली है, किन्तु वे इन लेखकों से भिन्न भारतीय परंपरा से भी उतनी ही निकटता से परिचित हैं और परिणामत: वे वहां के फिनॉमिनालॉजी दर्शन-संप्रदाय में एक भारतीय विचारक के रूप में योगदान कर सकते हैं। तब भी द्रष्टव्य है कि उनको भी वहां कोई द्वितीय श्रेणी के विचारकों में भी रखता हो ऐसा कुछ नहीं है, न वास्तव में वे हैं ही, वे केवल हुस्सर्ल के असंख्यक व्याख्याकारों में एक गिने जाते हैं, जबकि आंग्ल-अमरीकी परंपरा में लिखने वालों की गणना उतनी भी नहीं होती।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आधुनिक भारतीय दार्शनिकों को पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा के बजाय प्राचीन भारतीय परंपरा की व्याख्या करनी चाहिए। स्वतंत्रता के पहले हमारे लेखक मुख्यत: यही करते थे - सिवाय अग्रेंजी साम्राज्य के आरंभिक वर्षों के जब भारत में अभी विश्चविद्यालयों की स्थापना नहीं हुई थी और दर्शन का अध्यापक और दार्शनिक और दार्शनिक चिन्तक होने को अभी पर्यायवाची नहीं माना जाने लगा था। विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद दर्शन के अध्यापक ही दार्शनिक माने जाने लगे। दर्शन के अध्यापक का कार्य दूसरों के विचारों को प्रस्तुत करना है और यही ये लोग करते थे। तब भारतीय विश्वविद्यालयों में जर्मन प्रत्ययवाद का अध्यापन होता था इसलिए कांट, हेगल और ब्रैड्ले ही हमारे आदर्श दार्शनिक थे और उन दिनों देश के सम्मान का विशेष ध्यान होने से प्राचीन भारतीय दर्शन को भी इनसे तुलनीय दिखाने का प्रयत्न होता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दर्शन की भी व्याख्या होती थी। के. सी. भट्टाचार्य, राधाकृष्णन्, पी.टी. राजू आदि का लेखन इसी प्रकार

का था , यद्यपि इनमें से कुछ में मौलिक चिंतन और परंपरा को आगे बढ़ाने की योग्यता भी दिखाई देती है। इस प्रकार इन दार्शनिकों का लेखन मात्र व्याख्यात्मक नहीं होकर कुछ नवीनता लिए हुए भी था। किन्तु तब भी इसमें नयी युग-परिस्थितियों की चुनौती के सामने नये विचार का वैसा सर्जन नहीं था, जो इनके पहले के विशवविद्यालयों से बाहर के चिंतकों- स्वामी दयानंद और श्री अरविंद आदि[3] में दृष्टिगत होता है। स्वामी दयानंद और श्री अरविंद आदि विचारक अतीतोन्मुखी नहीं थे, बल्कि अतीत से सजीव रूप में जुड़े हुए भविष्योन्मुखी विचारक थे। अतीत परंपरा से सजीव रूप में जुड़े होने का अर्थ है परंपरा का लेखक की विषयिता होना, विचारक और अनुभविता के रूप में उसके व्यक्तित्व का अंग होना । वह परंपरा को अतीत घटना और विषय के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसके भीतर अवस्थित होता और उसमें सांस लेता है। वह परंपरा भारत में अंग्रेजी सरकार द्वारा विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद अवरुद्ध हो गई और अतीत हो गई। उसका पुनरुज्जीवन केवल तभी हो सकता है, यदि दार्शनिक चिंतन को दर्शनाध्यापन से और पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त कराया जाय और तब एक भारतीय के रूप में दार्शनिक प्रश्नों को देखा-परखा जाय। उदाहरणतः, यदि कोई भारतीय दार्शनिक नैतिकता पर लिखता है तो उसकी दृष्टि के निर्माण में उन तत्त्वों का समावेश नहीं होना अस्वाभाविक होगा जो *गीता*, बुद्ध, महावीर, कालीदास, भक्त कवियों की वाणी और *रामचरित मानस* में अनुस्यूत है। किन्तु साथ ही उसकी दृष्टि वर्तमान युग-परिस्थिति के प्रति भी खुली होना आवश्यक होगा। तभी वह एक ऐसा विचार दे सकता है जो प्रामाणिक और सांप्रतिक, सार्वकालिक और सार्वदैशिक हो। इसी प्रकार ऐसे प्रश्नों पर विचार करते हुए भी जिन पर हमारी प्राचीन दार्शनिक परंपरा में विचार नहीं किया गया है, उदाहरणतः समाज का स्वरूप, सामाजिक न्याय आदि , एक भारतीय की दृष्टि के निर्माण में वे तत्त्व अन्तर्भूत होना स्वाभाविक होगा जो इन विषयों पर भारतीय संस्कृति में व्याप्त हैं और इसके महाकाव्यों, लोक कथाओं, अर्थशास्त्रों और स्मृतियों में स्फुटित हुए हैं। तब इस दृष्टि से उसे उस परिस्थिति को देखना होगा जो आज के मनुष्य के सम्मुख वैयक्तिक, सामुदायिक, राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और दावों के रूप में प्रस्तुत है।

यहाँ इसके उदाहरण के रूप में श्री अरविंद की *मानव-चक्र* तथा *मानव-एकता का आदर्श* पुस्तकों को देखा जा सकता है जिनमें ऐसे प्रश्नों पर उत्कृष्टतम स्तर का चिंतन उपलब्ध होता है जिन पर हमारी परंपरा में दार्शनिकों ने विचार नहीं किया, किन्तु जो विचार केवल उसी व्यक्ति का हो सकता है जिसकी दृष्टि भारतीय दार्शनिक परंपरा में अभिसंस्कृत हो और साथ ही जिसके सम्मुख समकालीन मानव-परिस्थिति, अपनी वैचारिक और भावात्मक समग्रता में प्रस्तुत हो। यही बात महात्मा गांधी के लिए भी कही जा सकती है, केवल इस अन्तर के साथ कि उनका चिन्तन दार्शनिक

नहीं था। किन्तु उन्होंने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर नितान्त मौलिक विचार दिये और उनकी मौलिकता केवल इस बात में थी कि वे वैयक्तिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से पूर्णत: प्रामाणिक थे, अपने सांस्कृतिक और निजी अनुभव से पूत दृष्टि से देखे गए सत्य के साथ। सही कहा जाय तो उनकी दृष्टि भारतीय संस्कृति की शाश्वतिक दृष्टि थी और इसी कारण वे काल- विशेष के प्रश्नों के मूल में कालातीत सत्य के साक्षात्कारी थे, उन्हें व्यवहार का वास्तव परमार्थ द्रष्टा भी कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। और यह इसी कारण संभव हो सका, क्योंकि सांस्कृतिक और वैयक्तिक रूप से पूर्णत: प्रामाणिक थे।

इस प्रकार भारतीय दार्शनिक उसी को कहा जा सकता है जो दार्शनिक हो और जिसकी दृष्टि भारत के तत्त्व में प्रतिष्ठित हो। दूसरे शब्दों में, कोई भारत का नागरिक होने मात्र से भारतीय दार्शनिक नहीं हो जाता, और वह भी भारतीय दार्शनिक नहीं कहा जा सकता जो प्राचीन भारतीय दर्शन का व्याख्याकार मात्र है, क्योंकि वह भारतीय होने पर भी दार्शनिक नहीं होगा। किन्तु पाश्चात्य दर्शन के व्याख्याकार भारतीय नागरिक दार्शनिक लेखकों के रूप में अभारतीय भी हैं और अदार्शनिक भी। किन्तु ये लोग दार्शनिक होने का दावा अवश्य करते हैं, यद्यपि वास्तव में वे हैं मात्र व्याख्याकार ही। उन्हें दार्शनिक होने का भ्रम इस कारण है क्योंकि वे किसी दार्शनिक पर लिखने के बजाय दार्शनिक प्रश्नों पर लिखते हैं। किन्तु यदि थोड़ा गहराई से देखा जाय तो इन प्रश्नों पर उनका वह चिन्तन अपना नहीं होता,दूसरे शब्दों में वह प्रामाणिक नहीं होता,वह सम्बद्ध प्रश्न पर विभिन्न पाश्चात्य लेखकों के लेखों के अध्ययन का सारांशरूपेण प्रस्तुतीकरण होता है। इस 'प्रस्तुतीकरण' पद के साथ हम 'केवल' विशेषण नहीं लगा रहे हैं, क्योंकि इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण में लेखक की ओर से कुछ जोड़-घटाव अनिवार्यत: हो जाता है । इस जोड़-घटाव से तो वास्तव में अनुवाद भी नहीं बच सकता, फिर सारांश प्रस्तुत करने वाली की तो बात ही क्या है। किन्तु इस 'मौलिकता' से ये लोग दार्शनिक नहीं कहे जा सकते, टीकाकार ही कहे जा सकते हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि हमने भारतीय दार्शनिकों के लिए भारतीयता के तत्त्व की अनुसरणीयता की बात ही कही है, उसकी अन्य संस्कृतियों से उत्कृष्टता निकृष्टता की बात नहीं कर केवल इसके तत्त्व की कुछ विशेषताओं का उल्लेख ही किया है। अन्यथा पाश्चात्य दार्शनिकों तथा अन्य पाश्चात्य चिन्तकों में उस संस्कृति की विज्ञानात्मकता-युक्त्यात्मकता का गर्व और भारतीय चिन्तकों में भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता का गर्व मिलता है। इसी प्रकार चीनियों में अपनी संस्कृति की समाजात्मकता-लोक-नीत्यात्मकता का गर्व है। वास्तव में अपने-अपने वैशिष्ट्य में सभी संस्कृतियां गर्व-योग्य हैं, किन्तु इस वैशिष्ट्य ही के कारण उन दृष्टियों से वंचित हैं जो अन्य संस्कृतियों में विकसित हुईं। किन्तु जहां तक दर्शन का सम्बन्ध है, इसमें भारतीय

और यूरोपीय दोनों ही प्रयोग समान रूप से उत्कृष्ट हैं। किन्तु इसमें भारतीय दृष्टि की यह उत्कृष्टता कही जा सकती है कि यह अपनी अतिक्रांतता में यूरोपीय दृष्टि का साधन के रूप में आकलन कर सकती है, और वास्तव में इसमें यह इस रूप में आकलित है भी। अंतर केवल यह हैं कि इसका लक्ष्य अतिक्रांतता है, वह नहीं जो यूरोपीय दर्शन में लक्ष्य है। उदाहरणत: नागार्जुन केवल युक्ति का उपयोग करते हैं बल्कि अपना कार्य उसी तक सीमित रखते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य युक्ति नहीं है, न इसे वे आधार 'विज्ञान' मानते हैं। इसी प्रकार सांख्य और वेदान्त दोनों बुद्धि को ही 'ज्ञान' का परमोच्च शिखर मानते हैं, यह ज्ञान उनके लिए 'विज्ञान' का समकक्ष भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसी में विवेक संभव है, किन्तु यह पारमिता प्रज्ञा नहीं है, जो अंतिम लक्ष्य है और जिसके पर्यवसान में ही इसकी सफलता है। लक्ष्य बुद्ध्यतिक्रामी कैवल्य या अद्वय ब्रह्म अथवा शून्यता होने पर फिर साधन भी युक्त्यात्मक बुद्धि नहीं रह जाती बल्कि योगात्मक बुद्धि-योग अथवा पारतिमा प्रज्ञा साधन हो जाती है।

तब भी आज के भारतीय दार्शनिक के लिए युरोपीय विकल्प का मार्ग भी खुला है, उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध और मक्खलि घोषाल ने दूसरे मार्गों का अवलंबन किया। किन्तु इस मार्गान्तर का अवलंबन वह भारतीय परंपरा के परिसर के बीच करके ही भारतीय रह सकता है और दर्शन में कोई योगदान कर सकता है।

पी/५१, मधुबन पश्चिम
टोंक रोड
जयपुर - ३०२०१५
(राजस्थान)

भगवती राव

टिप्पणियाँ

१. *दि क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइंस एंड ट्रासेंडेंटल फिनॉमिनालोजी*, अंग्रेजी अनुवाद-डेविड कार, नार्थ वेस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, १९७० पृ0 १५.

२. "इंडियन फिलोसोफी बिट्वीन ट्रेडीशन एंड मॉडर्निटी" एस्. एस्. रामाराव पप्पू तथा आर्. पूलिगंदला द्वारा संपादित *इंडियन फिलोसोफी: पास्ट एंड फ्यूचर*, मोतीलाल बनारसीदास में संकलित, पृ0 सं0 २३४.

३. यहाँ स्वामी दयानन्द और श्री अरविन्द का साथ उल्लख करने से हमारा अभिप्राय स्वामी दयानन्द को श्री अरविन्द के स्तर का दार्शनिक चिन्तक कहना नहीं है। स्वामीजी दार्शनिक थे ही नहीं; वे मुख्यत: समाजसुधारक थे। और उन्होंने अपनी विचार-व्यवस्था में न्यायदर्शन को लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया था। इसके विपरीत श्री अरविन्द उच्चतम कोटि के मौलिक दार्शनिक थे।

ए. जे. एयर के सत्य के प्रत्यय की व्याख्या

सत्य का प्रत्यय ज्ञान-मीमांसा में एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। यह प्रत्यय महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कुछ दार्शनिकों ने इसे महत्त्वहीन समझा है। उनका कहना है कि सत्य और असत्य पदों का प्रयोग निरर्थक है क्योंकि किसी अभिकथन की स्वीकृति या अस्वीकृति में इसकी कोई आवश्यक भूमिका नहीं है। प्रो. एफ्. पी. रामसे उन दार्शनिकों में से हैं जिन्होंने सत्य के प्रत्यय को अनावश्यक समझा है। एयर की भी यही मान्यता है कि सत्य के बारे में उलझने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वाक्यों या अभिकथनों में इसके प्रयोग की इतनी आवश्यकता नहीं है जैसा कि कुछ दार्शनिकों ने बताया है। वह सत्य का अर्थ केवल स्वीकृति के अर्थ में लेते हैं अथवा पुष्टीकरण के अर्थ में लेते हैं। किसी प्रतिज्ञप्ति को सत्य कहना उसकी पुष्टि करना है और असत्य कहना उसके विपरीत बात की पुष्टि करना है।

एयर कहते हैं कि जिन दार्शनिकों ने सत्य के प्रत्यय को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा है और उसका विवेचन किया है, उनके सामने यह प्रश्न नहीं था कि सत्य क्या है? वे सत्य की परिभाषा ढूंढने में नहीं लगे हुए थे बल्कि समस्या वास्तव में यह है कि किसी प्रतिज्ञप्ति की प्रामाणिकता की कसौटी क्या है?[1] अगर यह प्रश्न समझा जाए कि हम सत्य से क्या समझते हैं तो इससे कोई वास्तविक समस्या उपस्थित नहीं होती है। लेकिन यदि यह प्रश्न किया जाए कि वह क्या है जो अभिकथन को सत्य बनाता है तो इस प्रश्न के संदिग्ध होने के कारण इसका भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया जा सकता है। कुछ दार्शनिक इसका तात्पर्य कारणों की जांच करने से ले सकते हैं। कुछ दार्शनिक ऐसे हो सकते हैं जो किसी प्रश्न को अभिकथन और किसी बाह्य तथ्य के सम्बन्ध के बारे में जांच करने के बारे में समझ सकते हैं।

इस प्रकार यह प्रश्न है कि अभिकथन को क्या सत्य बनाता है, संदिग्ध है।

एयर के अनुसार उपरोक्त तीनों अर्थ उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि "सत्य" के दार्शनिक विवेचन में इनका कोई महत्त्व नहीं है। वह सत्य की परिभाषा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण न मान कर विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता की कसौटी के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण समझते हैं। इस सम्बन्ध में वह विश्लेष्णात्मक पद्धति पर अधिक जोर देते हैं। उनके अनुसार "सत्य क्या है?" नामक प्रश्न का तात्पर्य यही है कि "प सत्य है" नामक वाक्य का क्या विश्लेषण है? यह स्पष्ट है कि इस प्रश्न से कोई वास्तविक समस्या उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि एयर के अनुसार यह कहना कि "प" सत्य है का आशय यही है कि "प" की पुष्टि की जाती है। जो दार्शनिक किसी वस्तु की उसे सत्य समझ कर खोज प्रारंभ करते हैं उनका प्रयत्न ही व्यर्थ हो जाता है।सत्य की समस्या केवल यही है कि प्रतिज्ञप्ति को सत्य या असत्य कौन बनाता है? दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह "प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता की बात करने का एक तरीका है।"[2]

परंपरागत सत्य की अवधारणा को " वास्तविक गुण " अथवा " वास्तविक सम्बन्ध " के रूप में समझा गया है। दार्शनिकों का कहना है कि "सत्य" अभिकथन में कहे गये विषय के बारे में कुछ गुणों को बताना है या यह संबंध अभिकथन के किसी बाह्य तथ्य के साथ समझा जाता है। लेकिन एयर के अनुसार यह बात गलत है। वह कहते हैं कि जिन वाक्यों में 'सत्य' शब्द किसी गुण या सम्बन्ध के लिए प्रयुक्त किया जाता है वह वास्तव में उनके लिये प्रयुक्त नहीं होता है। यदि उस वाक्य का विश्लेषण किया जाए तो उससे विदित होगा कि सत्य की यह अवधारणा गलत है। सार्थक प्रश्न यह है कि किसी प्रतिज्ञप्ति को सत्य या असत्य क्या बनाता है? इस प्रश्न को इस प्रकार भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता कैसे तय की जा सकती है? यदि प्रश्न को ऐसा समझा जाए तो परंपरागत सत्य की अवधारणा अर्थहीन हो जाती है। जब हम कहते हैं कि प्रतिज्ञप्तियाँ प्रमाणित कैसे होती हैं तो इसमें यह देखना है कि क्या सभी प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता की कसौटि एक ही है? एयर के अनुसार ऐसा नहीं है । वह प्रामाणिकता की दृष्टि से प्रतिज्ञप्तियों अथवा कथनों को दो भागों में विभाजित करते हैं। -

१ प्रागनुभविक कथन २ आनुभविक कथन

इन दोनों की प्रामाणिकता सिद्ध करने की अलग अलग विधियाँ हैं।

प्रागनुभविक कथनों की प्रामाणिकता :

प्रागनुभविक कथनों के अन्तर्गत आकारिक तर्कशास्त्र और गणितीय कथन आते हैं। इनकी सत्यता के सम्बन्ध में अनुभववादियों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वैज्ञानिक सामान्यीकरण भ्रमात्मक हो सकते हैं, लेकिन गणित एवं तार्किक सत्यों की अनिवार्यता और निश्चितता स्पष्ट रहती है। मिल उन दार्शनिकों से हैं जिनका

यह मानना है कि तर्कशास्त्र और गणित के सत्यों में अनिवार्यता और निश्चितता का अभाव है। मिल के अनुसार ये प्रतिज्ञप्तियाँ अत्यधिक उदाहरणों के आधार पर किये गये आगमनात्मक सामान्यीकरण हैं। इस कारण इनका सिद्धांत में खंडन किया जा सकता है। अत: ये निश्चित नहीं हो सकते हैं। गणित एवं तर्कशास्त्र के सत्यों को सार्वभौमिक सत्य बनाने में अनुभव से अच्छी युक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं लेकिन फिर भी इस प्रकार की सत्यता का कोई निश्चित आश्वासन नहीं दिया जा सकता। गणित एवं तर्कशास्त्र की सत्यता आनुभविक प्राक्कल्पनाओं की तरह है जो उनकी तरह अतीत में सदैव सत्य रही है। लेकिन आनुभविक प्राक्कल्पनाएँ जिस प्रकार सिद्धांत में भ्रामक होती हैं उसी प्रकार ये भी सिद्धांत में भ्रामक हो सकती हैं।

मिल द्वारा गणित एवं तर्कशास्त्र के संबंध में अनुभववादियों की समस्या का जो समाधान दिया गया है वह एयर को मान्य नहीं है। उनके अनुसार ऐसी प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता अनुभव से स्वतंत्र होने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम उनको जन्म से ही जानते हैं। उनका अनुभव से स्वतंत्र होने का प्रश्न ज्ञान-मीमांसीय है। मिल का गणितीय एवं तार्किक प्राक्कल्पनाओं को आनुभविक प्राक्कल्पना के समान मानना गलत है। उनकी सत्यता को अनुभव से स्वतंत्र कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी वैधता आनुभविक प्रामाणिकता पर निर्भर नहीं करती । उनको आगमनात्मक प्रक्रिया के द्वारा जाना जा सकता है। लेकिन जब उनको एक बार जान लेते हैं तब हम देखते हैं कि वे अनिवार्य रूप से सत्य हो जाते हैं। अर्थात् प्रत्येक कल्पनीय उदाहरण में वे सत्य होती हैं लेकिन इसके विपरीत वे प्रतिज्ञप्तियाँ जो आनुभविक सामान्यीकरण के आधार पर प्राप्त होती हैं, उनमें अनिवार्य सत्यता नहीं होती है।[3]

एयर इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों के भेद को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति की वैधता या सत्यता उनमें प्रयुक्त किये गये पदों की परिभाषा पर निर्भर करती है। संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति की वैधता आनुभविक तथ्यों द्वारा तय की जाती है। एयर विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक में भेद कर कांट द्वारा दिए गए विवरण में संशोधन करते हैं। कांट के विरुद्ध मुख्य आरोप यह है कि उन्होंने इस संबंध में केवल तार्किक मापदंड न अपना कर इसके साथ मनोवैज्ञानिक मापदंड को भी जोड़ दिया हे और दोनों को समान मान लिया है, जब कि दोनों एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। एयर इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों के भेद को तार्किक बताते हुए इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं- " किसी प्रतिज्ञप्ति को विश्लेषणात्मक तब कहेंगे जब उसकी प्रामाणिकता उसमें प्रयुक्त प्रतीकों की परिभाषा पर पूर्णतया आश्रित होती है, तथा संश्लेषणात्मक तब कहेंगे जब उसकी प्रामाणिकता आनुभविक तथ्यों द्वारा निर्धारित होती है। "[4] विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति पूर्णतया तथ्यहीन होती है। इस कारण उनका किसी अनुभव द्वारा खंडन नहीं किया जा सकता है। उनसे किसी भी वस्तुस्थिति का किसी

प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। उन्हें तथ्यहीन कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि ये तत्त्वमीमांसीय कथनों की तरह निरर्थक होते हैं। उनके आधार पर पदों के परंपरागत प्रयोग के नियमों की जानकारी दी जाती है। इस प्रकार एक अर्थ में इस प्रतिज्ञप्ति से नये ज्ञान की प्राप्ति होती है। ये भाषा संबंधी इन प्रयोगों की ओर ध्यान आकर्षित करती है जिनके प्रति हम अनभिज्ञ होते हैं। उनके अनुसार शुद्ध गणित की प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों की शर्तों को पूरा करती हैं। अतः ये विश्लेषणात्मक हैं।[5]

एयर के अनुसार विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति का उदाहरण है "7+5 = 12" और संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति का उदाहरण है "सभी वस्तुओं में विस्तार होता है" तथा यह अनुभवाश्रित होती हैं। गणितीय प्रतिज्ञप्तियों में ज्यामितीय प्रतिज्ञप्ति को अधिक सरलता से संश्लेषणात्मक स्वीकार करने की संभावना है, क्योंकि ज्यामितीय स्वयं-सिद्धियां केवल परिभाषा मात्र हैं। यह एक आनुभविक प्रश्न है कि क्या किसी ज्यामिती का वास्तविक जगत् में प्रयोग किया जा सकता है या नहीं? ऐसी स्थिति में किसी ज्यामिती की सत्यता के संबंध में कहना निरर्थक है। वस्तुतः यह पूर्णरूप से तार्किक प्रणाली है। अतः ये प्रतिज्ञप्तियां पूर्णरूप से विश्लेषणात्मक हैं।

व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त किए गए शब्दों की निश्चितता विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति के द्वारा व्यक्त की जाती है। इस तरह तर्कशास्त्र और गणित की प्रतिज्ञप्तियां विश्लेषणात्मक होती हैं। अतः प्रागनुभविक सत्यता के आधार पर उनकी व्याख्या की जा सकती है। लेकिन यहां अनुभववादियों की यह मान्यता है कि वस्तु-जगत् का प्रागनुभविक ज्ञान नहीं हो सकता है। वे प्रतिज्ञप्तियां अनुभव से स्वतंत्र होते हुवे भी वैध कही जाती हैं। इसका कारण यह है कि उनमें तथ्यात्मकता का अभाव होता है। किसी प्रतिज्ञप्ति की प्रागनुभविक सत्यता का यह अर्थ है कि वह पुनरुक्ति मात्र है। ये पुनरुक्तियां स्वयं में तथ्यरहित होती हैं लेकिन ये ज्ञान की आनुभविक खोज में मार्ग-प्रदर्शन कर सकती हैं।

बुद्धिवादियों के अनुसार बौद्धिक चिंतन ही ज्ञान का एक मात्र साधन है तथा बुद्धि के द्वारा ही जगत् सम्बन्धी किसी अनिवार्य सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन एयर इस बात से सहमत नहीं हैं क्योंकि वह कहते हैं कि वे वस्तुएं जिन्हें कभी देखा ही नहीं है उन्हें बौद्धिक चिंतन द्वारा कैसे उनके स्वरूप को प्रमाणित कर सकते हैं? सामान्यतया अनुभववादियों के प्रति यह आक्षेप किया जाता है कि उसके आधार पर जो अनिवार्य सत्य संबंधी ज्ञान होता है, उसकी व्याख्या करना असंभव हो जाता है। इसका कारण यह है कि कोई भी सामान्य प्रतिज्ञप्ति, जिसकी प्रामाणिकता अनुभवाश्रित होती है, वह तार्किक दृष्टि से कभी भी निश्चित नहीं हो सकती है।

एयर इस तथ्य से सहमत हैं, लेकिन इसे वह अनुभववादियों के प्रति कोई आक्षेप

नहीं मानते हैं। वह तर्कशास्त्र और गणित की सत्यता को आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता के समान नहीं मानते हैं क्योंकि उनका मानना है कि दोनों का समान तार्किक स्वरूप नहीं है तथा ये दोनों एक ही पद्धति से प्रमाणित नहीं की जातीं। अत: तार्किक एवं गणितीय प्रतिज्ञप्तियों का अनिवार्य रूप से सत्य होने का यही रहस्य है कि ये विश्लेषणात्मक या पुनरुक्त्यात्मक होते हैं। एयर की शब्दावली में "प्रागनुभविक", "विश्लेषणात्मक", "पुनरुक्त्यात्मक ", "शाब्दिक", "भाषात्मक", " परिभाषात्मक सत्य" आदि पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं। अनिवार्य रूप से सत्य तार्किक एवं गणितीय प्रतिज्ञप्तियों के स्वरूप का निर्धारण इन विशेषणों द्वारा किया जा सकता है।

इस पर सी. डी. ब्रॉड ने आपत्ति उठायी है कि एयर के वर्णन के अनुसार प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों का एक उपवर्ग बन जाती है।[6] एयर के विवरण से प्रतीत होता है कि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति प्रतीकों के प्रयोग के बारे में जानकारी देती है। इस प्रकार प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को तथ्य सूचक मानना एयर की मूलभूत मान्यता के विरुद्ध है। एयर अपने मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यद्यपि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता शाब्दिक प्रयोग सम्बन्धी तथ्यों पर आश्रित होती है, लेकिन वह यह मानते हैं कि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की उपयोगिता एक और इस आनुभविक तथ्य पर आधारित होती है कि कुछ प्रतीकों का प्रयोग उसी ढंग से होता है जैसे इनका प्रयोग किया जाता है और दूसरी ओर इस आनुभविक तथ्य पर आधारित होती है कि प्रतीकों का हमारे अनुभव में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाता है।[7]

एयर ने अपने निबंध "Truth by Convention "[8] में इस बात को अस्वीकार किया है कि अनवार्य प्रतिज्ञप्ति सामान्य अर्थ में प्रतिज्ञप्ति भी है। जिन्हें प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति कहा जाता है वे शब्दों के वास्तविक प्रयोग सम्बन्धी विवरण न देकर केवल निर्देश देती है कि शब्द का किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये । ये तो केवल नियमों की स्थापना करती है, जिनका पालन या उल्लंघन किया जा सकता है।[9]

एयर *Language, Truth and Logic* की नई भूमिका में इस मत को त्याग देते हैं कि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति स्वयं भाषा सम्बन्धी नियम है, लेकिन वह इस बात पर जोर देते हैं कि ये अनिवार्य इस कारण हैं कि उपयुक्त भाषा संबंधी नियम पहले से ही स्वीकार कर लिये जाते हैं।[10] उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्या अनिवार्य सत्य संबंधी समस्या को भाषा-विशेष के सन्दर्भ से पृथक् रूप से समझने में असफल होती है। आलाचकों का मानना है कि विश्लेष्णात्मक और संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के मध्य एक स्पष्ट रेखा बनाना संभव नहीं हो पाया है।[11]

आनुभविक कथन

संश्लेषणात्मक कथन आनुभविक कथन के अन्तगर्त आते हैं। आनुभविक

कथन दो प्रकार के होते हैं -

१. वे कथन जिनकी प्रामाणिकता अपरोक्ष रूप से जानी जाती है।
२. वे कथन जिनकी प्रामाणिकता परोक्ष रूप से जानी जाती है।

जैसा कि बताया जा चुका है, वे कथन जिनकी प्रामाणिकता अपरोक्ष रूप से जानी जाती है उन्हें "मूल कथन " कहते हैं, जो " निरीक्षणात्मक कथन" की श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।[12] इन कथनों में हमारे तात्कालिक अनुभव का वर्णन होता है। इनको पूर्णतया निश्चित माना जाता है क्योंकि इनका तथ्यों से प्रत्यक्ष संबंध होता है। लेकिन इन कथनों के अलावा दूसरे वे संश्लेषणात्मक कथन होते हैं जिनकी प्रामाणिकता परोक्ष रूप से जानी जाती है। एयर के अनुसार कोई भी संश्लेष्णात्मक प्रतिज्ञप्ति शुद्ध रूप से मूल प्रतिज्ञप्ति नहीं होती है। अत: वह पूर्णतया निश्चित नहीं हो सकती है। वास्तविक रूप से देखा जाए तो उनके अनुसार सारी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियां प्राक्कल्पनाएँ होती हैं, जिनकी पुष्टी या निराकरण हमारे वास्तविक ऐन्द्रिक अनुभव में हो सकता है तथा अन्य ऐन्द्रिक अनुभव द्वारा भी की जा सकती है।[13] इस प्रकार एयर के अनुसार कोई भी अंतिम प्रतिज्ञप्ति नहीं है।

आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता की कसौटी के बारे में एयर का कहना है कि "आनुभविक प्राक्कल्पनाओं की वैधता की जांच में हम यह देखते हैं कि जिस कार्य को पूर्ण करने के लिए उसे बनाया गया है, वह क्रिया वास्तव में पूर्ण करता है या नहीं ।[14]

आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता के संबंध में दो समस्याएं उत्पन्न होती हैं। १. वह क्या है जो आनुभविक प्रतिज्ञप्ति को सत्य बनाता है? २. जो सत्य बनाता है उससे आनुभविक प्रतिज्ञप्ति का क्या संबंध है?

ये दोनों समस्याएं क्रमश: तथ्य और आनुभविक अभिकथनों के संबंध के बारे में है। कुछ दार्शनिक निषेधात्मक तथ्यों को स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन एयर के अनुसार ऐसा सोचना केवल एक पक्षपाती दृष्टिकोण है।

एयर के अनुसार जिन कथनों की प्रामाणिकता परोक्ष रूप से की जाती है उनकी प्रामाणिकता उसी आधार पर नहीं की जा सकती है जिस आधार पर प्रागनुभविक कथनों की जाती है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जो संबंध सत्य कथनों का तथ्यों से होता है उसका क्या स्वरूप है? दार्शनिकों ने इस संबंध में भिन्न-भिन्न सिद्धांन्त प्रस्तुत किए हैं। ये तीन सिद्धांत हैं- (1) अनुकूलता-वादी सिद्धांत (2) सामंजस्यवादी सिद्धांत (3) अर्थक्रियावादी सिद्धांत।

एयर इन तीन सिद्धांतों में से किसी भी सिद्धांत को पूर्णतया संतोषजनक नहीं

मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एयर के अनुसार सत्य की समस्या कोई सैद्धान्तिक समस्या नहीं है। यह केवल एक व्यावहारिक समस्या है। इस संबंध में वह एफ्. पी.रामसे के मत से सहमत हैं जिनके अनुसार "सत्य की समस्या वास्तव में कोई पृथक् समस्या नहीं है, बल्कि वह केवल एक भाषायी गड़बड़ (Linguistic Muddle) है।"[15] इस मत के अनुसार सत्य का प्रत्यय अनावश्यक समझा गया है। इस प्रकार की अवधारणा में एक मूलभूत मान्यता यह है कि तार्किक समानता (Logical Equivalence) और अर्थ में समानता (Equivalence in Meaning) में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों एक ही हैं। इस प्रकार की मान्यता उस तर्कशास्त्री के लिए स्वाभाविक होती है जिसकी रुचि प्रतिज्ञप्तियों के अर्थ में न होकर उनके सत्यता-मूल्यों में होती है; जो अर्थ के प्रमाणीकरण के सिद्धांत को मानता है उसके लिये भी इस प्रकार की मान्यता स्वाभाविक है।

सत्य के प्रत्यय का महत्त्व ऐसे वाक्यों में अधिक प्रतीत होता है जिनमें सत्य को विशेषता के रूप में अभिव्यक्त न करके केवल उसकी ओर संकेत किया जाता है। एयर भी इस बात को स्वीकार करते हैं।[16]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य के प्रत्यय के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। ज्ञान की अवधारणा में जिस वस्तु या कथन का हमको ज्ञान होता है वह सत्य होना चाहिये। इस दृष्टि से ज्ञान की पूर्ण व्याख्या में सत्य की व्याख्या निहित है। इसलिए "सत्य" की व्याख्या ज्ञान-मीमांसा में वांछनीय है।[17] परन्तु एयर का कहना है कि सत्य के सिद्धांत का प्रयोजन केवल उस कसौटी का वर्णन करना है जिससे विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता निश्चित की जाती है। उसके अनुसार सत्य की समस्या केवल यही है कि प्रतिज्ञप्तियों को सत्य या असत्य कौन बनाता है? उनकी प्रामाणिकता की कसौटी क्या है? अर्थात् , उनकी प्रामाणिकता कैसे तय की जाती है? अगर सत्य के प्रत्यय को इस दृष्टि से समझा जाए तो सत्य की समस्या विभिन्न प्रतिज्ञप्तियों या कथनों की प्रामाणिकता की समस्या है।

निर्मला जैन

चौधरी भवन
१५, भट्ट जी की बाड़ी
उदयपुर - ३१३००१
(राजस्थान)

टिप्पणियाँ

1. A. J. Ayer : *The Concept of Person & Other Essays,* MacMillan & Co. Ltd., London, 1965, p. 167.
2. A. J. Ayer : *Language, Truth & Logic,* Victor Gollancz, Ltd., London, 1936, p. 90.
3. *Ibid,* p. 75.
4. *Ibid,* p. 78
5. *Ibid,* p. 82
6. C. D. Broad : " Are There Synthetic A Priori Truths? " *Proceedings of the Aristotelian Society, 1936.*
7. A. J. Ayer : *Language, Truth & Logic,* pp. 16–17.
8. *ANALYSIS,* 1936, p. 20.
9. *Ibid.*
10. A. J. Ayer : *Language, Truth & Logic,* p. 17.
11. W. V. Quine : " Two Dogmas of Empiricism" in his book *From a Logical Point of View* (Harper Paper back, 1963)
12. A. J. Ayer : *The Concept of Person & other Essays,* p. 171.
13. A. J. Ayer : *Language, Truth & Logic,* p. 94.
14. *Ibid,* p. 99.
15. F. P. Ramsay : "Facts & Propositions ", *Proceedings of the Aristotelian Society Supple.* Vol. VII (1927) reprinted (in part) in Truth edited by George Pitcher, Prentice Hall Inc. England Cliff, New Jersey, 1964, p. 16.
16. A. J. Ayer : *The Concept of Person & other Essays,* p. 165.
17. निर्मला जैन : *ए. जे. एयर की ज्ञान-मीमांसा,* पीएच्. डी. की डिग्री के लिए सुखाड़िया विश्वविद्यालय को प्रस्तुत शोध-प्रबंध, उदयपुर, 1985, पृ. 111 - 112 (अप्रकाशित)

दंड के सिध्दान्त

नीति शास्त्र एवं दंड - नीतिशास्त्र का कार्य मूलभूत नैतिक नियमों की खोज करना, तदनुरूप मानव आचरण के आदर्श को निरूपित करना एवं इसके आलोक में मानव के कर्मों का, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, आदि रूप में, नैतिक मूल्यांकन करना है। अब नैतिक नियमों के प्रति हमारी नैतिक प्रतिबध्दता दंड एवं पुरस्कार की भावना पर निर्भर नहीं करती, बल्कि उसकी आदर्श-निरूपण-क्षमता (Normative Character) पर निर्भर करती है। हम नैतिक कार्य इसलिए करते हैं चूंकि हमें वैसा करना चाहिए। पर समाज में नैतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उन नियमों को कड़ाई के साथ लागू करने की जरूरत होती है। इसके लिए नियमों का पालन करने वाले के लिए पुरस्कार एवं उल्लघंन करने वालों के लिए दंड का विधान आवश्यक होता है। कोई भी नियम प्रभावकारी नहीं माना जायगा यदि उसका उल्लंघन उल्लंघनकर्त्ता के लिए नुकसानदेह न हो एवं समाज के अन्य लोग इस उल्लंघन को चुपचाप बर्दाश्त कर लें। इस प्रकार नियम दमन या दबाव की अपेक्षा रखता है, और यह दबाव दंड के विधान की।

दंड एवं अपराध की रोक-थाम - अब किसी को अपराध करने से शारीरिक शक्ति के प्रयोग के द्‌वारा रोका जा सकता है, या फिर अपराध करने की इच्छा रखने वालों को नजरबंद करके (Through detention) कम से कम नजरबंदी के दौरान अपराध करने से रोका जा सकता है। पर यह उपाय समाज में सभी व्यक्तियों को अपराध करने से रोकने के लिए कभी कारगर नहीं हो सकता जबतक मनोवैज्ञानिक रूप से, दंड के विधान के द्‌वारा लोगों में अपराध करने की इच्छा से दूर भागने के लिए भय नहीं पैदा किया जाय। इस प्रकार दंड (punishment) वस्तुत: अपराध की रोक-थाम

(Prevention of Crime) से भिन्न है, चूंकि दंड एक प्रकार की यातना देता है जो अपराधी के मन में अपराध के प्रति मनोवैज्ञानिक भय पैदा करके उसे अपराध करने से रोकता है, जबकि Prevention of Crime के लिए न तो दंड आवश्यक है न ही मनोवैज्ञानिक भय की उत्पत्ति।

दंड की नैतिकता की समस्या - (Problem of Morality or justification of punishment) हमने ऊपर देखा कि नैतिकता अपने नैतिक नियमों के समाज में आरोपण के लिए दंड पर आधारित है, पर दंड को अपने आप में नैतिक नहीं कहा जा सकता, चूंकि इसमें दूसरे की इच्छा के प्रतिकूल उस पर शारीरिक यातना या आर्थिक नुकसान लादा जाता है। अत: प्रश्न उठता है कि ऐसे कार्य का नैतिक औचित्य क्या है? हार्ट कहते हैं कि दंड के नैतिक औचित्य की समस्या के तीन प्रमुख रूप हैं-

(१) दंड देने का नैतिक औचित्य क्या है, एवं हमें किसी को दंड देने का क्या अधिकार है?

(२) किसे दंड देना उचित है? तथा

(३) किस प्रकार का एवं कितना दंड देना नैतिक रूप से उचित माना जा सकता है?

निवर्तनवादी सिध्दान्त (Deterrence Theory) - प्रथम प्रश्न के जवाब में निवर्तनवादी सिध्दान्त कहता है कि दंड का नैतिक- सामाजिक औचित्य यह है कि वह लोगों के मन में दंड का भय उत्पन्न करके उन्हें अपराध करने से निवर्तित (Deter) करता है। अपराधी को सजा देने का अधिकार हमें (यानी समाज को) इसलिए है चूंकि आत्म-रक्षा हमारा मौलिक अधिकार एवं धर्म है।

निवर्तनवादी सिध्दान्त का प्रारंभ हमें प्लोटो के Laws में मिलता है जिसमें वे कहते हैं कि दंड पूर्वकृत कर्म का प्रायश्चित नहीं है, क्योंकि जो हो चुका उसे बदला नहीं जा सकता। इसका औचित्य यह है कि दंड पाने वाला अपराधी एवं उसे दंडित देखने वाले लोग उस अपराध को दुबारा करने का साहस न करें। निवर्तनवादी सिध्दान्त का दृष्टिकोन उपयोगितावादी है और इसके अनुसार दंड की सार्थकता मात्र भविष्य में अपराध की पुनरावृत्ति को रोकने में निहित है। यह सिद्धान्त उद्देश्यमूलक (Teleological) है और यह मात्र आगे देखता है, पीछे नहीं ।

निवर्तनवादी सिद्धान्त वास्तविक दंड (Actual imposition of punishment) की तुलना में दंड द्वारा उत्पन्न भय (Threat of punishment) को ही महत्त्व देता है और इसलिए यह तबतक दंड को कड़ा से कड़ा बनाते जाने की सिफारिश करता है जबतक इसके भय से अपराध समाप्त न हो जाय। इस प्रकार अपराध की भयानकता (gravity) एवं दंड की कठोरता में कोई संबंध यहां देखने को नहीं मिलता।

व्यक्तिगत एवं सामान्य निवर्तन - (Particular and General Deterrence) -

निवर्तनवादी सिध्दान्त का अभिप्राय सिर्फ अपराधी-विशेष को ही दंड द्वारा

आगे अपराध करने से निरुत्साहित करना (यानी व्यक्तिगत निवर्तन) नहीं है। बल्कि समाज के अन्य सभी सदस्यों, जिन्हें हम संभावित अपराधी (Potential Criminals) कह सकते हैं उनको अपराध करने की स्थिति में कठिन दंड मिलने का भय दिखा कर अपराध करने से निरुत्साहित करना(यानी General Deterrence) है।

साधन-साध्य विचार - निवर्तनवादी सिध्दान्त की आलोचना में कांट आदि प्रतिकारवादियों (Retributionists) का कहना है कि यह सिध्दान्त अपराधी को समाज के साधन के रूप में देखता है। चूंकि समाज में अपराध की रोकथाम के लिए अपराधी को कठिन से कठिन सजा देने की सिफारिश करता है और किसी को भी सिर्फ साधन के रूप में इस्तेमाल करना अनैतिक है।

जबाब में निवर्तनवादियों का कहना है कि अपराधी को साधन के रूप में इस्तेमाल करना एक दु:खद एवं अनिवार्य व्यावहारिक मजबूरी है। क्योंकि समाज के निर्दोष लोगों का अपराधी के लोभ या विकृत मनोवृत्ति की तृप्ति का साधन बनाने से यह कहीं अधिक उचित है कि अपराधी को निर्दोष समाज की रक्षा का साधन बनाया जाये। दूसरे, यहाँ अपराधी को साधन के रूप में जरूर प्रयोग किया जाता है, पर सिर्फ साधन के रूप में नहीं , चूंकि अपराधी महज अपराधी ही नहीं होता वह भी अन्य समयों में सामान्य नागरिक के रूप में होता है, तथा अच्छा नागरिक होने की संभावना रखता है, और इस रूप में सुरक्षा की उतनी ही आवश्यकता वह भी रखता है।

दंड की मात्रा- दूसरा प्रश्न यह है कि दंड की उचित मात्रा क्या हो? शुध्द निवर्तनवाद मानेगा कि दंड को तबतक कठोर से कठोरतम करते जाना चाहिए जबतक उसके भय से लोग अपराध करना बंद न कर दें। अपराध करने का लाभ (Temptation) जितना ही अधिक हो या फिर न पकड़े जाने की संभावना जितनी ही अधिक हो दंड को (यानी दंड के दहशत को) उतना ही सख्त होना चाहिए।

पर अनुभव बतलाता है कि सख्त से सख्त दंड प्रक्रिया के बावजूद अपराध समाप्त नहीं होते, बहुधा बढ़ते भी हैं। यह निवर्तनवादी सिध्दान्त की अक्षमता को सिध्द करता है। अपराध को मिटाने के लिए उसके कारणों को दूर करना आवश्यक है। इसके जबाब में निर्वतनवादी कहेंगे कि अपराध के कारणों को दूर करने से हमारा कोई विरोध नहीं है, पर जबतक ऐसा नहीं होता दंड के द्वारा अपराध के रोक थाम के उपाय को छोड़ कर कोई समाज चल नहीं सकता। फिर अपराधों का होना निवर्तनवादी की अक्षमता को भी सिद्ध नहीं करता चूंकि दंड प्रक्रिया के अभाव में और अधिक लोग अपराध कर सकते थे या अपराधी और अधिक अपराध करता।

फिर प्रतिकारवादी (Retributivists) दार्शनिक कहते हैं कि निवर्तनवाद

मामूली अपराध को रोकने के लिए भी कठोर दंड का विधान करता है जो अपराधी के प्रति घोर अनैतिकता है और ऐसी अनैतिकता पर आधारित सिध्दान्त का कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता।

बेंथम आदि उपयोगितावादी इन कठिनाइयों को महसूस करते हैं और निवर्तनवादी सिध्दान्त को अधिक संगत बनाते हैं। वे Hedonistic Calculus में अनुसंधान करते हैं और कहते हैं कि दंड की मात्रा को अपराधी के अपराध से मिलने वाले सुख या लाभ (Profit of offence) अथवा समाज को अपराध से होनेवाली हानि के अनुपात में होना चाहिए ताकि अपराध और दंड के बीच (balance of Pleasure) अपराधी के पक्ष में न हो। उदाहरणार्थ, यदि गैराज में गाड़ी लगाने का शुल्क 2 रुपये हो तो सड़क पर गाड़ी लगाने का दंड यदि १ रुपया रखा जाय तो अपराधी अपराध करने में ही लाभ अनुभव करेगा। अतः यह दंड कम होगा। इसके विपरीत 10 रुपये का जुर्माना अत्यधिक होगा। इस प्रकार बेंथम न अधिक न कम दंड देने के सिध्दान्त के प्रतिपादक हैं। वे कहते हैं कि अधिक दंड अपराधी के प्रति क्रूरता है और कम दंड समाज के प्रति।

पर न तो सुखों एवं दंड का इस प्रकार का माप हमेशा संभव है और न ही समान दंड (Equal punishment) के सिध्दान्त सें अपराध का निवर्तन ही संभव है, चूंकि न पकड़े जाने की स्थिति में अपराधी हमेशा अपने को लाभ की स्थिति में महसूस करेगा, यहां तक कि दंड को कड़ा से कड़ा बना कर भी अपराध को पूरी तरह रोका नहीं जा सकता, मात्र कम किया जा सकता है। अतः बेंथम का सिध्दान्त निवर्तनवाद के उद्देश्यों से ही संगत नहीं है।

दंड किसे दिया जाय:- कांट आदि दार्शनिक कहते हैं कि यदि निवर्तनवाद का उद्देश्य अपराध की रोक थाम मात्र हो तो सिर्फ अपराधी को ही दंड़ क्यों दिया जाय? यह काम बहुधा निरपराध को भी दंड़ देकर हो सकता है। जैसे, यदि माता पिता के अपराध की सजा बच्चे को दी जाय तो माता-पिता अपराध करने से अधिक घबड़ायेंगे। इस प्रकार निवर्तनवाद निरपराध को सजा देने के दोष से दूषित हो जाता है। जॉन रॉल्स आदि निवर्तनवादियों का जवाब है कि दंड़ द्वारा counter–balance कर, अपराध की प्रवृत्ति को रोकने (revert करने) का सिध्दान्त है। निरपराध को सजा देने से इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। दूसरे, निरपराध को सजा देने से समाज में एक भारी असुरक्षा की भावना का उदय होगा, जिसमें कि कब कौन किसके अपराध की सजा पायेगा यह कहना मुश्किल हो जायगा। अपराधी को भी और अधिक अपराध का लाभ मिल सकता है और निरपराध और अधिक अलाभ की स्थिति में चला जायगा। इससे अपराध न करने की प्रवृत्ति ही समाप्त हो जायगी।

पर यदि कानून में यह पहले से ही सुव्याख्यायित (Well defined) हो कि

किसके कितने अपराध की सजा किस किस को किस परिमाण में भुगतनी होगी तो असुरक्षा से संबंधित उपरोक्त कठिनाई को हल किया जा सकता है। जैसे, यह पहले ही बतला दिया जा सकता है कि बच्चे के अपराध की सजा माँ बाप को या गांव के किसी व्यक्ति के अपराध की सजा ग्रामवासियों को सामूहिक रूप से अमुक मात्रा में दी जायेगी।

समीक्षा:- इस प्रकार दंड का निवर्तनवादी सिध्दान्त न तो इस सवाल का युक्ति-पूर्ण जवाब दे सकता है कि दंड की उचित मात्रा क्या हो, न ही इस सवाल का जवाब दे पाता है कि सिर्फ अपराधी को ही क्यों सजा दी जाय। सिर्फ प्रथम प्रश्न, कि दंड का नैतिक औचित्य क्या है, या हमें दंड़ देने का क्या अधिकार है? का जबाब यह दे पाता है।

फिर यदि निवर्तन को दंड के एकमात्र नैतिक औचित्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो इस व्याख्या को नैतिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ नहीं माना जा सकता है। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति मात्र दंड़ के भय से अपराधिक कर्मों को करने से दूर रहे तो उसमें नैतिक चरित्र के विकास का होना नहीं माना जायगा । दूसरे, शुद्ध भय स्थायी नैतिक व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकता है जब तक समाज गें न्याय के प्रति अनुराग एवं अपराध के प्रति घृणा के भाव का विकास न हो।

पर यदि हम यह कहें कि दंड का भय मनुष्य को अपराधरहित जीवन जीने को मजबूर करता है, और क्रमश: यह आदत व्यक्ति में नैतिक जीवन की शिक्षा (अथवा नैतिक चरित्र) का विकास करता है तो शायद यह दंड की उपयोगिता के प्रति अधिक स्वस्थ दृष्टिकोण (approach) होगा। इस प्रकार हम दंड के सुधार-वादी सिध्दांत पर पहुँचते हैं।

दंड का सुधार वादी सिध्दान्त (Reformative theory of punishment)

दंड का सुधार वादी सिध्दान्त उपरोक्त तीन प्रश्नों -

(१) दंड देने का नैतिक औचित्य क्या है, तथा दंड देने का अधिकार किसे है?

(२) कितना दंड देना नैतिक रूप से उचित है?

(३) किसे दंड़ देना उचित है? - का जवाब निम्न रूप से देता है।

(१) प्रथम प्रश्न के उत्तर में दंड का सुधार-वादी सिध्दान्त मानता है कि दंड का औचित्य न तो महज अपराध को रोकने में निहित है और न ही यह स्वयं साध्य (End – in - itself) है, बल्कि इसका औचित्य अपराधी को नैतिक रूप से शिक्षित करने में अथवा उसके चारित्रिक सुधार में निहित है।

सुधारवादी सिध्दान्त मानता है कि अपराध अपराधी में नैतिक शिक्षा के अभाव या मनोवैज्ञानिक सामाजिक कु-अभियोजन का परिचायक है। अत: अपराधी को हमें

दुश्मनी या घृणा की नजर से नहीं बल्कि सहानुभूतिपूर्वक एक रोगी के रूप में देखना चाहिए। हर अपराधी एक रोगी की भांति सुधार की संभावना रखता है। और उसे सुधारना समाज का धर्म होता है, चूंकि उसकी अपराध-वृत्ति वस्तुत: लालन-पालन, शिक्षा एवं सामाजिक संबंधों का परिणाम होता है। सही नैतिक वातावरण में रख कर उसके इस अपराध-वृत्ति को सुधारा भी जा सकता है। सुधारवादी सिध्दान्त के तीन रूप हो जाते हैं,

(१) दंड के विना सुधार (Reforming Without Punishment)
(२) दंड के दौरान सुधार (Reforming During Punishment)
(३) दंड के द्वारा सुधार (Reforming Through Punishment)

(१) पहला सिध्दान्त अपराधी को महज एक मनोरोगी के रूप में देखती है। अंत: उसे दंड देना अनुचित मानता है। उचित मनोवैज्ञानिक चिकित्सा एवं सही नैतिक शिक्षा के द्वारा अपराधी के सुधार पर यह सिध्दान्त बल देता है।

पर चूंकि यह सिद्धांत दंड की उपादेयता को स्वीकार नहीं करता, अत: इसें हम दंड के सिद्धांत के रूप में नहीं देख सकते। इस प्रकार दंड के सुधारवादी सिद्धान्त के रूप में इसके औचित्य पर हम यहाँ विचार नहीं कर सकते।

(२) दूसरा सिध्दान्त दंड की भूमिका को स्वीकार करता है, पर दंड स्वयं दंड के रूप में अपराधी में सुधार नहीं लाता पर चूंकि अपराधी को अन्य विधियों के द्वारा भी सुधारने के लिए उसे जेल में रखना आवश्यक है अत: साधन के रूप में दंड की भूमिका को यह सिध्दान्त स्वीकार करता है। दूसरे,कोई भी अपराधी स्वेच्छा से जेल में रहना एवं इस तरह की ट्रेनिंग लेने के लिए तैयार नहीं होगा, अत: उस पर जबरन इस प्रकार का कष्ट (दंड) लादना अपरिहार्य होता है। इस प्रकार यह सिध्दान्त मानता है कि दंड स्वयं मूल्य नहीं है, बल्कि इसका मूल्य इस बात में निहित है कि यह सुधार की अन्य प्रक्रियाओं को संभव बनाता है।

अब प्रश्न है कि वे कौन सी सुधार-वादी प्रक्रियाएँ हैं जिसका सहारा यह सिध्दान्त लेता है। साधारणत: वे निम्नलिखित हैं:-
जेल में नैतिक शिक्षा देना, एक उचित नैतिक महौल का विकास, सामान्य शिक्षा द्वारा अपराधी में सूझबूझ का विकास (चूंकि अपराध का एक महत्त्वपूर्ण कारण सूझबूझ का अभाव एवं मेधा की कमी है)तथा सामाजिक चेतना का विकास, व्यावसायिक शिक्षा देना (ताकि अपराधी में श्रम के द्वारा अपनी आजीविका कमाने की आदत पड़े), आदि।
पर जेल में दंड द्वारा अपराधी- सुधार की प्रक्रिया के निम्न महत्त्वपूर्ण दोष हैं:-

(१) चूंकि जेल में सभी अपराधी आ कर इकट्ठा होते हैं अत: वहां एक अपराधी समाज एवं अपराधी महौल उत्पन्न हो जाता है।
(२) एक बार भी जेल चले जाने के बाद जेल जाने की भयावहकता समाप्त हो जाती

है। अत: वह पुन: जेल जाने से नहीं डरता।

(३) व्यक्ति जेल में स्वभावत: अपने को एक अलग अपराधी समाज का सदस्य समझने लगता है जो उसकी सुधार की प्रक्रिया में बाधक होता है।

(४) दंड पाने और जेल जाने से व्यक्ति की आत्म-गरिमा की भावना कुंठित होती है जो आत्म-गरिमा मनुष्य की नैतिकता के लिए अनिवार्य है।

(५) प्रत्येक व्यक्ति एक खास समय के लिए जेल जाता है और उसके बाद उसे रिहा करना पड़ता है, चाहे उसकी नैतिक शिक्षा पूरी हुई हो अथवा नहीं।

उपरोक्त कठिनाईयों को कुछ हद तक दूर करने के लिए निम्न सुधारात्मक कदम उठाये जा सकते हैं-

दंड के कु-प्रभावों को दूर करने के लिए जेल में पुरस्कार की भी समानान्तर व्यवस्था की जाय, ताकि उसमें आत्म-सम्मान की भावना का विकास हो। ज्यों- ज्यों व्यक्ति चारित्रिक उत्थान एवं बेहतर क्रिया-कलापों का प्रदर्शन करे, उसे क्रमश: उच्चतर श्रेणी में प्रोन्नत किया जाय। श्रेणी के अनुसार बेहतर सुविधा, सम्मान, आजादी, जिम्मेदारी एवं पोशाक आदि की व्यवस्था हो। इस प्रकार व्यक्ति में नैतिक जीवन की प्रेरणा जागेगी एवं उसमें आत्म-सम्मान की भावना का भी उदय होगा।

पर यदि दंड के उपरोक्त कु-प्रभाव होते हैं और दंड अपने आप में सुधारात्मक नहीं होता तो क्या इसकी साधनता अपरिहार्य है? क्यों नहीं दंड के बदले मात्र पुरस्कार के द्वारा ही अपराधी का सुधार किया जाय? इस प्रश्न का जबाव इस बात पर निर्भर करता है कि क्या दंड अपने आप में सुधारात्मक है? तथा (2) क्या शुध्द पुरस्कार द्वारा सुधार संभव है?

दंड द्वारा सुधार - इस सिध्दान्त के अनुसार दंड स्वयं (बिना अन्य प्रक्रियाओं के भी) अपराधी के सुधार में भावात्मक भूमिका निभाता है।

(१) सर्वप्रथम यह अपराधी में दंड का भास उत्पन्न कर उसे अपराध-रहित जीवन जीने को प्रेरित करता है।

पर यहां यह प्रश्न उठता है कि दंड के भय एवं पुरस्कार के लोभ से किये गये कार्य को नैतिक नहीं करेंगे और न ही ऐसे सुधार को चारित्रिक सुधार। क्यों कि ऐसा व्यक्ति यदि दंड का भय समाप्त हो जाय तो पुन: अपराध करेगा। इसके जबाब में सुधारवादियों का तर्क है कि शुरु में हालांकि व्यक्ति दंड के भय से सही कार्य करता है पर धीरे-धीरे यह उसकी आदत बन जाती है जो चरित्र- निर्माण में प्रतिफलित होती है। हर बच्चा पहले दंड के भय से पढ़ाई शुरु करता है पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह स्वेच्छा से कभी नहीं पढ़ेगा।

(२) पर फिर यह निवर्तवादी सिध्दान्त से किस प्रकार भिन्न है?

सुधार-वादी कहते हैं कि निवर्तनवादी सिध्दान्त का संबंध मात्र दंड का भय

उत्पन्न कर अपराध को रोकने से है। पर अपराधी केवल दंड से नहीं सुधरता बल्कि दंड के रूप में जो सामाजिक भर्त्सना का भान उसे होता है वह उसके नैतिक सुधार में सहायक होता है। यदि ऐसे कार्य के लिए किसी को दंड दिया जाय जिसे व्यक्ति उचित मानता है तो दंड का वांछित सुधारात्मक प्रभाव नहीं होगा।

पर क्या दंड के बिना सिर्फ सामाजिक भर्त्सना के द्वारा सुधार नहीं हो सकती? सुधारवादी कहते हैं कि साधारणतः दो प्रकार के अपराध होते हैं: (क) साधारण अथवा क्षम्य और (ख) निकृष्ट या जघन्य, यानी अक्षम्य अथवा दंडनीय। दंड के द्वारा समाज अपराधी में अपराध की निकृष्टता का बोध कराता है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि यदि दंड के बिना सिर्फ पुरस्कार से अपराधी को सुधारने की चेष्टा की जाय (जैसा की ऊपर प्रश्न उठाया गया) तो इसका अर्थ होगा अपराध को सामाजिक स्वीकृति देना एवं अपराधी को पुनः अपराध करने के लिए प्रेरित करना।

(२) **दंड की मात्रा** :- चूंकि दंड का उद्देश्य अपराधी को अपराध की निकृष्टता (Gravity) का बोध कराना है अतः उसे सदा अपराध की निकृष्टता (Gravity) के अनुरूप होना चाहिए।

जहां अधिक कम दंड सुधार लाने में अक्षम होता है वहीं बहुत अधिक दंड अपराधी में हताशा, कुंठा, क्रोध आदि भावना का उदय कर सकता है, जो उसके सुधार को असंभव बना देगा। अनुचित दंड हमेशा न्याय प्रणाली के प्रति घृणा एवं विद्रोह उत्पन्न करता है।

पर वह न्यायित दंड को मापने या स्थिर करने का सिद्धान्त या प्रणाली क्या हो उसका समुचित जबाब हमें इस सिद्धान्त में नहीं मिल पाता है। इसके लिए हमें प्रतिकारवादी सिद्धान्त की ओर देखना होगा।

(३) **दंड किसे दिया जाय** :- आलोचक यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि दंड द्वारा चारित्रिक सुधार संभव है तो इसे सिर्फ अपराधी तक ही सीमित रखा जाय, क्यों न लोगों को भी इससे सुधारा जाय।

इसके जबाब में सुधार-वादी कहते हैं कि दंड दो प्रकार से सुधार लाता है : (१) अपराधी को अपराध से निवर्तित करके और (२) उसमें दंड द्वारा सामाजिक भर्त्सना का बोध जगाकर। अब ये दोनों प्रक्रियाएँ मात्र अपराधी पर ही लागू हो सकती हैं। निरपराध को दंड देने का अर्थ होगा उसे उसके द्वारा किये गये सही कार्य से रोकना या उसके प्रति सामाजिक अस्वीकृति व्यक्त करना, जो सुधार के विपरीत दिशा में यानी अपराध करने की दिशा में शिक्षा देना होगा। इस प्रकार दंड के द्वारा सिर्फ अपराधी को ही सुधारा जा सकता है।

समीक्षा - उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सुधारवादी सिद्धान्त दंड के औचित्य

के प्रश्न का शुद्ध निवर्तनवादी सिद्धान्त से बेहतर जबाब पेश करता है। पर हालांकि यह निवर्तनवादी सिद्धान्त को एक उत्कृष्ट एवं परिशोधित अर्थ एवं आधार प्रदान करता है फिर भी चूंकि यहां निवर्तन के माध्यम से ही नैतिक शिक्षण संभव होता है, अतः निवर्तनवाद को मौलिक एवं आधारभूत सिद्धान्त के रूप में रखे बिना यह सिद्धान्त अपना काम नहीं चला सकता।

दूसरे, हालांकि सुधारवादी सिद्धान्त यह मानता है कि दंड द्वारा अपराधी का चारित्रिक सुधार तभी संभव है जब (१) अपराधी को ही दंड दिया जाय। एवं (२) अपराध के अनुरूप उचित एवं न्याय- संगत मात्रा में ही दंड दिया जाय फिर भी अपराधी की परिभाषा, उसके अपराध की भयंकरता की मात्रा आदि का निर्धारण आदि जैसी समस्याएँ हैं जिनके समाधान को शुद्ध निवर्तनवादी या सुधारवादी सिद्धान्त में नहीं ढूंढा जा सकता। प्रतिकारवादी सिद्धान्त इन समस्याओं का एक बेहतर समाधान प्रस्तुत करता है।

दंड का प्रतिकारवादी सिद्धान्त (Retributive Theory)

अब हम उपरोक्त तीनों प्रश्नों कि :-

१. दंड देने का नैतिक औचित्य क्या है तथा यह अधिकार किसे है?

२. कितना दंड देना नैतिक रूप से उचित है? और

३. किसे दंड देना उचित है? - के आलोक में प्रतिकारवादी सिद्धान्त को समझने की चेष्टा करेंगे।

निवर्तनवादी सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जो मानता है कि दंड का औचित्य यह है कि यह अपराधी एवं समाज के मन में अपराध करने के प्रति भय उत्पन्न करके समाज में अपराध की पुनरावृत्ति को रोकता है। सुधारवादी सिद्धान्त के अनुसार दंड का औचित्य दंड द्वारा अपराधी को नैतिक चारित्रिक रूप से शिक्षित करने में निहित है, जबकि दंड का प्रतिकारवादी सिद्धान्त इन उपयोगितावादी मान्यताओं को नहीं मानता। इसके अनुसार अपराध एवं दंड में एक आंतरिक संबंध है। हर अपराधी दंड के ही लायक है और अपराधी को दंडित करना हर समाज का नैतिक कर्तव्य है। अपराधी समाज के प्रति समान प्रकार के समान परिमाण में कठोर व्यवहार का ऋणि है जिसे उसे चुकाना है :-

प्रतिकारवादी के भी दो रूप हो जाते हैं :- कठोर वाद (Maximalism) जिसके समर्थक कांट हैं। यह मानता है कि हर अपराधी को समाज द्वारा अनुकूल दंड अवश्य मिलना चाहिए, चाहे इसका जो भी परिणाम हो।

उदारवाद - (minimalism)–यह एक विन्रम रुख अख्तियार करता है और मानता है कि सिर्फ अपराधी को ही सजा मिलनी चाहिए।साथ ही साथ यह उपयोगिता-वादी आधारों पर (यदि दंड का उद्देश्य पूरा न होता हो) जज को अपराधी की सजा घटाने या माफ करने का भी अधिकार देता है।

फिर दंड की मात्रा को लेकर भी प्रतिकारवादियों में मतभेद है। कठोरता वादी इस बात पर जोर देतें है कि दंड की मात्रा अपराध की मात्रा के बिलकुल बराबर होनी चाहिए। कुछ अन्य प्रतिकारवादी मानते हैं कि दंड को विभिन्न अपराधों की मात्रा (Gravity)के समानुपातिक होना चाहिये, पर दंड का अपराध के बिल्कुल बराबर होना न तो आवश्यक है न हमेशा संभव ही।

फिर इस संबंध में भी प्रतिकारवदियों में मतभेद है कि अपराध की मात्रा (Gravity) का माप अपराधी के अभिप्राय के आधार पर हो या अपराध द्वारा समाज को हुए नुकसान के आधार पर ? जैसे, (Attempted Murder) हत्या के प्रयास को Actual Murder (वास्तविक हत्या) की तुलना में कम सजा दी जाती है।

कांट का प्रतिकारवाद :-

दंड का औचित्य - कांट के दर्शन में दंड के औचित्य का सिद्धान्त उनके व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं इसकी सीमाओं के सिद्धान्त से निकलता है। कांट के अनुसार एक नैतिक प्राणी के रूप में हर व्यक्ति को अपने जीवन के विभिन्न आयामों, कार्यों आदि में स्वतंत्रता की उपलब्धि करने का अधिकार है। लेकिन इस अधिकार के साथ-साथ उसका यह कर्तव्य भी बनता है कि वह दूसरों की स्वतंत्रता का भी समानरूप से आदर करे। हर व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता की उपलब्धि का अधिकार वहीं तक है जहां तक कि दूसरों की भी समान स्वतंत्रता की उपलब्धि में वह बाधक न बने। इस प्रकार एक सामान्य कानून की आवश्यक्ता बनती है जो हर व्यक्ति की समान स्वतंत्रता के सहास्तित्व की गारंटी करें। इस प्रकार ये कानून एक ओर तो उचित यानी सामान्य रूप से उपलब्ध की जाने वाली स्वतंत्रता की उपलब्धि में सहायक है और दूसरी ओर अनुचित यानी ऐसी स्वतंत्रता जो दूसरों की स्वतंत्रता में बाधक बने उसका दमन करती हैं। इस प्रकार ये कानून स्वतंत्रता के अवदमन का दमन करता है। यह स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता का सीमांकन है।

हमारी स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता की खातिर सीमित हो जाती है, जबकि दूसरों की स्वतंत्रता मेरी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सीमित की जाती है। अत: हर व्यक्ति को दूसरों से कानून को पालन कराने का हक है। साथ ही साथ कानून का पालन

करना उसका धर्म भी। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है तो वह दूसरे की स्वतंत्रता के अधिकार का गलत उपयोग करता है। इस प्रकार उस पर एक ऋण चढ जाता है जिसे उसे दंड के नुकसान के द्वारा उतारना है।

इसी तरह समाज का भी यह फर्ज बन जाता है कि वह अपराधी को सजा दे। चूंकि यदि अपराधी को समाज सजा नहीं देती है तो इसका अर्थ होगा
(१) अपराधी को दूसरे के अधिकारों से लाभ उठाने की अनुमति देना।
(२) साथ ही साथ उन लोगों के प्रति घोर अन्याय करना जो अपने अधिकारों की सीमा में रह कर आत्म-नियंत्रण का पालन करते हैं।

दंड देने का अधिकार किसे है : - उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कानून द्वारा अधिकारों का उपयोग सिर्फ एक Civil Society में ही संभव है। अत: किसी भी व्यक्ति को (जिसके अधिकारों का हनन हुआ है) किसी भी अपराधी को दंड देने का अधिकार नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थिति में हर व्यक्ति अपनी शिकायतों का जज स्वयं हो जायेगी और इससे पारस्परिक संघर्ष की उत्पत्ति होगी। सिर्फ एक समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अदालत को ही अपराधी के अपराध का मूल्यांकन करके तदनुरूप दंड देने का अधिकार प्राप्त है। साथ ही साथ अदालत सिर्फ ऐसे व्यक्ति को ही सजा दे सकती है जिस पर अपराध का जुर्म प्रमाणित हो जाय और अपराध के लिए वही सीधे तौर पर (Directly) जिम्मेदार हो।

दंड की मात्रा :- दंड की मात्रा में कांट आदि अतिवादियों का विचार है कि दंड को अपराध के बिल्कुल बराबर होना चाहिए। यानी अपराध के द्वारा अपराधी ने समाज को जिस प्रकार का और जितना नुकसान पहुंचाया होगा उसी प्रकार का और उतना ही नुकसान उसे दंड के रूप में भुगतना होगा। तभी उसका सामाजिक ऋण उतर सकता है। पर इस सिद्धान्त में कई कठिनाईयाँ हैं : जैसे, Attempt to Murder (हिंसा का प्रयास) जैसे अपराध में अपराधी द्वारा किया गया वास्तविक नुकसान कोई खास नहीं होता पर इस आधार पर उसे छोड़ नहीं दिया जा सकता न ही बहुत मामूली सजा दी जा सकती है, क्योंकि उसका अपराध जघन्य होता है। दूसरे, बलात्कार आदि जैसे अपराधों के लिए कोई समान प्रकार का एवं समान मात्रा में दंड ढूंढ पाना असंभव है।

अत: उदारवादियों का मत है कि व्यक्ति को नैतिक रूप से उचित (morally fit) दंड मिलना चाहिए चूंकि बराबर एवं एक ही प्रकार के दंड की बात असंभव है।

फिर दंड की मात्रा को विभिन्न अपराधों की पारस्परिक gravity के समानुपातिक होना चाहिए ताकि बड़े अपराध के लिए अधिक दंड एवं छोटे अपराध के लिए कम दंड का विधान दिया जा सके।

दंड किसे दिया जाय :- कांट आदि अतिवादियों का मत है कि हर अपराधी (छोटे या बड़े) को दंड अनिवार्यत: मिलना चाहिए। पर उदारवादी इस बात पर अधिक जोर नहीं देते। उनका जोर सिर्फ इस बात पर है कि सिर्फ सिद्ध अपराधी को ही दंड मिलना चाहिए और किसी भी हालत में कोई निर्दोष दंडित न हो। निर्दोष को दंड मिलना समाज द्वारा किया गया अपराध है।

पर प्रतिकारवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि ऐसे संभावित अपराधी (Potent Criminals), जो कभी भी अपराध कर सकते हैं, को क्या Detention Act के अंतर्गत जेल में रखा जा सकता है? प्रतिकारवादी मानता है कि कोई भी व्यक्ति अपराध करने की संभावना रखता है और इसलिए इस आधार पर उसे दंडित नहीं किया जा सकता। पर क्या किसी आतंकवादी, पागल आदि को तबतक हम यूं ही छोड़े रहें जबतक वह किसी को भारी नुकसान न पहुंचा दे। कोई भी समाज उपयोगितावादी आधार पर detention act आदि के बिना काम नहीं चला सकता, न ही ऐसे लोगों को उन्मुक्त घूमने देना समाज के प्रति न्याय हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त तीनों प्रश्नों का सयुक्तिक जबाब निवर्तनवाद एवं सुधारवाद जैसे उपयोगितावादी सिध्दान्तों को छोड कर सिर्फ प्रतिवाद के द्वारा दे पाना भी सभी परिस्थितियों में संभव नहीं है। एक समन्वित दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक है पर समन्वित दृष्टिकोण को अपनाने का अर्थ यह भी नहीं है कि दंड के औचित्य संबंधी प्रथम प्रश्न का जबाब उपयोगितावादी ढंगसे दिया जाय, चूंकि यह Potent criminal या habitual criminal को दंडित करने की भी व्याख्या कर सकता है एवं शेष दो प्रश्नों का जबाब प्रतिकारवादी सिध्दान्त से दिया जाय।

वस्तुत: हर प्रश्न से संबंधित व्याख्या पेश करने में उपयोगितावादी एवं प्रतिकारवादी दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों की अपनी अपनी विशेषताएँ एवं सीमाएँ हैं। अत: एक समन्वित एवं संतुलित (balanced) दृष्टिकोन को अपनाना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप दंड के औचित्य के संबंध में प्रतिकारवादी सिद्धान्त भी एक उत्कृष्ट व्याख्या पेश करता है और मात्र निवर्तन या समाज को सबक सिखलाने के उद्देश्य से निरपराध को दंड देना एक सामाजिक अपराध है। पर यदि समाज की सुरक्षा अथवा समाज के व्यापक हितों को मद्देनज़र रखते हुए किसी व्यक्ति को घेरे में लेना अथवा दंडित करना अपरिहार्य हो जाय तो मात्र प्रतिकारवादी मूल्यों के आधार पर उसे मुक्त

कर देना भी अनुचित होगा।

इसी प्रकार दंड की मात्रा के संबंध में प्रतिकारवादियों का यह सिद्धान्त उचित है कि दंड को अपराध के बराबर रखने की चेष्टा करते हुए दंड को अपराधों की पारस्परिक gravity के अनुपात में निर्धारित करना चाहिए ताकि किसी भी अवस्था में न्यूनतर अपराध के लिए अधिक बड़े अपराध की तुलना में ज्यादा सजा न हो जाय। पर अपराध की मात्रा एवं संज्ञेयता को तय करने में समाज हमेशा उपयोगितावादी दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखेगा।

इस प्रकार उपयोगितावादी आधार से ऊपर उठकर शुद्ध बुद्धि पर आधारित सामान्य दंड संहिता की खोज असंभव है। उपयोगितावादी एवं प्रतिकारवादी दोनों ही दृष्टिकोणों को यथोचित रूप में साथ-साथ लेकर चलना आवश्यक है। दोनों के बीच की दीवार अत्यन्त ही पतली है।

राजेश कुमार सिंह

ग्राम+पो0-खैरा
वाया-रजौन=८१३१०७
जिला-भागलपुर
(बिहार)

इस्लाम-दर्शन में देश तथा काल का विचार

इस्लाम दर्शन के आरम्भिक युग में दूरी के स्वरूप तथा प्रवाह के अर्थ इत्यादि समस्याओं पर विचार प्रकट किए गए। उस समय इन्हें बौद्धिक समस्याओं के रूप में नहीं बल्कि ऐसी जीवन्त अवधारणाओं के रूप में लिया गया, जिससे इस्लामी समाज प्रभावित होता था। यद्यपि आधुनिक युग में दर्शन के क्षेत्र में सर्वांगीण विकास के साथ साथ देश तथा काल के विचारों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, देश तथा काल के विचारों का इस्लाम दर्शन के आरंभ में जिस प्रकार उदय हुआ और जन-मानस को उसने जिस ढंग से प्रभावित किया वह अन्य प्रकार के अकादमीय शोध का विषय है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इस्लामी दर्शन के इसी आरम्भिक पहलू का विवेचन करना है। इस्लामी दर्शन के आरंभिक तथा मध्ययुगीन युग में इब्ने सीना (दे. १०७३), गजाली (दे. ११५०) तथा इब्ने रूश्द ऐसे विचारक हैं जिन्होंने वैचारिक क्षेत्र में प्रमुख अवधारणाओं का प्रतिनिधित्व किया। अत: इस लेख में मुख्यत: इन्हीं विचारकों के विचार-प्रवाह की समीक्षा करने का प्रयास किया जाएगा।

इब्ने सीना सम्भवत: प्रथम विचारक थे जिन्होंने अरस्तू की शिक्षाओं के प्रभाव में इस्लाम के जगत् संबंधी विचारों को उक्त माध्यमों तथा इसके आधार-वाक्यों के तंत्र के रूप में प्रस्तुत किया। चूंकि इस्लामी दृष्टिकोण से स्रष्टा तथा सृष्टि के मध्य कोई माध्यम नहीं हो सकता अत: गजाली की पुस्तक *दार्शनिकों का खण्डन* बुनियादी तौर पर इस्लाम की मौलिक अनुभूतियों की रक्षा के लिए लिखी गयी। उनका उद्देश्य उन चिन्तकों के विचारों का खंडन करना था जो माध्यमों के अस्तित्व को वास्तविक मान कर इस्लाम के केन्द्रीय दृष्टिकोण को परिवर्तित करना चाहते थे। मगर गजाली अपने खंडन में इतना आगे बढ़ गये कि उनके दर्शन में विश्व की व्यवस्था तथा नियम

की समाप्ति हो गयी और किसी भी प्रकार के सार्वभौम नियम की क्रियाशीलता असंभव बन गयी। इस्लाम के दार्शनिक निकाय में इस प्रकार के विचारों की भी कोई गुंजाईश नहीं थी।

ऐसा विचार जिसमें प्रत्येक प्रकार की बौध्दिकता का निषेध हो, जिसमें सम्पूर्ण विश्व और उसके घटनाक्रम को हर प्रकार के नियम-व्यवस्था से स्वतन्त्र समझा गया हो और जिसमें समस्त अभिव्यक्ति एक रिक्त इच्छा का परिणाम समझ लिया गया हो, इस्लामी तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से ग्राह्य नहीं है । गजाली के तर्कों का निष्कर्ष यह है कि विश्व घटनाओं की ऐसी समष्टि है जो नियम-विहीन कभी यहां, कभी वहां, यदा-कदा प्रकट होते तथा लुप्त होते रहती हैं ।

अब स्थिति यह थी कि इब्ने सीना के यहां व्यवस्था तथा नियम तो संसार के अस्तित्व की आधार शिला है, मगर इसकी खोज उन्होंने साधन-व्यवस्था के अन्तर्गत की। परिणाम स्वरूप उनके दर्शन में अस्तित्व का पूर्णतम सिद्धान्त (ईश्वर) एक ऐसी पूर्णता तथा सार्वभौमिकता था जो इस घटना-पूर्ण संसार से साक्षात् संबंध नहीं रखता, बीच में साधन के रूप में माध्यमों का होना आवश्यक है। अत: प्रथम सिद्धान्त से प्रथम कार्य उत्पन्न हुआ और उससे द्वितीय कार्य उत्पन्न हुए, यहां तक कि परिवर्तन-पूर्ण संसार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार ईश्वर अपनी सृष्टि से बहुत दूर है, जबकि गजाली के यहां हर व्यक्ति तथा हर घटना ईश्वरीय क्रियाशीलता का बीत रहा क्षण है। ईश्वरीय क्रियाशीलता के लिए किसी प्रकार के सीमा अथवा नियम के बंधन के बारे में वे सोच नहीं सकते थे। इस प्रकार हम इब्ने सीना तथा गजाली को एक दूसरे के विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हुए देखते हैं, कि एक के यहां नियम-व्यवस्था है परन्तु वह दृष्टि नहीं जो इस्लाम की आधार भूत विशेषता है, दूसरे ने इस्लामी अनुभूतियों की रक्षा तो की मगर इस प्रकार कि हर व्यवस्था समाप्त हो गयी। परिणाम स्वरूप मुस्लिम चिन्तन पर बड़ा संकट आ गया। परन्तु इसी संकट के गर्भ से देश तथा काल की अवधारणा का उदय हुआ।

चिन्तकों तथा परम्परावादियों के मध्य जो विवाद बिन्दु था उसे अपनी पुस्तक *दार्शनिकों का खन्डन* की समस्या नं. १३ में गजाली ने प्रस्तुत किया है। परन्तु उनके अनुसार दोनों प्रकार के दार्शनिक इस एक बात पर सहमत हैं कि ईश्वर एक ऐसे सामान्य ज्ञान से विभूषित है जो काल से परे है तथा जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य के निर्धारण से परिवर्तित नहीं होता। इसका सीधा अर्थ है कि ईश्वर विशेषों को सामान्य ज्ञान के माध्यम से जानता है। इस दृष्टिकोण पर आपत्ति करते हुए गजाली प्रश्न करते हैं कि यदि सामयिक घटनाओं और वस्तुओं का ईश्वरीय ज्ञान, काल एवं परिवर्तन से प्रभावित नहीं है तो क्या ईश्वर को वास्तव में उस वस्तु का ज्ञान है? यदि ईश्वर का ज्ञान देश तथा काल से परे पूर्णत्व पर आधारित है तो सूर्य अथवा चन्द्र-ग्रहण के समय

यह नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर अब इस घटना को जान रहा है, न ही ग्रहण इस्लाम-दर्शन में देश तथा काल का विचार समाप्ति होने के बाद यह कहा जा सकता है कि वह जान रहा है कि अब क्या हो गया है। हर वह घटना जो काल संबंधों द्वारा वर्णित होती है उसके ज्ञान में नहीं आ सकती, क्योंकि ऐसा ज्ञान ज्ञाता की परिवर्तनशीलता को ही सिद्ध करेगा।

कहा जा सकता है कि इब्ने सीना का उद्देश्य महान् था । वे चाहते थे कि ईश्वरीय अस्तित्व अपने सार के कारण अर्थात् परिवर्तन से परे होने और निर्धारण से उसके अस्तित्व के परे होने के कारण उसके ज्ञान के स्वरूप को यहां वहां अब और जब के निर्वचन से भिन्न वर्णित हो। किन्तु जो समाधान लेकर वे आये उससे ईश्वरीय ज्ञान पर एक नवीन बंधन लागू हो गया कि उसका ज्ञान केवल सामान्यों तक सीमित होकर रह गया; अत: विशेष घटनाओं का स्वरूपत: ज्ञान उसे नहीं हो पाता है।

अत: गजाली ने ईश्वरीय ज्ञान के संबध में इब्ने सीना के विचार का खंडन किया कि ईश्वर विशेषों को विशेष ज्ञान के द्वारा ज्ञात करता है। गजाली ने यह विचार भी प्रस्तुत किया कि सान्त घटनाओं तथा वस्तुओं के ज्ञान से ईश्वरीय सार में कोई परिवर्तन नहीं आता। परन्तु गजाली का यह सामधान इस दार्शनिक कठिनाई से वंचित नहीं रह सकता कि चूंकि दैशिक तथा कालिक अस्तित्वों का ज्ञान ज्ञाता से दैशिक या कालिक संबंध की अपेक्षा रखता है। अत: प्रत्यक्ष का विषय तथा प्रत्यक्षकर्ता में कालिक तथा दैशिक संबंधों का होना अनिवार्य है। यदि ईश्वर का ज्ञान विशेष है तो ईश्वर को विशेषों के आधार पर यहां वहां अब या जब होना चाहिए। ऐसा लगता है कि इब्ने सीना तथा गजाली दोनों अपने दर्शन की कठिनाइयों को अनुभव नहीं कर सके। अत: प्रथम सिद्धांत (ईश्वर) का अनुभूत विशेषों तथा व्यक्तियों से क्या संबंध है यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहा। इब्ने रूश्द ने अपनी पुस्तक *खण्डन खंड* में इन दोनों चिन्तकों के विचारों की उर्पयुक्त कठिनाई को स्पष्ट किया और अपना वह समाधान प्रस्तुत किया जिससे संख्यात्मक देश काल का विचार इस्लामी दर्शन का एक अंग बन गया।

इब्ने रूश्द गजाली के इस निष्कर्ष से सहमत हैं कि विशेष ज्ञान का सामान्य ज्ञान में विघटन संभव नहीं है। अत: इब्ने रूश्द ने गजाली की भांति इस आधार पर इब्ने सीना की आलोचना की कि सामान्य ज्ञानके माध्यम से विशेषों का ज्ञान संभव है। परन्तु इब्ने रूश्द गजाली पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि उनके निष्कर्ष पूर्वाग्रह पर आधारित हैं। उनका कहना है कि ठोस वस्तुओं के बारे में ईश्वरीय ज्ञान तथा मानव अनुभूतियों में समानता ढूंढना और तुलना करना संगत नहीं है। जो इस ज्ञान के इस प्रकार के उदाहरण पर विचार करता है वह ईश्वर को शाश्वत मनुष्य तथा मनुष्य को नश्वर ईश्वर बना देता है।

इब्ने रूश्द ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि ईश्वरीय ज्ञान सामान्यों के

संयोग की भांति का नहीं है, क्योंकि सामान्य ज्ञान का स्रोत भी मानव बुद्धि है। इसके अतिरिक्त वह विशेष ज्ञान की भांति भी नहीं है, क्योंकि विशेष ज्ञान भी मात्र मानव अनुभूति है। इब्ने रूश्द का कहना है कि हम इसलिए ईश्वरीय ज्ञान को न तो विशेष मानते हैं न सामान्य क्योंकि ऐसा ज्ञान जिसमें विशेषत्व तथा सामान्यत्व के विचार हों वह मानव बुद्धि का ही परिणाम होगा। परन्तु परम बुद्धि सम्पूर्ण सक्रियता तथा कारणता है। अत: उसके ज्ञान तथा मानव ज्ञान में कोई तुलना नहीं।

विशेषों का निर्धारण यह है कि यह विशेष काल व विशेष देश में प्रस्तुत होते हैं जब कि सामान्यों का निर्धारण यह है कि सामान्य काल तथा सामान्य देश द्वारा प्रस्तुत होते हैं। सामान्य काल विशेष काल का एक प्रकार है जबकि विशेष काल सामान्य काल का विशेषत्व। इसी प्रकार सामान्य देश विशेष देश का प्रकार है और विशेष देश सामान्य देश की विशेषता है। दूसरे शब्दों में, सामान्यत्व तथा विशेषत्व की परिधि की घटना पूर्ण काल है और यह काल है जो अपने अंशों में व्याप्त है।

इस से एक बात स्पष्ट है कि इन इस्लामी दार्शनिकों ने काल की समस्या को ज्ञान के स्वरूप के अन्तर्गत रखा। अर्थात्, ज्ञान कें तात्त्विक स्वरूप की समस्या के अन्तर्गत रखा। उपस्थिति एक ऐसी तात्त्विक शर्त है जो ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य ज्ञानात्मक संबंध के लिए अपरिहार्य तथा अनिवार्य है। बिना इस शर्त को पूरा किये, किसी ज्ञान का अस्तित्व नहीं। उपस्थिति के दो पक्ष होते हैं-देश तथा काल।

चूंकि ईश्वर को समस्त वस्तुओं तथा पदार्थों का साक्षात् ज्ञान है। अत: उपस्थिति की शर्त के अनुसार ईश्वरीय काल तथा ईश्वरीय देश का भी अवश्य अस्तित्व होना चाहिए जो भौतिक काल तथा देश से अपने स्वरूप में बिल्कुल भिन्न हो। इस तर्क से अनेक देश तथा अनेक काल का विचार मिलता है जो हमदानो का दृष्टिकोण है। मानव ज्ञान की यह विशेषता है कि यह अंशों के सामान्यीकरण से समष्टि तक पहुंचता है अथवा समष्टि के विशेषीकरण से अंशों तक पहुंचता है। चूंकि ईश्वरीय ज्ञान सामान्यीकरण तथा विशेषीकरण से परे है अत: प्रथम सिद्धान्त अथवा ईश्वर को सब का साक्षात् ज्ञान होता है। इस विचार से ईश्वरीय काल तथा ईश्वरीय देश के स्वरूप के बारें मे कुछ न कुछ विचार आवश्यक प्राप्त होता है।

ईश्वर को समस्त वस्तुओं तथा पदार्थों का, बिना विशेषत्व तथा सामान्यत्व के, साक्षात् ज्ञान है। यह इस बात का परिचायक है कि ईश्वर समस्त वस्तुओं तथा पदार्थों से निकटता रखता है। निकटता की खोज का सिद्धांत इस ईश्वरीय देश तथा ईश्वरीय काल की विशेषता है। हमदानो के विचार से ईश्वरीय देश समस्त पदार्थों पर तथा ईश्वरीय काल समस्त क्षणों पर व्याप्त है। ईश्वरीय काल का कोई ऐसा क्षण नहीं है जो अभी तक न बीता हो। अतएव इसमें काल के समस्त परिवर्तन हैं, इसमें उपस्थित होने से हर घटना ईश्वरीय ज्ञान के साक्षात् सम्पर्क में है। ईश्वरीय देश

का भी स्वरूप इसी प्रकार का है। विश्व का कोई कण ऐसा नहीं है जो इस देश में दूसरे की तुलना में ईश्वरीय निकटता से दूर हो, सब को समान निकटता प्राप्त है। अतः दांया-बांया, नीचे ऊपर जैसे संबोधन ईश्वरीय देश पर लागू नहीं होते। उसी प्रकार अब और जब की भिन्नताएं भी ईश्वरीय काल पर लागू नहीं होती। यही कारण है कि ईश्वरीय ज्ञान के संबंध में विभाजन तथा अनेकता असंगत हो जाती है। वह इकाई ज्ञान है जिसके समक्ष सब प्रस्तुत है और मानव ज्ञान से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

इब्ने सीना के दर्शन में यद्यपि किसी उच्चस्तरीय देश का विचार नहीं मिलता परन्तु एक उच्च स्तरीय काल की अवधारणा अवश्य मिलती है जिसे शाश्वतता की संज्ञा दी जाती है। उनका विचार था कि काल का न तो कोई आरंभिक बिन्दु है और न कोई अंतिम सीमा। गजाली ने इस विचार का खण्डन किया परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस्लामी सांस्कृतिक विचारधारा में विश्व की गति तथा काल की शाश्वतता के खण्डन में गजाली के विचारों को महत्त्व नहीं दिया गया। राज़ी तथा इब्ने रूश्द इत्यादि दार्शनिकों ने भी इब्ने सीना के विचारों से सहमति व्यक्त की कि काल अनादि तथा अनंत है, परन्तु वे भिन्न कारणों से ऐसा मानते थे।

गजाली के अनुसार काल को अनादि मानने से दो वस्तुएं अनादि हो जाती हैं- ईश्वर तथा काल। अतः उन्होंने काल की अनादि विचारधारा का खण्डन करना आवश्यक समझा। इब्ने रूश्द का कहना है कि जब गजाली यह यिद्ध करते हैं कि काल का कोई न कोई आरम्भ होता है तो वह घटनापूर्ण संसार की तार्किक स्थिति तथा अस्तित्व के विभिन्न प्रकारों के भेद को नहीं देख पाते और मिथ्या तर्कों में पड़ जाते है। गजाली का कहना है कि जिस प्रकार किसी अनन्त क्रम का क्रियाशील अस्तित्व नहीं, अनन्त काल का भी सक्रिय अस्तित्व नहीं होता, इसलिए देश की सीमाएं होती हैं, अतः देश से बाहर न तो रिक्तता है और न परिवर्तन। काल भी देश की भांति है। यह अनंत नहीं हो सकता। संसार का आरम्भ है और उसकी सृष्टि हुई है। अतएव काल से पहले कोई संसार न था।

गजाली कहते हैं कि काल के आरम्भ से पूर्व एक और आदि सीमा, फिर उस सीमा से पहले एक और भूत कालिक सीमा का स्रोत मानव कल्पना की दरिद्रता को सिद्ध करता है। मानव बुद्धि किसी वस्तु के आरम्भ को उस समय तक प्रस्तुत नहीं कर सकती जब तक उस आरम्भ से पहले एक और आरम्भिक सीमा की कल्पना नहीं कर लेती। इसलिए आरम्भिक सीमा से भी पहले एक और आरम्भिक सीमा को वह वास्तविक समझ लेता है। इस कल्पना की उत्पत्ति यह अवधारणा है कि देश की सीमा से परे एक और सीमा है जो रिक्तता है। गजाली का कहना है कि देश से परे अवधारणा में कल्पित रिक्तता अथवा शून्य अथवा पूर्व-विस्तार-शून्यता का निषेध

सम्भव है। जिस प्रकार देश में विस्तार शरीर के अनकूल होता है उसी प्रकार काल की निरन्तरता गति की अनकूलता में होती है। अत: जिस प्रकार शरीर का सशर्त, ससीम विस्तार देश की पूर्व-शून्यता विस्तार के औचित्य का निषेध करता है, उसी प्रकार गति के आरम्भ और अन्त में पूर्णता का होना काल के पूर्णशून्यता तक निरन्तरता के विचार का विरोधी है। गजाली यह कह कर अपने तर्क को पूरा करते हैं कि आरम्भ तथा अन्त, ऊपर तथा नीचे में कोई अन्तर नहीं है। यदि आप कहते हैं कि ऐसा अस्तित्व है जिसमें आरम्भ होने के पहले कुछ न कुछ हो अचिंत्य हो तो हमारा उत्तर यह होगा कि एक सीमित शरीर जिसके आगे और कुछ न हो वह भी अचिंत्य है। यदि आप कहें कि इस शरीर के आगे स्वयं उसकी सीमाएं हैं जिससे वह सीमित है तो हम कहेंगे कि बिल्कुल इसी प्रकार उस वस्तु की प्रारम्भिक सीमाएं उसके अस्तित्व का आरम्भ है जिससे वह वस्तु अतीत में सीमित है। अपने इस तर्क के बारे में गजाली का कहना है कि इस तर्क से यह स्पष्ट है कि काल सान्त है जो एक ओर आरम्भिक सीमा से तथा दूसरी ओर आत्यन्तिक सीमा से सीमित है।

गजाली के तर्कों को परखने के लिए प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ईश्वर के लिए यह सम्भव था कि संसार को वह कुछ समय पहले उत्पन्न कर देता? गजाली के विचार को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो यह प्रश्न ही असंगत है, क्यों कि संसार की किसी घटना से इसका सम्बंध नहीं है। उनके विचार में काल का आरम्भ हुआ है और उसका अस्तित्व सान्त है। अतएव इसके आरम्भ से पूर्व कोई और काल न था। गजाली का यह विचार दो आधार-वाक्यों पर आधारित है :

(क) काल गति है अथवा परिमाण गति है, तथा
(ख) कारणात्मक श्रृंखला होने के कारण प्रत्येक गति का एक आदि काल है।

गजाली के इस तर्क का दोष यह है कि वे समान सत्ता को स्थायित्व तथा परिवर्तन के एक ही धरातल पर विघटित कर देते हैं और वह सत्ता ऐसी है कि उसकी आरम्भिक श्रृंखला में प्रथम कारण है अतएव वह आदि सीमा है। इस प्रथम कारण से संयोजन तथा नियोजन का एक ऐसा क्रम आरम्भ होता है जो रूपान्तरण तथा उत्पत्ति के विभिन्न चरणों और स्थितियों से होते हुए एक अन्तिम सीमा तक पहुंचता है और वही काल है। अतएव यदि विश्व की सारी श्रृंखलाओं को देखा जाए तो प्रथम कारण पहली कड़ी बन जाता है जिससे कारणात्मक श्रृंखला आरम्भ होकर अन्तिम कार्य पर समाप्त हो जाती है। अत: इन दो सीमाओं के मध्य अर्थात् प्रथम कारण तथा अंतिम कार्य के मध्य काल अवधि है, जिसके अन्तर्गत कारण-कार्य की निरन्तरता पायी जाती

है, अर्थात् श्रृंखला की प्रत्येक वस्तु अपने पूर्ववर्ती का कार्य तथा अनुवर्ती का कारण होती है। केवल प्रथम कारण और अंतिम कार्य इससे वंचित रहते हैं क्योंकि प्रथम कारण केवल कारण है क्योंकि इससे पहले कुछ नहीं और अंतिम सदस्य केवल कार्य है, वह किसी का कारण नहीं। इस प्रकार गजाली का यह प्रयास कि विश्व को सान्त तथा आरम्भ से सीमित सिद्ध किया जाए इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि स्वयं ईश्वर इस काल श्रृंखला का एक अन्त (चाहे आरम्भिक ही सही) बन जाता है। और इस विश्व की घटनाओं के क्रम का सदस्य होकर रह जाता है। दूसरे शब्दों में, गजाली के चिन्तन का अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि ईश्वर स्वयं काल-गणना का प्रथम क्षण है और परिवर्तन और संयोजन का एक प्रकार भाग है तथा अतीत का मात्र एक बिन्दु हैं।

गजाली द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विचार से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि वे यह गुत्थी न सुलझा सके कि शाश्वत अस्तित्व से किस प्रकार सांसारिक वस्तुओं का क्रम आरम्भ होता है। इब्ने रूश्द ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए देश तथा काल की अनेकता और विभाजन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। हम कह सकते हैं कि हर प्रकार के काल में उसके अपने प्रकार की कारणता विद्यमान रहती है जो दूसरे प्रकार के काल की कारणता से भिन्न होती है। इब्ने रूश्द ने यह भी स्पष्ट किया कि सांसारिक घटनाओं के पूर्व भी सांसारिक घटनाएं होती हैं और उसके पश्चात् भी; और यह कि इस सांसारिक क्रम में जो कारणता विद्यमान रहती है वह विशेष कारणता होती है, जबकि ईश्वरीय स्तर पर जो कारणता विद्यमान रहती है वह सारीय कारणता होती है।

इब्ने रूश्द ने इस बिन्दु को भी स्पष्ट किया कि विशेष घटनाओं के क्षेत्र में एक से दूसरी वस्तु का क्रम अनन्त घटनाओं तक असम्भाव्य नहीं है। उसके तर्कों को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं: उनके अनुसार कुछ विचारक काल के अनन्त अस्तित्व को एक घटना के रूप में स्वीकार करते हैं। इसकी विशेषता यह है कि पूर्ववर्ती इसमें लीन हो जाता है, अनुवर्ती इस पूर्ववर्ती से घटित होता है और इस प्रक्रिया को आप अनन्त क्रम के रूप में जान सकते हैं। इस पूरी प्रक्रिया और इसके क्षणों का एक विशिष्ट स्तर है जो किसी अन्य सिद्धान्त से नहीं टकराता है। उत्पत्ति और विनाश का सिद्धान्त निरन्तर परिवर्तन के क्रम को उत्पन्न करता है और इस क्रम का केन्द्र शरीर होता है जो सीमित होता है। अनादि से अनंत तक ऐसा हो सकता है और यही घटनाओं की कारणता का संसार है। इसका अपना स्तर है जहां प्रत्येक गति अपनी पूर्ववर्ती गति से उत्पन्न होती है और अपनी अनुवर्ती गति का कारण बन जाती है। इस प्रकार की गतियों की समष्टि यह घटनाओं का संसार है। यदि काल गति है अथवा गति माप है तो विशेष काल के लिए आवश्यक नहीं है कि ऐसी सीमा हो जिससे पहले कोई और सीमा न हो या एक सीमा हो जिसके बाद कोई और सीमा न हो। परन्तु प्रथम सिद्धान्त

(ईश्वर) या उसकी क्रियाशीलता घटनाओं की इस समष्टि का सदस्य नहीं है, इस पूरी श्रृंखला में किसी की कड़ी नहीं है; वह इनसे उच्च है।

इब्ने रूश्द के दर्शन की विशेषता यह है कि उन्होंने कारणात्मक श्रृंखला की स्वरूपगत विशिष्टताओं को स्पष्ट किया जिसके कारण काल-संसार अनन्त होते हुए भी ईश्वरीय काल के तुल्य नहीं हो सकता। अतएव ईश्वरीय काल अथवा शाश्वत काल तथा अस्तित्ववादी काल अर्थात् सांसारिक काल की कोटियां एक दूसरे से भिन्न होती हैं। ईश्वरीय काल में सारीय कारणता होती है तथा अस्तित्ववादी काल में विशेष कारणता। इस प्रकार इब्ने रूश्द गजाली तथा इब्ने सीना इन दोनों की त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करते हैं। उनका समाधान यह है कि ईश्वरीय कारणता अर्थात् प्रथम गति की क्रियाशीलता अपने स्वरूप में सारीय कारणता होती है और विश्व क्रम का इस प्रकार अंग नहीं होती जिस प्रकार किसी घटना का अंग उसका आरम्भ अथवा अन्त होता है। उन्होंने यह बिन्दु स्पष्ट किया कि ईश्वर की सारीय क्रियाशीलता की विशेषता यह है कि "वह प्रत्येक गतिशील वस्तु के साथ होता है, जब वह गति में होती है .... क्योंकि वह कर्ता जो मानव अस्तित्व की पहली तथा अंतिम शर्त है, प्रथम कर्ता है "।

प्रथम कर्ता का इस प्रकार होना प्रत्येक प्रकार के अस्तित्व की भी शर्त है। प्रथमकर्ता संसार तथा उसकी गति से इस प्रकार संबंधित नहीं है जैसे प्रथम अंक तमाम अंकों से संबंधित है। ईश्वर का संसार से सम्बन्ध दूसरे ही प्रकार का है, वह न केवल सांसारिक श्रृंखला के आरम्भ से सम्बन्ध रखता है बल्कि वह उस क्रम के प्रत्येक सदस्य यहां तक कि श्रृंखला की सारीय कारणता है। इस स्पष्टीकरण से पता चलता है कि ईश्वरीय शाश्वतता का सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्ध किस प्रकार का है। ईश्वरीय शाश्वतता सांसारिक काल के अन्तर्गत सांसारिक वस्तुओं के अस्तित्व को सार रूप से निर्धारित करती है। इब्ने रूश्द ने अस्तित्व के बारे में कहा कि इसके दो प्रकार हैं : प्रथम, वह जिस का स्वरूप गति है और जिसे काल से पृथक् नहीं किया जा सकता। द्वितीय, वह अस्तित्व जो गति में नहीं है और जो शाश्वत और जिसका काल की सीमाओं में वर्णन नहीं किया जा सकता। अतएव इनमें पहले की कारणता न तो काल की प्राचीनता पर आधारित है न कारण कार्य की ऐसी प्राथमिकता पर आधारित है जो गतिशील वस्तुओं में पायी जाती है। इस्लाम के अन्य दार्शनिकों ने यही भूल की कि उन्होंने सांसारिक वस्तुओं के परिवर्तन के कालिक अस्तित्व की कारणता को किसी गतिशील वस्तु की कारणता के उदाहरण के आधार पर स्पष्ट किया, जब दोनों में भिन्नता पायी जाती है।

जहां तक गजाली के यहां दैशिक विस्तार तथा कालिक क्षण की तुलना का सम्बन्ध है, इब्ने रूश्द को कहना पड़ा कि यह मात्र वितंडावाद है। एक ऐसे दैशिक विस्तार

का विचार जो एक विस्तार का आरम्भ हो और जो दूसरे विस्तार के आरम्भ में निहित हो, उस अस्तित्व अर्थात् विस्तार के स्वरूप तथा परिभाषा के विपरीत है। विस्तार आयामों से सीमित होता है। इसके विपरीत काल के आरम्भ से पूर्व और काल के अन्त के पश्चात् का जो विचार है वह स्वयं इन सीमाओं में चिन्तन करना है, जो काल की प्रकृति के अनुरूप है।

काल में किसी ऐसी आदि सीमा का चिन्तन नहीं किया जा सकता जो किसी दूसरे काल की अंतिम सीमा न हो। अत: क्षण की परिभाषा भी यही है कि वह अतीत का अंत और भविष्य का आरम्भ होता है और यह वर्तमान होता है जो अतीत तथा भविष्य के मध्य अवस्थित होता है। किसी ऐसे वर्तमान का विचार जिसके पूर्व कोई अतीत न हो मिथ्या है। इसके विपरीत ऐसे बिन्दु का विचार किया जा सकता है जिससे किसी रेखा का आरम्भ होता है बिना इस तथ्य के कि वह किसी अन्य रेखा का अन्त भी है। अत: क्षण का अस्तित्व बिना अतीत का व भविष्य के नहीं हो सकता। उसकी सार-विशेषता यह है कि वह अतीत के बाद और भविष्य के पूर्व विद्यमान हो। इसके अतिरिक्त यह अपने आप से भविष्य के आरम्भ में विद्यमान नहीं हो सकता,जब तक कि अतीत का अस्तित्व न हो और वह इस अतीत की अंतिम सीमा न हो।

इब्ने रूश्द ने गजाली की इस भूल को भी सुधारा कि बिन्दु तथा क्षण का स्वरूप समान होता है। उनके अनुसार दोनों में केवल यही समानता है कि दोनों कभी साथ अस्तित्ववान् नहीं होते। अत: दो बिन्दु कभी इकट्ठा नहीं रह सकते और न दो क्षण एक ही समय विद्यमान रहते हैं । अन्तर केवल यही है कि बिन्दु अपने अस्तित्व से स्वयं को सिद्ध करता है, उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य बिन्दु की आवश्यकता नहीं होती, जबकि प्रत्येक क्षण अन्य क्षणों के पश्चात् और आने वाले क्षणों से पूर्व पाया जाता है। इस प्रकार अपने अस्तित्व में वह ऐसा होता है कि उसे अपने बीतने की अपेक्षा होती है, और यह अपेक्षा उसके अस्तित्व का अंग होती है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति, जो ऐसे क्षण को सत्य मानता है जो ऐसा वर्तमान हो जिसके बाद भविष्य न हो तो वह काल तथा क्षण दोनों का निषेध करता है।

अब इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है कि विश्व के पूर्व क्या था? इब्ने रूश्द के विचार से विश्व की सृष्टि के पूर्व अभाव था। अभाव का अर्थ वस्तु- विहीनता नहीं, बल्कि उन कारणों तथा शर्तों का योग है जो विश्व सृष्टि की प्रक्रिया में नष्ट हो गए। अत: एक समय था कि विश्व नहीं था, उसके बाद यह समय है कि विश्व है फिर एक समय आएगा कि विश्व नहीं होगा। अत: काल था, काल है और काल रहेगा और विश्व इसमें अभाव से भाव, भाव से अभाव के परिवर्तन में है। इब्ने रूश्द का कहना है कि इस कालिक परिवर्तन की कोई आदि सीमा नहीं है, परन्तु इसकी काल-विहीन शाश्वतता का विचार करना बिल्कुल ही मिथ्या है। शाश्वतता अस्तित्व

की दृष्टि से एक बिल्कुल ही भिन्न बात है । सांसारिक काल में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता है ।

एस.शाहिद अहमद

दर्शन विभाग
ओरिएन्टल कॉलेज
पटना सिटी - ८००००८
पटना (बिहार)

मानस में दाम्पत्य प्रणय

मानस को दाम्पत्य का विश्वकोश कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। उसमें जहाँ एक ओर श्रद्धा-विश्वास-समन्वित सम्पूर्ण समर्पणमय दाम्पत्य के प्रणय चित्र हैं, समवयस्क युगलों का हृदयहारी अनुराग है, वहाँ दूसरी ओर बेमेल दम्पती में परस्पर स्वार्थों का टकराव और उनके जीवन के करुण मार्मिक अंत की हृदयारंजक झाँकी भी है। सद्गृहिणी की पति को प्रेरणा और निर्भीक अंतरंग साचिव्य का प्राणदायी अमृत भी उसमें भरा है। आत्म कल्याण अथवा विश्वकल्याण के पथ पर पति के चरण चिन्हों का छाया की भाँति अनुसरण करने वाली पत्नी ने भारतीय संस्कृति द्वारा दिए गए अपने 'अर्धांगिनी' नाम को *मानस* में पूर्णतः सार्थक कर दिखाया है। चार प्रकार के दम्पतियों को *मानस* में लिया गया है - १.देव दम्पती २.मानव दम्पती ३.ऋषि दम्पती और ४. आर्येतर दम्पती। अब क्रमशः इनके दाम्पत्य प्रणय के संक्षिप्त भावचित्र प्रस्तुत किए जाते हैं :-

सर्व प्रथम **देव-दम्पती** सती-शिव का मनोहर और प्रेरक प्रणय चित्र मानस-पटल पर अंकित किया गया है। मानसकार ने बालकांड के मंगलाचरण में ही - "भवानी-शंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास रूपिणौ । याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्" कहकर उनकी दाम्पत्य महिमा का यशोगान किया है। भवानी श्रद्धा हैं तो शंकर विश्वास। एक नारी हैं तो दूसरे नर। श्रद्धा में निश्शंक-निरपेक्ष समर्पण है तो विश्वास में संरक्षणमय ग्रहण। एक में नारी सुलभ कोमलता और सरलता है तो दूसरे में पौरुष की कठोरता और जीवन के नानाविध घात-प्रतिघातों को झेलने की दृढता। "भवानी" का अर्थ भव अर्थात् भगवान् शंकर की पत्नी या विश्व की नियामिका शक्ति है। उसका स्वरूप है

श्रद्धा और आधार है विश्वास। भवानी-शंकर अर्थात् श्रद्धा और विश्वास या कल्याण अभिन्न हैं। जहाँ भवानी है वहाँ भव हैं। श्रद्धा और विश्वास का सम्यक् ग्रहण हमें सिद्ध बना देता है। ये व्यक्तित्व के भवन की आधार शिलाएँ ही नहीं , ये वे नेत्र भी हैं जिनसे हम अपने हृदयस्थ परमात्मा को देख सकते हैं। जिसके पास श्रद्धा का सम्बल नहीं, श्रद्धा के प्रेरक संतों का साथ नहीं, उन्हें सत्स्वरूप प्रभु से प्रेम कैसे हो सकता है? और बिना राम के प्रेम के संसार से छुटकारा पाना संभव नहीं -

जे श्रध्दा सम्बल रहित,नहीं संतन कर साथ ।

तिन कहे मानस अंगम अति जिनहिं न प्रिय रघुनाथ।। **बालकाण्ड,३८ दोहा,** *रामचरितमानस*। श्रद्धा में जबतक वितर्क बुद्धि का समावेश नहीं होता, तब तक वह विश्वास से अभिन्न रहती है, जीवन में सरसता बनी रहती है और विपत्तियों का स्वयमेव परिहार होता रहता है। किन्तु ज्योंही श्रद्धा में वितर्क बुद्धि का समावेश हुआ, वह विश्वास से दूर जा पड़ती है, जीवन विरस हो जाता है और व्यक्ति को नानाविध विपत्तियाँ घेर लेती हैं। इसी को सती-शिव के प्रतीकात्मक कथानक के माध्यम से कवि ने अभिव्यक्ति दी है। अगस्त्य के आश्रम से लौटते समय भगवान् शंकर सीताहरण पर शोकाभिभूत होकर आँसू बहाते हुए राम की नरलीला देखकर भाव-विव्हल हो उठे। उन्हें दूर से ही"जय सच्चिदानंद जग पावन"कहकर प्रणाम किया, उन शंकर ने जो कामारि हैं, जिनके तीसरे नेत्र की ज्वाला से सम्पूर्ण सांसारिक वासनाओं और भोग-लालसाओं का अधिष्ठान कामदेव भस्म हो जाता है। सती को वितर्क बुद्धि ने घेर लिया, श्रद्धा विखंडित हो गई-"नारी के विरह में शोकाभिभूत एक सामान्य कामार्त नर भी, जो अज्ञ है, जो यह भी नहीं जानता कि उसकी अपहृता पत्नी कहाँ है और न ही उसमें उसे अपहरणकर्ता से छुडाने की शक्ति है; सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भगवान् शंकर प्रणाम करें " यही तो उनके संदेह का कारण था। प्रेम की स्थिरता के लिए विश्वास चाहिए, निरपेक्ष संशयरहित समर्पणभाव चाहिए। भगवान् शंकर ने सती को बहुतेरा समझाया किन्तु उनके मन में बात कुछ जमी नहीं। उन्होंने परीक्षा ली उस सर्वेश्वर की और भगवान् शिव से परीक्षा लेने के ढंग को छिपा लिया। वे विश्वास से दूर जा पडीं, शिव के हृदय में उनके प्रति प्रेमभाव विखंडित हो गया क्योंकि संदेह, कपट और दुराव-छिपाव विश्वासमूलक प्रेम के सबसे बडे शत्रु हैं। जहाँ श्रद्धा-विश्वास-समन्वित निश्चल प्रेम है वहाँ पानी भी दूध के साथ मिलकर उसी के भाव बिक जाता है। पवित्र प्रेम में महत्त्वहीन वस्तु भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, किन्तु कपट या दुराव-छिपाव से घनीभूत या प्रगाढ प्रेम भी उसी तरह विरसता में बदल जाता है जैसे खटाई के पड़ते ही दूध फट जाता है-

जलु पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि ।

बिलग होइ रसु जाइ, कपट खटाई परत पुनि।। **बाल०,५७(ख)**, *रा०मानस*।।

भगवान् शंकर के दाम्पत्य प्रणय की सरिता में एक पत्नीत्व की विमल स्फीत अविरल धारा बही है। अपने पति भगवान् शंकर के अपमान से विक्षुब्ध सतीजी ने क्षार-क्षार कर दिया उस देह को जो अपमानित करने वाले पिता दक्ष के शुक्र से संभूत अतः अपावन भी। मन और हृदय का संबंध तो देह से और पारिवारिक संस्कारों से होता है। वे थीं दक्षकी पुत्री - चतुर की बेटी। श्रद्धा और विश्वास को संदिग्ध दृष्टि से देखने वाले, वितर्क बुद्धि का आश्रय लेकर उन्हें महत्त्वहीन समझने वाले पिता की कन्या। इसीलिए तो राम के प्रसंग में उनकी शंका को भगवान् शंकर भी दूर नहीं कर पाए क्यों कि मानव की प्रकृति अपरिवर्तनीय होती है। प्रकृति पर वंश-परम्परा और व्यक्तिगत साधना का प्रभाव पडता है। वंश परम्परा के संस्कार से मुक्ति जन्मांतर द्वारा होती है, योगियों के कुल में जन्म लेकर होती है और जन्मान्तर के संस्कारों को तपः साधना द्वारा पवित्र किया जाता है, तभी प्रकृति भी बदलती है। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म लिया पवित्रता, त्याग, तप और गुरुता के प्रतीक अचंचल, स्थिर (जड़) बुद्धिवाले नगाधिराज हिमालय के यहाँ; और कठोर तपःसाधना की। इधर सतीजी के आत्मदाह के बाद ग्रीष्मकालीन महानद के प्रवाह की तरह शिव का पत्नी प्रणाय स्वल्पजलवाला अतः क्षीण (धीमा) तो हो गया किन्तु सूखा नहीं । उसका प्रवाह भी दूसरी तरफ मुड़ा नहीं। न तो एकाकी शिव ने सती के शाश्वत वियोग पर अपने जीवन की सरसता को खोया और न दूसरा विवाह ही किया। उन्होंने जब अच्छी तरह जान लिया कि पार्वती अन्य कोई नहीं, उनकी पूर्वजन्म की प्रियतमा सतीजी ही हैं, जिन्होंने हिमालय के घर जन्म लेकर दीर्घकालीन तप-द्वारा अपने मन और बुद्धि को स्थिर कर लिया है, उन्हें श्रद्धा-विश्वास की भावभूमि बना लिया है तब कहीं उन्होंने उनसे विवाह किया। उन्होंने समष्टि का कल्याण करनेवाले कार्तिकेय जैसे तेजस्वी वीर पुत्रकी उत्पत्ति के लिए ही दाम्पत्य को स्वीकार किया था, भोग के लिए नहीं।

२. **मानव दम्पती** : मानव दम्पती में कैकेयी-दशरथ और सीता-राम को गोस्वामीजी ने लिया है। पहले लीजिए कैकेयी-दशरथ के दाम्पत्य प्रणय को। यद्यपि महाराज दशरथ की तीन रानियाँ थीं परंतु *रामचरित मानस* में कैकेयी-दशरथ के दाम्पत्य का ही विशद चित्रण है। अतः अन्य दो रानियों को यहाँ छोड दिया गया है।

महाराज दशरथ ने यद्यपि संतान के लिए ही अनेक विवाह किए थे तथापि उनके रूपलोभ और भोगलालसा को नकारा नहीं जा सकता। स्त्री के मातृत्व में ही उनका मन नहीं रमा, उसका कामिनीत्व उन्हें कहीं अधिक आकर्षक लगा। गोस्वामीजी ने स्पष्ट कहा है -

सुरपति बसह बाहँ बल जाकें । नरपति सकल रहहिं रुख ताकें ।।
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई । देखहु काम प्रताप बडाई ।।
सूल कुलिस अति अँगवनि हारे । ते रतिनाथ सुमन सर मारे ।। अयोध्या०,

चौ० २५, *रा.मानस* ।।

सुदीर्घ गृहस्थ जीवन सानंद पूर्ण कर लेने पर भी वानप्रस्थी न होना तथा वृद्धावस्था के सूचक श्वेत केशों का ख्याल न करके कैकेयी के प्रति उनका काम-परवशता भरा प्रणय निवेदन उनके वासनाओं से चिपके रहने का ही तो परिचायक है। फलत: उन्होंने राम को खो दिया। क्योंकि जहाँ काम है, उद्दाम विषयैषणाएँ हैं, कामिनी और कांचन के प्रति अटल अनुराग है वहाँ राम भला कैसे रह सकते हैं? वहाँ भगवत्कृपा और कल्याण की कल्पना निराधार है -

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकहिं, रवि रजनी इक ठाम ।।

उन्होंने - "जानेसि मोर सुभाउ बरोरू । मन तव आनन चंद्र चकोरू" चौ.२६,अयो. का., *रा.मानस* ।।
तथा - "भामिनि राम सपथ सत मोही" ।।वही।। कहकर रामसे कहीं अधिक अपने कामिनी-अनुराग को ही तो स्पष्टत: प्रकट किया है।

आयु का विचार किए विना एक के बाद दूसरा विवाह करते जाने पर एक बेमेल जोडा तैयार होता है जिसमें पति वृद्ध और पत्नी युवती होती है। आयु की असमानता के कारण दोनों के बीच कुछ गुंथियाँ बन जाना स्वाभाविक ही है। वृद्ध पति स्वभावत: अपनी युवती पत्नी से सशंकित और भयभीत रहता है। प्रेम हृदय की वस्तु है। दोनों के हृदय आयु की असमानता और अन्य मनोवैज्ञानिक कारणों से मिल ही नहीं पाते तब उनके बीच प्रेम की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्वार्थों की खींचतान ही उनमें होती रहती है। वृद्ध पति के सभी मनचीते युवती पत्नी की भौहें के ज़रा टेढ़ी होते ही मटिया मेट हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने कोपभवन के प्रसंग में दशरथ और कैकेयी की स्थितियों का बड़ा ही सटीक, मनोवैज्ञानिक और मार्मिक चित्रण किया है -

जाइ दीख रघुबंस मनि, नर पति निपट कुसाजु ।
सहिमि परउ लखि सिंहनिहिं, मनहुँ वृद्ध गजराजु।।३९,अयो., *रा.मानस*।।

एक ओर यौवन के मद से मतवाली कैकेयी है और दूसरी ओर वृद्धावस्था के कारण असहाय पति दशरथ। एक सबल है तो दूसरा निर्बल। एक काल है तो दूसरा काल का ग्रास। एक आक्रामक सिंहनी है तो दूसरा आक्रान्त वृद्ध हाथी, जिसमें आत्मरक्षा के लिए संघर्ष करने अथवा भागकर बचने का सामर्थ्य नहीं । एक अधिक वर्षा के (मदाधिक्य के) कारण उफनती किनारे के वृक्षों को उखाड़कर बहा ले जानेवाली क्षिप्रगामिनी नदी है तो दूसरा कगार पर का पुराना वृक्ष -

अहं कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी । मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी ।।
दोउ वर कूल कठिन हठ धारा । भँवर कूवरी बचन प्रचारा ।।

ढाहत भूपरूप तरु भूला । चली विपति बारिधि अनुकूला ।। चौ.३४,*अयो.*, *मानस*

यदि राम-निर्वासन के दैवी कारणों को भुलाकर दशरथजी को एक बहुपत्नीवान् सामान्य गृहस्थ मान लिया जाय तो ज्ञात होगा कि कैकेयी का दशरथ के प्रति लगाव पति भक्ति के कारण नहीं, अपितु उनके राजकीय ऐश्वर्य के कारण था। जब वह राजकीय ऐश्वर्य उनके हाथों से छिनने लगा, उनकी सपत्नी कौसल्या के पुत्र राम राज्य के उत्तराधिकारी घोषित किए जाने लगे और उनका औरस पुत्र इस सौभाग्य से वंचित होने लगा तो उनका सौतिया डाह जाग पड़ा और उन्होंने अपने प्रति दशरथ की आसक्ति का लाभ उठाकर और उनके प्राणों का ही दाँव लगाकर उसे पाने की चेष्टा की। बहु पत्नीत्व के दोषों का यथार्थ चित्र ही कवि ने यहाँ खींचा है जो मनुष्य को बड़े से बड़े सौभाग्य से वंचित करके उसके मार्मिक अंत का कारण बनता है। बहुपत्नीवान् पति के प्रति पत्नियों का प्रेम औपचारिक ही होता है। वस्तुत: वह प्रेम के स्थान पर उनकी ईर्ष्या और आक्रोश का ही केन्द्र-बिन्दु बन जाता है। यही दशरथजी के साथ भी हुआ।

समाज से बहुपत्नीत्व के इस दोष को मिटाने के लिए ही प्रभु ने मनुज राम के रूप में दशरथजी के यहाँ जन्म लिया और एक पत्नीव्रत धारण किया। पति-पत्नी के परस्पर अनन्य प्रेम का मनोहर आदर्श और उदाहरण प्रस्तुत किया। कैकेयी ने जहाँ स्वार्थों की सिद्धि में अपने पति के प्राणों की ही बाजी लगा दी थी, वहाँ सीता ने अपने समस्त सुख स्वार्थों को पति प्रेम पर उत्सर्ग कर दिया। राम ने भी उन्हें रावण से छुड़ाने के लिए क्या नहीं किया? पहला पक्ष विनाशात्मक है तो दूसरा रचनात्मक। पहले की आधार शिला स्वार्थ है तो दूसरे की त्याग। एक में प्रेम साकांक्ष अत: कलुषित है तो दूसरे में वह अनाकांक्ष और पवित्र है। पहले में सकाम ग्रहण (छीना-झपटी) का भाव प्रबल है तो दूसरे में अकाम समर्पण का। एक सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदलनेवाला है तो दूसरा दुर्भाग्य को भी सौभाग्य बना देने वाला है। पहले का अवसान मृत्यु है तो दूसरे का परिणाम जीवन।

अनुराग कभी भी आरोपित नहीं होता, वह तो मानव हृदय का सहज धर्म है। अनुराग में पारस्पारिकता अनिवार्य है । हम जिससे जितना अनुराग चाहते हैं हमें भी बदले में उससे उतना ही अनुराग करना होगा। घृणा,विद्वेष,तिरस्कार या उपेक्षा के बदले अनुराग की आशा आकाशमहल की भाँति निराधार है। सामाजिक मान्यताएँ या धार्मिक सिद्धांत मात्र हमारे हृदय को उद्वेलित नहीं कर सकते। वे ऐसा तभी कर सकते हैं जब उनमें हमारे हृदय की वृत्तियों को रमाने की क्षमता हो। "जहँ लगि नाथ, नेह अरु नाते, पिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते", "प्रिय वियोग सम दुख जग नाहीं", तथा "जिय बिन देह नदी बिनु वारी। तैसेइ नाथ पुरुष बिनु नारी"।

(अयो.,चौ.६४,रा०*मानस*।।) की उसी पतिप्राणा पत्नी की उद्घोषणा हमारे हृदय को आवर्तित कर सकती है जिसका पति अनन्य अनुरागी हो,शुचि स्नेही स्वामी हो। विश्व के अनंत ऐश्वर्य को,सम्पूर्ण सुख-साधनों को ऐसे पति के साहचर्य पर करोडों बार न्योछावर किया जा सकता है -

"मुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई।।
कंद मूल फल अमिय आहारू । अवध सौध सत सरस पहारू ।।
।।अयो.काण्ड,चौ.६५,*रा.मानस*।।

सीता राम से निवेदन करने लगीं, "स्वामिन्, मुझे भी साथ ले चलिए । निश्चिन्त रहिए, मेरे कारण आपको कोई कष्ट नहीं होगा। आपके साहचर्य में मुझे भी कष्ट कहाँ? मैं आपके कोमल चरणों को देख-देख कर चलूँगी तो मुझे थकावट कैसे होगी? आप जब पैदल चलने के कारण थक जाएँगे तो आपके चरणों को धोकर पेड़ की छाया में बैठ कर प्रसन्नता पूर्वक दवा करूँगी -

मोहि मग चलत न होइहि हाटी । छिन छिन चरन सरोज निहारी।।
सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौं । मारग जनित सकल स्रम हरिहौं।।
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं । करिहउँ बाड मुदित मन माहीं।।
श्रम कन सहित स्याम तनु देखे । कहुँ दुख समय प्रान पति पेखे।।
अयो०काण्ड,चौ.६७,*रा.मानस*।।

राम ने इसके पूर्व सीताजी को वन के अपार कष्टों से बचाने के लिए उन्हें बहुतेरा समझाया। उनका प्रत्येक शब्द सीता के प्रति उनके अंतर के अनुराग से आर्द्र होकर निकला था। उनका प्रयास औपचारिकता मात्र न था। वे नहीं चाहते थे कि उनकी प्राणदयिता उनके पीछे-पीछे वन के अपार असह्य कष्टों को झेलती फिरे। सीताहरण पर उनका यही अनन्य अनुराग साकार हो उठा। वे विक्षिप्त और उन्मत्त से होकर चेतन और अचेतन सभी मानवेतर प्राणियों से रो-रोकर पूछने लगे उन्हीं प्राणवल्लभा सीता का पता, जिन्होंने उनके अभिन्न साहचर्य के लिए सभी राजकीय सुख-भोगों को त्याग कर वन के दु:सह कष्टों का सहर्ष वारण किया था।

३.ऋषि दम्पती - प्रेम और श्रेय सभी की प्राप्ति में भारतीय आर्यकुल की अर्धांगिनी ने पति को पूरा-पूरा सहयोग दिया है । उसके अर्द्धांगत्व में, उसके पत्नीत्व में, यदि वह अनन्य है तो सर्वत्र ही भोगेच्छा और वासना के पंक के ऊपर उसके त्याग और संयम का सुंदर सुरभित कमल ही खिला है। पत्नी पति की वासनाओं की पूर्ति करने वाली, उन्हें मर्यादित और संयत करने वाली, उसके सुख-दु:ख की सहचरी, उसकी सुसंस्कृत संतान की जन्मदात्री और प्रेम की प्राप्ति में सहायिका मात्र नहीं है, वह उसके मुक्तिमार्ग का संबल भी है क्यों कि वह श्रद्धास्वरूपिणी जो है। जो इस श्रद्धा के सम्बल से युक्त हैं वे ही विश्व-कल्याण का पथ भी प्रशस्त कर सकते हैं और मुक्त भी हो

सकते हैं। अगस्त्य-लोपामुद्रा,अत्रि-अनुसूया आदि "वानप्रस्थी ऋषिदम्पती" दाम्पत्य के इसी चरम परिपाक के जाज्वल्यमान् निदर्शन हैं।

४.आर्येतर दम्पती - आर्येतर दम्पतियो में तारा-बाली और रावण-मंदोदरी को परिगणित किया जा सकता है। तारा और मंदोदरी की सक्रिय राजनीति, उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता, उनका निर्भीक अंतरंग साचिव्य और पति को असन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लाने की चेष्टाएँ (भले ही वे अपने पतियों के अहंकार के कारण उसमें सफल नहीं हो पाई) उन्हें सहज ही पत्नीत्व के सर्वोच्च सिंहासन पर बैठा देते हैं।

इस तरह *मानस* में दाम्पत्य की प्रत्येक स्थिति के प्रत्येक प्रकार के सर्वांगपूर्ण और सुंदर चित्रों के अंकन में महामना गोस्वामीजी को सराहनीय सफलता मिली है। आर्य जाति की सामाजिक संरचना में यह रामायणीय दाम्पत्य सदैव आदर्श रहा है । शिव-पार्वती का दाम्पत्य जहाँ भोग के स्थानपर त्याग और संयम की प्रतिष्ठा करता है, वहाँ दशरथ-कैकेयी का दाम्पत्य हमें वासनाधिक्य और बहुपत्नीत्व के दुष्परिणामों के प्रति सचेत भी करता है तथा राम का एक पत्नीत्व हमें जंगल में भी मंगल और विपन्नता में भी सम्पन्नता के प्रति आस्थावान् बनाता है।

डॉ.राजेन्द्रप्रसाद वार्ड
(महाराज बाग) भैरवगंज
सिवनी (म.प्र.) पिन - ४८०६६१.

दादूराम शर्मा

भाषा का प्रतीक-दर्शन

भाषा की संरचना में शब्द-प्रतीकों का अपना विशिष्ट स्थान है और इसी स्थान के कारण प्रतीकों की अर्थवत्ता का स्वरूप भी स्पष्ट होता है। भाषा-दर्शन का क्षेत्र इतना व्यापक और बहुआयामी है कि उसकी बहुआयामिकता की आधारशिला ये शब्द-प्रतीक ही हैं जो भाषिक प्रस्थापनाओं में एक तार्किक सम्बंध के द्वारा किसी "अर्थ" की प्रतीति या व्यंजना करते हैं। इसी संदर्भ में मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भाषा के "शब्द" ही 'प्रतीक' का कार्य करते हैं जब वे किसी 'अर्थ' की व्यंजना करते हैं, और इस प्रकार ये 'शब्द' किसी अवधारणा या प्रत्यय के वाचक हो जाते हैं। उस स्थिति में ये शब्द-प्रतीक क्रमश: किसी अवधारणा या विचार में केंद्रीकृत हो 'स्थिर' हो जाते हैं। प्रतीक का यह स्थिरीकरण एक क्रियात्मक प्रक्रम है, क्योंकि प्रयोग संदर्भ के अनुसार ये प्रतीक अपना अर्थ निश्चित करते हैं। यहां पर स्थिरीकरण कोई निष्क्रिय प्रक्रम नहीं हैं, क्योंकि कोई भी शब्द-प्रतीक संदर्भ के अनुसार अपने अर्थ को उस विशेष संदर्भ में स्थिर करता है। अत: प्रतीक का अर्थ- निश्चय एक गत्यात्मक रूप है जो संदर्भाश्रित है। यह भी एक सत्य है कि अनेक प्रतीकों का अर्थ निश्चित भी होता है और इतना रूढ हो जाता है कि 'हम' उस प्रतीक को अन्य सदर्भों में देखना ही नहीं चाहते हैं। प्रत्येक ज्ञानानुशासन के प्रतीक इसी प्रकार के होते हैं, लेकिन उनके अर्थ को अनेक आयामिकता अन्य अनुशासनों में 'प्रवेश' करने से होती है। यहां पर मैं जिस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, वह यह है कि प्रतीक का अंत:अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य एक ऐसा सत्य है जो प्रतीक के बहुआयामी विवेचन का मार्ग प्रशस्त करता है। प्रतीक के इस अन्तर्प्रवेश में कटघरों की जकड़न टूटती है। ये प्रतीक जो अलग अलग 'कटघरों' में बंद रहते हैं, वे एक दूसरे में प्रवेश कर

अपना अर्थ-विस्तार ही नहीं करते हैं, वरन् विचार और सर्जना को गति देते हैं। एक को पहचानने का अर्थ है दूसरे को पहचानना। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में ऐसे प्रतीकों (पारिभाषिक शब्दों) का ऐतिहासिक अध्ययन जो अन्य ज्ञान क्षेत्र से हिंदी में आए हैं, उनका एक आरंभिक अध्ययन डॉ. बच्चन सिंह ने अपनीं पुस्तक *आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द* में प्रस्तुत किया है। ऐसा ही ऐतिहासिक अध्ययन अन्य अनुशासनों में भी होना जरूरी है जो इस तथ्य को स्पष्ट करेगा कि भिन्न अनुशासनों के भाषिक प्रतीक और रूपाकार किस रूप में, कितने अर्थ-संकुचन और अर्थ-विस्तार के साथ उस विशिष्ट अनुशासन में आए हैं। उदाहरणस्वरूप, 'संरचना' शब्द को लिया जा सकता है जो विज्ञान का शब्द-प्रतीक होते हुए भी, नृतत्व,समाजशास्त्र ,साहित्य तथा दर्शन आदि क्षेत्रों में कहीं संकुचित अर्थ में (नृतत्वविज्ञान) तो कही व्यापक अर्थ-संदर्भ (जैसे साहित्य,दर्शन में) में प्रयुक्त हो रहा है। साहित्य समीक्षा में यह प्रतीक कृति की जैविकता को व्यंजित करता है, मात्र खण्डों या अवयवों तक अपने को सीमित नहीं रखता है। इसी के साथ ब्रह्मांडीय संरचना, समाज संरचना, इतिहास संरचना और जैविकी संरचना आदि प्रयोग में 'संरचना' शब्द-प्रतीक एक विचार दर्शन का प्रतिरूप सा हो गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रतीक-दर्शन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है; और उसका अंत:अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य आज की ज्ञान-मीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

यहां पर थोड़ा रुक कर प्रतीक और ज्ञान मीमांसा के अंत:सम्बंध पर विचार अपेक्षित है, जिससे प्रतीक के 'व्यक्तित्व' का वह रूप उजागर होता है जो उसे बिम्ब, काव्यालंकारों, प्रतीकवादी आंदोलन (फ्रांस) की गिरफ्त से 'मुक्त' कर प्रतीक के व्यापक अर्थ-संदर्भ को व्यक्त करता है। जहां तक बिम्ब का सम्बंध है, वे ऐंद्रिय अधिक होते हैं और उनकी स्थिति ' चिन्ह ' के समान होती है। दूसरी ओर बिम्ब उस अर्थ में विचारोद्भावना नहीं करते हैं जो प्रतीक की एक मुख्य प्रवृत्ति है, क्योंकि विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है। यदि यह कहा जाए कि बिम्ब जहां 'भास्वर' होते हैं, वहीं प्रतीक व्यंजनात्मक अर्थ के कारण अनुभव और विचार में केन्द्रीभूत हो जाते हैं। इसलिए बिम्बानुभूति मूलत: ऐंद्रिय है, जबकि प्रतीक सीधे "काल" से सम्बंधित होने के कारण ऐतिहासिक एवं जातीय चेतना के प्राणवाहक रूपाकार हैं। फ्रांसीसी प्रतीकवादियों (मलार्मे ,बादलेयर) ने प्रतीक-केन्द्र से 'समाज' को हटाकर उसे 'व्यक्ति' केंद्रित कर दिया जो अतींद्रिय अनुभूति, ऐकांतिक कलावाद तथा अबूझ रहस्यों तक उसका अस्तित्व रह गया। इस अर्थ में प्रतीक का क्षेत्र सीमित कर दिया और सृजन के स्तर पर भी उसे वैयक्तिक मानसिक अवचेतन का प्रतिरूप बनाकर छोड़ दिया गया। यही कारण है कि फ्रांसीसी प्रतीकवादी आंदोलन पतनोन्मुख स्थितियों की ओर समाज को ले गया। इससे भिन्न 'प्रतीक' की स्थिति वहाँ पर देखी जा सकती है जहाँ उसे किसी अलंकार के तहत स्थान दिया गया - जैसे अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति, श्लेष, यमक

आदि। इसमें हुआ यह कि प्रतीक अलंकारों का एक पूरक तत्त्व ही बन कर रह गया, उसे वह स्वरूप नहीं प्राप्त हो सका, जो ज्ञान-मीमांसा के व्यापक संदर्भ का वाहक बन सके। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतीक की सामान्यत: यही स्थिति रही। मेरे विचार से ध्वनिवादियों ने प्रतीक को अवश्य एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया, क्योंकि यहां पर ध्वनि और प्रतीक का सापेक्ष सम्बंध है जो प्रतीयमान अर्थ की ओर ध्यान ले जाता है। शब्द-प्रतीक जो अपने प्राथमिक अर्थ को गौण बनाकर किसी विशिष्ट प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करता है, यह सारा कार्य 'ध्वनि' द्वारा होता है जो 'स्फोट सिद्धान्त' के तहत अर्थ ग्रहण करता है। इसका अर्थ हुआ कि अन्तत: जो शब्द प्रस्फुटित होता है (प्राथमिक अर्थ-लोप के बाद), वह एक तरह से ध्वनि या प्रतीकार्थ है। आनंदवर्धन ने ध्वनि या प्रतीकार्थ को लौकिक लावण्यमयी अभिव्यक्तियों से जोड़ा है जबकि प्रतीकवादियों ने उसे रहस्यवादी अतीन्द्रियता की ओर मोड़ा है। मलार्मे का यह कथन कि 'प्रतीक बोधगम्य नहीं होते और जो बोधगम्य होत हैं, वे प्रतीक नही हैं,' असल प्रतीक के क्षेत्र को सीमित ही नहीं करता है वरन् 'बोध' और प्रतीक के रिश्ते को भी पृष्ठभूमि में डाल देता है। इस पूरे विवेचन से मैं इस बात की प्रस्तावना करना चाहता हूँ कि प्रतीक एक ऐसा व्यापक प्रत्यय है जो मात्र ऐकांतिक न होकर, अनेक आयामी संदर्भों को, ज्ञान और संवेदना के बहुरूपों को "अर्थ" प्रदान करता है अथवा दूसरे शब्दो में, प्रतीक के अर्थ-विवेचन के द्वारा 'ज्ञान' का प्रासाद निर्मित होता है। भर्तृहरि के अनुसार भी हमारा समस्त 'ज्ञान' शब्द-प्रतीकों से आबद्ध है। ज्ञान या अनुभव के द्वारा हम जो 'अर्थ' ग्रहण करते हैं, वह शब्द से एकरूप होकर हमारे 'ज्ञान' को स्थिर करता है। यही कारण है कि प्रतीक की अवधारणा में विचार का केंद्रीकरण प्राप्त होता है और यह केन्द्रीकरण भिन्न ज्ञान-क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। इन ज्ञान-क्षेत्रों में प्रतीक की स्थिति और स्वरूप मे अंतर हो सकता है, लेकिन इससे यह नहीं माना जाना चाहिए कि इसमें प्रतीक की सार्वभौम सत्ता के प्रति प्रश्नचिन्ह लगाया जाए। हरेक मानवीय ज्ञान-क्षेत्र में और साथ ही, मानवीय अनुभव क्षेत्र में ये प्रतीक एक गत्यात्मक प्रक्रम का परिचय देते हैं, क्योंकि ज्ञान और अनुभव के क्रमिक विकास के साथ प्रतीकों का नया सृजन भी लगातार चलता रहता है। इस अर्थ में ज्ञान और प्रतीक का सापेक्ष गत्यात्मक सम्बंध है। इस गत्यात्मकता में पुराने प्रतीकों का नए संदर्भों में विवेचन भी समाहित है जो हमें प्रत्येक मानवीय क्रिया में प्राप्त होता है। प्रतीक का विवेचन जहाँ एक ओर उसकी अन्तर्निहित ऊर्जा को प्रकट करता है, वहीं उसके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक पक्ष का भी उद्घाटन करता है। यदि गहराई से देखा जाए तो प्रतीक के लिए इतिहास अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और जब तक रचनाकार और विचारक के अंदर किसी प्रतीक की इतिहासवत्ता जन्म नहीं लेती, तब तक वह प्रतीक की हैसियत और अर्थवत्ता नहीं प्राप्त कर सकता। ये प्रतीक किसी भी जाति

की सांस्कृतिक-प्रक्रिया के अंग बन जाते हैं और उस जाति की भाषिक संरचना में इन प्रतीकों का पाचन दो स्तरों पर होता है - एक, स्वयं उस जाति विशष के प्रतीक और दूसरे ऐसे प्रतीक जो स्रोतों अथवा विदेशी स्रोतों से आते हैं जो क्रमश: जातीय भाषिक संरचना के 'अपने' प्रतीक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, जातीय भाषिक संरचना की प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल ही इन प्रतीकों को आत्मसात् किया जाता है और जो भी भाषा इस कार्य को जिस सीमा तक कर सकने में समर्थ होती है, वह भाषा उतनी ही विकसित एवं सृजनात्मक होती है। मेरे विचार से प्रत्येक भाषा में यह शक्ति होती है, अंतर मात्रा और गुण का हो सकता है। इस अर्थ में भाषा की संरचना में नए प्रतीकों और शब्दों का आत्मसात्करण एक द्वन्द्वात्मक और संश्लेषणात्मक प्रक्रम है जो भाषिक संरचना के अन्त:अनुशासनीय रूप की ओर संकेत करता है। इस अन्त:अनुशासनीय रूप में विदेशी प्रतीकों और प्रत्ययों का अनुवाद भी शामिल है जो उस प्रतीक की अवधारणा को सटीक रूप में संकेतित कर सके। दूसरी ओर इन प्रतीकों को उनके मूल रूप में भी लिया जा सकता है जो किसी भाषिक संरचना में घुलमिल कर उसके अपने अंग या घटक बन जाएं। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'जातीय भाषा' की जो स्थापना की है उसमें जहां एक ओर 'बोली' किस प्रकार क्रमश: जातीय भाषा का रूप ग्रहण करती है, इसका विवेचन है, वहीं दूसरी ओर इस जातीय भाषा के गठन में शब्दों का आदान-प्रदान भाषा की ध्वनि-प्रकृति और भाव-प्रकृति के अनुसार ग्रहण एवं रूपांतरण होता है (*भाषा और समाज*, पृ.४२८)। भाषा की अपनी एक पाचन शक्ति होती है, और वह उसी के अनुसार शब्दों और प्रतीकों को आत्मसात् करती है। किसी भी भाषा का शब्द-प्रतीक-भंडार उसे प्रयुक्त करनेवालों के जातीय चरित्र का द्योतक होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रतीकों को बिना सोचे अंधाधुंध लिया जाएं, बिना यह सोचे कि वह जातीय अस्मिता के अनुकूल हैं या प्रतिकूल। डॉ. शर्मा ने जो बात शब्दों के आदान-प्रदान के बारे में कही है, वह प्रतीकों के लिए भी सत्य है। उनका मानना है कि शब्दों का आदान-प्रदान दो स्तरों पर होता है- एक समानता के स्तर पर और दूसरे असमानता के स्तर पर। समानता के स्तर पर जो प्रतीक-विनिमय होता है, वह भाषा के जातीय चरित्र को मुखर करता है और जो विनिमय असमानता (शोषक-शोषित) के स्तर पर होता है, वह जातीय चरित्र को संकट में ड़ाल सकता है। हिंदी और भारतीय भाषाओं (सामान्यत: उपनिवेशवादी देशों में भी) के साथ ऐसा ही हुआ है, क्योंकि हम अंग्रेजी शब्दों और प्रतीकों को समानता के स्तर पर नहीं, असमानता (ऊँचे स्तर) के धरातल से ग्रहण कर रहे थे और रहे हैं। जब हम शासक वर्ग के प्रतीकों को प्रयुक्त करते हैं तो वे उच्चस्तरीय मनोभावों को व्यक्त करते हैं। डॉ. शर्मा का यह विवेचन मुझे जितना शोषक-शोषित के संदर्भ में सत्य लगता है, उतना ज्ञान के सार्वभौमिक एवं विश्वजनीन रूप को ध्यान में रखकर नहीं, क्योंकि संचार माध्यम आदि के कारण

यह आदान-प्रदान समानता-असमानता दोनों स्तरों पर होता है और प्रत्येक भाषा की संरचना में प्रतीकों का यह ग्रहण एक द्वन्द्वात्मक आत्मसात्करण की सतत प्रक्रिया है जो ज्ञान के गत्यात्मक स्वरूप की सापेक्षता में एक लाज़िमी प्रक्रम है - एक तथ्य है।

यहां पर मैं शब्द-प्रतीकों के उस विवेचन को लेना चाहूंगा जो तार्किक प्रत्यक्षवादियों (लॉजिकल पॉजिटिविज़्म) ने प्रस्तुत किया है क्योंकि उनका विवेचन विज्ञान और गणित की तर्कीय पद्धति पर अधिक आश्रित है। उनकी मूल स्थापना यह है कि किसी भी प्रतिज्ञप्ति में शब्द प्रतीकों का संयोजन तर्कमय होता है जो समष्टि रूप से अर्थ का संप्रेषण करता है। यहाँ पर तर्कशास्त्र का सहारा लिया गया जो यह मानता है कि वाक्य-संरचना में प्राप्त अर्थ-तारतम्य उनमें प्रयुक्त प्रतीकों की तर्कमयता पर अवलम्बित है। बट्रेंड रसेल ने तर्कशास्त्र को एक प्रतीक-विधान ही माना है, जिसका प्रयोग किसी नियम के अन्तर्गत भौतिक-शास्त्र और गणित में प्राप्त होता है। (दि फिलॉसॉफी ऑफ मैथामैटिक्स) इस दृष्टि से यह भी माना गया कि वैज्ञानिक प्रतीकवाद मानव की प्रतीकीकरण शक्ति का एक नवीन अध्याय है। तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने तो यहाँ तक कहा कि दर्शन का मुख्य कार्य प्रत्ययों और प्रतीकों का तर्कसंगत विश्लेषण करना ही है और पारम्परिक दार्शनिक तत्त्वचिन्तक के प्रत्ययों और प्रतीकों को तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर विवेचित नहीं किया जा सकता है; अत: तत्त्वचिंतन की जितनी भी प्रतिज्ञप्तियाँ (प्रोपोजिसेंस) हैं, वे अर्थहीन हैं। तत्वमीमांसा के प्रत्यय अनुभवाश्रित न होने के कारण व्यावहारिक दृष्टिकोण से अर्थहीन होते हैं और दार्शनिक चिंतन में परिकल्पना (स्पैकुलेशन) का कोई स्थान नहीं है। कारनाप, श्लिक आदि तार्किक प्रत्यक्षवादियों के इस मत से विट्गेन्स्टाइन जैसे प्रत्यक्षवादी पूर्ण रूप से सहमत नहीं थे क्योंकि उनका मानना था कि दार्शनिक चिंतन करते समय सारा ध्यान गणित और विज्ञान पर दिया जाए, यह अपने में तर्कसंगत नहीं है। दूसरी ओर, एक अन्य मुख्य बात यह है कि प्रतिज्ञप्तियों के द्वारा और उनकी संरचना के द्वारा एक दार्शनिक मूलत: जगत् या वास्तव की संरचना को समझ सकता है। अत: दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य प्रतिज्ञप्तियों का स्पष्टीकरण है जो भाषा-प्रयोग की तथा प्रतीक-प्रयोग की स्पष्टता पर आधारित है। इस प्रकार वास्तव और प्रतीक का गहरा सम्बंध है और यदि यह सम्बंध नहीं है, तो वह भाषा की विकृति है।

यहां पर मैंने तार्किक प्रत्यक्षवादियों का जो हवाला दिया है, वह कम-से-कम दर्शन और तत्त्वचिंतन को एक आयाम तो देता है, लेकिन इसके साथ ही साथ वह दर्शन के क्षेत्र को सीमित भी करता है और उसे गणित और विज्ञान के तर्कशास्त्र में न्यूनांकित (रिड्यूस) कर देता है। इस कमी के बावजूद मैं कारनाप के उस विभाजन को अवश्य स्थान देना चाहूंगा जो विज्ञान और गणित की भाषा को दो वर्गों में विभाजित करता है, यह विभाजन मात्र विज्ञान तक सीमित न होकर अन्य ज्ञान-क्षेत्रों को भी

किसी न किसी रूप में समाहित कर सकता है। गणित की भाषा और उसमें प्रयुक्त चिन्ह और प्रतीक जिस भाषा का सृजन करते हैं, वह "स्थिर भाषा" (डेफिनिट लैंग्वेज) है, जिसमें प्रतीकों का संयोजन तर्कसंगत होता है। अंक, रेखाएं, वृत्त, ज्यामितिक आकार या चित्र, कल्पना चिन्ह (कैल्कुलस)- ये सभी चिन्ह-प्रतीक की तरह प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि गणित के क्षेत्र में इनका कोई न कोई विशिष्ट अर्थ होता है। तार्किक दृष्टि से इन प्रतीकों को एक विशेष क्रम से संदर्भ (रिफरेन्स) की अवतारणा करनी होती है। अत: गणित के प्रतीक एक तार्किक सम्बंध को व्यक्त करते हैं। कुछ विचारकों, यथा गोल्डबर्ग (दि वण्डर आफ वर्ड्स) आदि का मत है कि गणित के प्रतीक शब्द के वर्ण या अक्षर ही हैं जो किसी विशिष्ट 'मूल्य' की व्यंजना करते हैं। बीजगणित के प्रतीक इसी प्रकार के हैं। यही बात अंकों के लिए भी सत्य है जिनका एक क्रम होता है। गणित में 'अनंत' का भी अपना अर्थ है और अंकों का भी। इस प्रकार अंक और रेखाओं का अपना दर्शन है जो विश्व और जगत् की संरचना को, उसके रहस्य को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त या संकेतित करता है। एक (अद्वैत) और दो (द्वैत) की दार्शनिक धारणाएं अंक-दर्शन पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार वर्ण का अपना प्रतीकार्थ होता है, जो हमें धर्म, दर्शन आदि क्षेत्रों में प्राप्त होता है। "ओऽम्" वर्ण प्रतीकार्थ (अ,उ,म) का एक ऐसा ही उदाहरण है। यदि इस व्यापक परिदृश्य को लिया जाए तो एक बात यह स्पष्ट होती है कि गणित के प्रतीकों का अर्थ अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में अपने संदर्भ लेकर आता है और इस प्रकार उनका स्वरूप स्थिर न होकर विवेचनात्मक हो जाता है। दूसरा वर्ग उन प्रतिकों का है जो भौतिकी, रसायनशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र आदि में प्राप्त होता है जहां प्रतीकों की योजना तार्किक होते हुए भी विवेचना एवं विवरण की अपेक्षा रखती है। अत: यह भाषा अस्थिर भाषा की सृष्टि करती है जो स्थिर भाषा की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक और सांकेतिक होती है। भौतिक विज्ञानों की भाषा और प्रतीक का स्वरूप विवेचनात्मक होने से उनका अर्थ-विस्तार भी हो सकता है और अर्थ-संकुचन भी। यही बात अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के बारे में भी सत्य है। वाक्य-विन्यास में इन प्रतीकों का संयोजन इस प्रकार का होता है जो व्याख्या की अपेक्षा रखता है; अत: इस प्रकार के प्रतीक ज्ञान विकास में अपनी विशिष्ट भूमिका अदा करते हैं। ये प्रतीक अक्सर अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में भी प्रयुक्त होते हैं जो अपने मूल अर्थ के साथ अन्य संदर्भों को भी समाविष्ट करते हैं। इस स्तर पर भी ज्ञान के अंत:अनुशासनीय स्वरूप का उद्घाटन होता है जिसका संकेत मैंने आरंभ में किया था।

उपयुक्त विवेचन से प्रतीक की अर्थवत्ता का संकेत प्राप्त होता है। इस अर्थवत्ता के दो पक्ष हैं- एक, उनका भौतिक पक्ष और दूसरे उनका तात्त्विक अर्थ-संदर्भ। यहां पर एक विचित्र सी अवस्था के दर्शन होते हैं कि तात्त्विक या पराजागतिक संदर्भों में जिन प्रतीकों का प्रयोग होता है, वे प्रतीक भी जागतिक या भौतिक क्षेत्र के ही होते

हैं जो व्यापक या तात्त्विक या अनेक संदर्भों के भी वाहक होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जागतिक दिक् काल के प्रतीकों का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि वे इनके द्वारा ही हम अनंत या तात्विक संदर्भों को व्यंजित करते हैं। रहस्यवादी मनोभाव में ऐसा ही घटित होता है जब ससीम और असीम के सम्बंध को जागतिक प्रतीकों (मैं-तुम;बूँद-समुद्र,पिंड-ब्रह्मांड आदि) के द्वारा व्यक्त किया जाता है। परमसत्ता की अवधारणा में 'सम्राट्' का भाव निहित है; ब्रह्मांड की प्राचीन अवधारणा में सूर्य को एक प्रकार से 'सम्राट्' माना गया और ग्रहों को उसका मंत्रिमंडल, जैसाकि हमें बेबीलोनिया और मिश्र की प्राचीन संस्कृतियों में प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि जागतिक अनुभव एवं वस्तुएं ही पराजागतिक या अनंत अनुभवों को प्रतीकात्मक निर्देशन देती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषिक वाक्य-विन्यासों में शब्द-प्रतीकों का मूलाधार जागतिक दिक्काल ही है जहाँ से रचनाकार, विचारक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक व्यापक संदर्भों की व्यंजना करते हैं; अत: प्रतीकों के सृजन एवं अर्थविस्तार में जागतिक दिक्-काल का अपना विशिष्ट स्थान है। अत: इस जागतिक स्तर को नकारना संभव नहीं है क्योंकि इसी बिंदु से व्यक्ति भूत और भविष्यत् (संभावना, अनंत) को पकड़ने का प्रयत्न करता है। लगभग सभी ज्ञान-क्षेत्रों में संभावना और अनंत को किसी न किसी रूप में स्थान देने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है क्योंकि मानवीय चेतना की गति पश्च एवं अग्रगामी दोनों ओर होती है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रतीक-दर्शन, विचारों और अवधारणाओं को 'रूपाकार' देता हुआ, ज्ञान की गतिशीलता को संकेतित करता है। इसी संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान स्वयं एक प्रतीकवाद है।

५ झ १५, जवाहर नगर
जयपुर - ३०२००४
(राजस्थान)

वीरेन्द्र सिंह

नव-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२१)

विषयता-विषयिता

पूर्व लेख में यह बतलाया गया था कि अनुमिति की तरह शाब्दबोध में भी उद्देश्यता और विधेयता प्रतीत होती हैं। परंतु "पर्वत अग्निमान् है" इस शाब्दबोध में अग्निमान् ही तादात्म्य सम्बन्ध से पर्वत के प्रकार के रूप में मालूम पडता है। क्योंकि नामार्थ का नामार्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से ही अन्वय होता है, भेद सम्बन्ध से नहीं। अत: वहाँ पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता से निरूपित विधेयता अग्नि में प्रतीत नहीं होती है। इसलिए शाब्दबोध में विधेयता आदि को स्वीकार करना अप्रामाणिक है। लेकिन अनुमिति में उन्हें स्वीकार करना आवश्यक है,[1]अन्यथा 'पर्वतो वन्हिमान्' इस तात्पर्य से 'पर्वत का अनुमान कर रहा हूँ' यह प्रयोग होने लगेगा। अनुमिति में विधेयता और उद्देश्यता आदि पदार्थ मानने पर ही इतर स्थलों में द्वितीया विभक्ति का अर्थ विषयिता यह स्वीकार करने पर भी 'अनुमिति' के अर्थ वाले धातु का सामीप्य होने से द्वितीया का अर्थ विधेयता तथा सप्तमी का अर्थ उद्देश्यता यह स्वीकार कर के ही "पर्वतो वहि्नमान्" इस अनुमिति के ताप्तर्य से 'पर्वतमनुमिनोमि' (पर्वत का अनुमान करता हूँ) इस प्रयोग का निवारण सम्भव है। उद्देश्यता का ऐसा अर्थ न कर के द्वितीया का प्रकारिता ऐसा अर्थ करने पर भी उक्त प्रयोग की आपत्ति का निरास सम्भव है। फिर भी 'पर्वतत्वमनुमिनोमि' इस प्रतीति का निरास सम्भव नहीं प्रतीत होता। इसलिए गदाधर[2]भट्टाचार्य ने कहा है कि अनुमित्यर्थक धातु का योग होने पर विधेयत्व या विधेयित्व यह द्वितीया का अर्थ है। अत: शब्दार्थक धातु का योग होने पर विषयित्व को द्वितीया का अर्थ मानने पर भी कोई हानि नहीं है।

विषयिता को इस प्रकार द्वितीया का अर्थ मानने पर 'पर्वते पर्वतं श्रृणोमि' यह प्रयोग ग्राह्य होना चाहिये, क्योंकि पर्वत विशेष्य वाला शाब्दबोध भी पर्वत विषय वाला है ऐसा मानने पर जहाँ सप्तमी विभक्ति वाला पद प्रयुक्त है वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध से

नियमित होने वाली प्रकारिता ही द्वितीया विभक्ति का अर्थ है। तादात्म्य से भिन्न सम्बन्ध कहने का तात्पर्य यह है कि 'पर्वते वह्निंमन्तं श्रृणोमि' यह प्रयोग ग्राह्य नहीं होता।

उद्देश्यता और विधेयता के सम्बन्ध में एक और भी बात ध्यान में रखने योग्य है और वह यह कि उद्देश्यता और विधेयता में साक्षात् निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। 'पर्वते वह्निः' यहाँ पर वह्नि में रहने वाली प्रकारता में साक्षात् निरूप्य- निरूपक- भाव नहीं है। ' पर्वत पर अग्नि ' यहाँ सप्तमी (पर्वते) का अर्थ आधेयता यह प्रकार के रूप में भाषित होने पर भी पर्वत उद्देश्य और अग्नि विधेय के रूप में प्रतीत होता है; अतः उनमें साक्षात् निरूप्य-निरूपक-भाव है, जब कि उपर्युक्त प्रकारता और विशेष्यता में विधेयता सम्बन्ध के द्वारा निरूप्य-निरूपक-भाव है।

यद्यपि उद्देश्यता आधार में ही होती है, तथापिं वह आधारता-रूप नहीं है। 'अग्नि कहाँ है?' ऐसा पूछने पर उत्तर मिलता है 'पर्वते'। यहाँ पर्वत विधेय तथा अग्नि उद्देश्य होता है। परन्तु अग्नि पर्वत का आधार नहीं है। अतः उद्देश्यता आधारता पदार्थ से भिन्न पदार्थ है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि जहाँ अखण्डोपाधि (आकाशत्व आदि) या जाति (गोत्व आदि) का स्वरूपतः प्रत्यय होता है वहाँ उनमें रहने वाली प्रकारता आदि 'निरवच्छिन्न' अर्थात् किसी धर्म से निगमित नहीं होती है। 'यह गो है या अश्व है' यहाँ गोत्व में रहने वाली या अश्वत्व में रहने वाली प्रकारता किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है, जबकि 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसा कहने पर पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता तथा वह्नि में रहने वाली प्रकारता दोनों भी क्रमशः पर्वतत्व और वह्नित्व धर्मों से अवच्छिन्न हैं। परन्तु उद्देश्यता और विशेष्यता में यह एक और भेदक तत्त्व है कि उद्देश्यता हमेशा 'सावच्छिन्न' (किसी धर्म से नियमित) होती है, जब कि विशेष्यता कभी सावच्छिन्न तो कभी निरवच्छिन्न भी होती है। जैसे, 'नीलोत्पलम्' यहाँ विशेष्यता सावच्छिन्न है, तो 'गोत्ववान्' यहाँ विशेष्यता निरवच्छिन्न है।

उद्देश्यता तथा विधेयता की तरह ही कोटिता भी एक विषयता का प्रकार है।[3] कोटिता नामक विषयता 'संशय' के प्रसंग में स्वीकार की गयी है। 'अग्निमान्नवा' (अग्निमान् है या नहीं) इस संशय में दो विरोधी वस्तुएँ विषय के रूप में प्रतीत होती हैं। उन्हें नैयायिक कोटियाँ कहते हैं। यहाँ एंक कोटि अग्नि है तथा दूसरी कोटि अग्नि का अंभाव है। अतः इन दो कोटियों में दो कोटियाँ रहती हैं, जोंकि कोटिताख्य विषयताएँ कहलाती हैं। संशय में दोनों कोटियाँ परस्पर विरोधी होती हैं- एक भाव कोटि तथा दूसरी अभाव कोटि। कभी कभी दोनों ही कोटियाँ भाव-रूप होती हैं, जैसे- 'अग्निमान् या घटवान् पर्वत है' या 'यह स्थाणु है या पुरुष है' (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) यहाँ एक कोटिता स्थाणु में है और दूसरी पुरुष में है ।

कुछ लोग मानते हैं[4] कि एक धर्मी का विरुद्ध भावा-भाव-वाला ज्ञान ही संशय होता है। उनका कथन है कि भाव और अभाव जैसे विरोधियों के ज्ञान के बिना संशय होता ही नहीं है। उनके मतानुसार 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशय केवल स्थाणु और पुरुष को ले कर होने वाला दो कोटियों वाला संशय नहीं है, बल्कि यह चार कोटियों वाला संशय है। यहाँ स्थाणुत्व एक कोटि है, स्थाणुत्वाभाव दूसरी कोटि, पुरुषत्व तीसरी कोटि और पुरुषत्वाभाव चौथी कोटि है। अत: प्रत्येक कोटि में भिन्न भिन्न कोटियाँ होने से यह संशय चार कोटियों वाला संशय है।

कुछ नैयायिकों का मत है कि कोटिता विषयता का भिन्न प्रकार नहीं है, अपितु कोटिता का अर्थ ही कोटि-प्रकारता है। इसलिये कोटिता प्रकारता का ही एक भेद है।[5] दूसरी ओर गदाधर का मत है कि जिस प्रकार लौकिक सन्निकर्ष से जन्य प्रत्यक्ष में 'साक्षात्कारोमि' इस प्रतीति के आधार पर विशेष प्रकार की विषयता मानी जाती है या 'अनुमिनोमि', 'आपादयामि' इन प्रतीतियों से साक्ष्य और आपाद्य में विलक्षण विषयताएँ मानी जाती हैं उसी प्रकार 'सन्दिह्येमि' इस प्रतीति के आधार पर संशय की कोटियों विलक्षण विषयताएँ होती हैं। प्रकारता में रहने वाला प्रकारतात्व जिस प्रकार अखण्डोपाधि है उसी प्रकार कोटिता में रहने वाला कोटितात्व भी अखण्डोपाधि धर्म है।

यद्यपि संशय के समान समुच्चय में भी कोटिद्वय प्रकारता या दो कोटिताएँ होती हैं तो भी जब कि संशय में कोटिद्वय प्रकारता (कोटिता) से निरूपित एक विशेष्यता होती है, समुच्चय में कोटिद्वय प्रकारता (कोटिता) से निरूपित अनेक विशेष्यताएँ होती हैं। जैसे - 'वह्निमान् घटवान् वा पर्वत:' और 'वह्निमान् घटवांश्च पर्वत:' इन ज्ञानों में होने वाला भेद इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'वह्निमान् घटवान् वा पर्वत:, में वह्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित तथा घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित पर्वत में एक ही विशेष्यता है, जबकि 'वह्निमान् घटवांश्च पर्वत:' इस ज्ञान में वह्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित एक विशेष्यता पर्वत में है तथा दूसरी घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता भी पर्वत में है।

दूसरी बात यह है कि संशय की कोटिता-रूप प्रकारता प्रकारिता से नियमित प्रकारिता की निरूपक होती है। संशय में भिन्न भिन्न कोटि प्रकारिताओं में परस्पर अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है, जो समुच्चय वाली प्रकारिताओं में नहीं होता है। समुच्चय को संशय से भिन्न सिद्ध करने का आधार संशय की प्रकारिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव का होना यह माना जाता है ।[7]

कोटिता को प्रकारता से भिन्न मानना इसलिये भी आवश्यक है कि संशय की कोटियाँ जहाँ विशेष्य होती हैं वहाँ उनमें प्रकारताएँ नहीं रहती हैं। जैसे - 'वह्नि पर्वते न वा' इस संशय में वह्नि और वह्न्यभाव-रूप दोनों कोटियाँ विशेष के रूप में

तथा पर्वत प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। यदि कोटिता को प्रकारता के रूप में स्वीकार करें तो उक्त संशय की कोटिताएँ प्रकारता-रूप न होने से उक्त संशय का संग्रह नहीं होगा। कोटिता को प्रकारता से भिन्न स्वीकार करने पर कोटि-प्रकारक और कोटि- विशेष्यक दोनों ही संशयों का संग्रह हो जाता है। अत: कोटि-विशेष्यक संशय-साधारण कोटिता के संग्रह के लिये कोटिता को प्रकारता से अन्य मानना ही उचित है।

कोटिता को भिन्न स्वीकार करने पर भी उसका अन्तर्भाव विषयता में किया जा सकता है। अत: कोटिता भी विधेयता आदि के समान विषयता का ही एक प्रकार है। अथवा प्रतियोगिता आदि को स्वतन्त्र पदार्थ मानने वालों के मत के अनुसार संशय-स्थलीय कोटिता भी एक स्वतन्त्र पदार्थ है।[8]

कोटिता के सम्बन्ध में जानने योग्य बात यह है कि संशय की दोनों कोटिताएँ दो भिन्न सम्बन्धों तथा भिन्न धर्मों से नियमित (अवच्छिन्न)होती हैं। जैसे -'पर्वतो अग्निमान् न वा' इस संशय की अग्नि में रहने वाली कोटिता संयोग सम्बन्ध से नियमित होती है, क्योंकि पर्वत पर अग्नि संयोग सम्बन्ध से रहता है। उसी प्रकार अग्नि के अभाव में रहने वाली दूसरी कोटिता स्वरूप सम्बन्ध से नियमित होती है, क्योंकि अभाव स्वरूप सम्बन्ध से पर्वत पर रहता है। उसी तरह जहाँ अग्नि में रहने वाली कोटिता अग्नित्व धर्म से नियमित होती है, वहाँ अग्नि के अभाव में रहने वाली कोटिता अग्न्यभावत्व धर्म से नियमित होती है। कोटिताओं को सम्बन्ध और धर्म से नियमित माने बिना संशय और निश्चय में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था नहीं बनेगी। पर्वत पर संयोग सम्बन्ध से अग्नि के संशय का निवर्तक पर्वत पर संयोग सम्बन्ध से ही अग्नि का निश्चय होगा। उसी प्रकार पर्वत पर द्रव्यत्वेन अग्नि के संशय का निवर्तक वहाँ द्रव्यत्वेन अग्नि का निश्चय होगा, अग्नित्वेन अग्नि का निश्चय नहीं।

यद्यपि संशय के समान 'एकत्र द्वयं' इस ज्ञान में कोटिद्वय प्रकारता (कोटिता) से निरूपित एक विशेष्यता होती है- जैसे, 'पुस्तक और लेखनी-युक्त मेज' कहने पर पुस्तक और लेखनी दोनों में रहने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित एक विशेष्यता मेज में मालूम पड़ती है - फिर भी संशय और 'एकत्र द्वय' इन प्रत्ययों में भेद है। संशय में दोनों कोटिताख्य विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है। अर्थात्, 'अग्निमान् न वा' इस संशय की अग्नि-विषयता से अग्नि के अभाव की विषयता अवच्छिन्न होती है। 'एकत्र द्वयं' यहाँ एक विशेष्यता से निरूपित दोनों प्रकारताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव नहीं होता है। यही उन दोनों में होने वाली भिन्नता का परिचायक है।

संशय के समान सम्भावना में भी अनेक या कम-से-कम दो कोटियाँ होती

हैं। परन्तु संशय और संभावना में अन्तर है। संशय की दोनों कोटियाँ समान स्तर की होती हैं, जबकि सम्भावना की एक कोटि उत्कट होती है। ऐसी उत्कट कोटि में रहने वाला औत्कट्य याने उत्कटता भी विषयता का एक प्रकार है। इसलिये उत्कट-एककोटि-प्रकारक नानाकोटि-प्रकारक ज्ञान को सम्भावना कहा जाता है। जैसे- 'आश्विन महिने में वृष्टि अधिक होगी या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर अधिक वृष्टि या कम वृष्टि का बोधक यहाँ कुछ भी नहीं है। अत: दोनों भी कोटियाँ यहाँ समान हैं; उनमें से कोई भी उत्कट नहीं है। परन्तु 'भाद्रपद मास में वृष्टि होगी या नहीं' यहाँ भाद्रपद मास वर्षा ऋतु के अन्तर्गत होने से वृष्टि-कोटि उत्कट है और इसलिये उक्त महीने में वृष्टि होने की सम्भावना है। दोनों कोटियाँ उत्कट होने की स्थिति में न तो संशय होता है और न ही सम्भावना। ऐसी स्थिति अनध्यवसाय की कोटि हो सकती है।

इस प्रकार से विषयताओं की विलक्षणता के आधार पर संशय, सम्भावना, समुच्चय तथा 'एकत्र द्वयं' आदि में भेद किया जाता है।

विषयिता

ज्ञान और उसके विषय के बीच में विषय-विषयी-भाव माना जाता है। जिन रजतादि वस्तुओं का ज्ञान होता है वे विषय होते हैं। उनमें विषयता होती है, तथा ज्ञान स्वयं विषयी होता है और अत: उसमें विषयिता होती है। विषयी में रहने वाला धर्म (पदार्थ) विषयिता कहलाता है।[9] विषयता और विषयिता में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। अत: विषयता-निरूपकत्व ही विषयित्व है ऐसा भी कुछ नैयायिकों का मत है।

ज्ञान के साथ विषय के होने वाले सम्बन्ध को ही विषयिता कहा गया है तथा विषयता के समान ही यह प्रकारिता, संसर्गिता, विशेष्यिता भेद से तीन प्रकार की होती है।[10] विशेष्य-रूप विषय के साथ ज्ञान का सम्बन्ध विशेष्यता है। जब 'पर्वतो अग्निमान्' यह प्रत्यय होता है तो पर्वत इस विशेष्य में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता उक्त ज्ञान में प्रतीत होती है। उसी प्रकार उसी ज्ञान में अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारिता भी प्रतीत होती है। विषय का ज्ञान के साथ होने वाला सम्बन्ध विषयता न हो कर विषयिता है, क्योंकि अनुयोगि-निष्ठ को ही सम्बन्ध मानने पर ज्ञान अनुयोगी होने से उसका विषय के साथ होने वाला सम्बन्ध विषयिता के रूप में ही गृहीत होता है। अत: ज्ञान विषयी होता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि समान आश्रय वाली एक ज्ञान की विषयताओं के बीच कुछ नैयायिक अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव तथा कुछ अन्य नैयायिक अभेद सम्बन्ध मानते हैं। अत: ज्ञान में प्रतीत होने वाले 'विशेष्यकत्व' का अर्थ है विशेष्यता निरूपित विशेष्यित्व और प्रकारकत्व का अर्थ है प्रकारता निरूपित प्रकारित्व।

'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यित्व जैसे है वैसे ही अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारित्व भी है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि एक ही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता तथा विशेष्यिताओं के बीच में क्या सम्बन्ध है? इसके विषय में नैयायिकों का यह मत है कि उन विशेष्यिता और प्रकारिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव सम्बन्ध है, क्योंकि जिन विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उनसे निरूपित विषयिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है ऐसा नियम है।

'पर्वत अग्मिान् है' इस ज्ञान में जैसे एक ओर अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित हुई प्रकारिता होती है वैसे ही दूसरी ओर पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता भी होती है जो उक्त प्रकारिता से अवच्छिन्न (नियमित) भी होती है। इस प्रकार प्रकारिता से अवच्छिन्न विशेष्यिता तथा विशेष्यिता से अवच्छिन्न प्रकारिता होती है।

विषयिता को कुछ नैयायिक स्वरूप सम्बन्ध का एक प्रकार मानते हैं, जब कि कुछ अन्य नैयायिक उसे स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं।[12] विषयिता ज्ञान, इच्छा और कृति इन तीन सविषयक पदार्थों में रहती है। विषयिता भी विषयता आदि इतर पदार्थों के समान ही सम्बन्ध तथा धर्म दोनों ही रूपों में प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर बताया उसके अनुसार ज्ञान में विषयिता रहती है, क्योंकि ज्ञान विषयी है। ज्ञान का विषय और ज्ञान इनमें विषयिता सम्बन्ध होता है। अर्थात्, पुस्तकत्व से नियमित विषयता से निरूपित विषयिता याने पुस्तक का उसके ज्ञान, इच्छादि के साथ सम्बन्ध है। उसी प्रकार घट-ज्ञान के साथ घट का सम्बन्ध घटत्व से नियमित विषयता निरूपित विषयिता होता है।

घट-ज्ञान होने पर घटत्व में जो प्रकारता है वही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता है ऐसा भी एक मत है।[13] ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता ही विषयिता है, विषयिता के अन्य भेद विशेष्यिता आदि नहीं, जबकि अन्य नैयायिक विषयिता के भी अन्य भेद स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

विषयिता तब तक रहती है जब तक विषयी ज्ञान, इच्छादि रहते हैं। अर्थात्, ज्ञान के समय में ही विषयिता घट का ज्ञान के साथ सम्बन्ध बनता है। ज्ञान के न रहने पर घट का सम्बन्ध विषयिता नहीं होता है।

जिस प्रकार विशेष्यता सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है, प्रकारता ही सम्बन्ध से नियमित होती है उसी प्रकार विषयिता भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। परन्तु विषयिता धर्म से नियमित होती है। प्रत्येक ज्ञान में रहने वाली विषयिता उक्त ज्ञानत्व धर्म से नियमित होती है। ऐसा स्वीकार न करने पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इसके विषय में पूर्व लेखों में पर्याप्त चर्चा की गयी है। आगे

भी प्रतिबन्धकता और प्रतिबन्धकताओं के विवेचन के प्रसंग में पुन: इसकी चर्चा होगी ही।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११ ००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. रामरुद्र; वस्तुतस्तु शाब्दबोधे विधेयकत्वादिकमप्रामाणिकमेव अनुमितावेव तदङ्गीकार आवश्यक:। *रामरुद्र्यां*, पक्षता-प्रकरणे.

२.गदाधर भट्टाचार्य:अनुमित्यर्थकधातुयोगे विधेयत्व विधेयित्वं द्वितीयार्थ इति ।*वहीं*

३.बालकृष्ण मिश्र; एषैव विषयता कोटितापदेनोच्यते । *उभयाभाववादकव्याख्यायाम्*

४. विश्वनाथ; एकधार्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थ:। *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां*,संशयनिरूपणे

५. दिनकर;स्वीयैककोटिप्रकारतावच्छिन्न प्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिबन्धतावच्छेदकीभूतापरकोटिप्रकारताशासिज्ञानत्वं संशयत्वमिति ध्येयम् । *दिनकर्यां* संशयनिरूपणे

६.गदाधर; यथा लौकिकसन्निकर्षजन्ये साक्षात्करोमीति प्रतीतिविषयताविशेष: अनुमिनोमि,आपादयामीति प्रतीतेश्चानुमित्यापत्त्यो: साध्यापाद्ययो विषयताविशेषो अपह्नव:, तथा सन्देह्मीत्यनुव्यवसायबलात् संशयेऽपि कोट्यंशे विलक्षणविषयता निष्प्रत्यूहैवेति। *गादाधर्यां*, सत्प्रतिपक्षप्रकरणे ।

७.यद्वा प्रकारित्वावच्छिन्न प्रकारितानिरूपकत्वं तत्र विशेषत्वं लाघवात् संशये तत्कोटि प्रकारितयो समुच्चय-वैलक्षण्याय अवच्छेद्यावच्छेदकभावस्याभ्युपेतत्वात् । वहीं

८.तदन्यैव वा कोटिविशेष्यक संशयसाधारण्यानुरोधात् । *वहीं*

९.उमानाथ उपाध्याय; ज्ञाने विषयस्य सम्बन्धो विषयिता । *व्याप्तिपञ्चकव्याख्यायाम्*

१०.साच त्रिविधा-प्रकारिता,संसर्गिता,विशेष्यिता भेदात् । *वहीं*

११.जगदीश; ययोविषयतयो: परस्परं निरूप्यनिरूपक-भावस्तन्निरूपितविषयतयोरवच्छेद्यावच्छेदकभाव इति नियमेन। जागदीश्या: शिवदत्त मिश्र कृत *व्याख्यायाम*, पक्षताप्रकरणे।

१२. रघुनाथ; विषयतातत्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्व सम्बन्धत्वादयोऽप्यतिरिक्ता एव पदार्था: इत्येकदेशिन: । *दीधित्यां* सिद्धान्तलक्षणे

१३.यादवाचार्य; या घटत्वादिनिष्ठ प्रकारता सा ज्ञाननिष्ठा प्रकारिता, ज्ञाननिष्ठा या प्रकारिता सैव विषयितेत्युच्यत । न्यायसिद्धान्तमञ्जर्या: *व्याख्यायाम्* ।

१४.जगदीश; विषयिता च ज्ञानसमानकालीनैवेति । *जागदीश्यां*,व्यधिकरणप्रकरणे ।

ग्रन्थ -समीक्षा

सिंह, (डॉ.)वीरेन्द्र; *विचार-संवेदन: विविध-आयाम* ; विवेक पब्लिशिंग हाउस,जयपुर,१९९० पृ.१५२ मूल्य: ७५ रुपये.

डॉ. वीरेन्द्र सिंह के लेखों का यह संकलन हाल ही में प्रकाशित हुआ है। संकलन के लेख *आलोचना, मधुमती, पहल, साक्षात्कार, समकालीन सृजन,दस्तावेज, भाषा* तथा *परामर्श* जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ये लेख आलोचना से सम्बन्धित भिन्न भिन्न विषयों पर हैं। फलत: इस संक्षिप्त समीक्षा में उन सभी के विषय में चर्चा करना सुविधाजनक नहीं होगा। कुछ लेख स्वयं साहित्यिकों अथवा उनकी रचनाओं पर समीक्षाएं हैं। अनेक अन्य लेख कुछ ऐसी अवधारणाओं से सम्बन्धित हैं जो वीरेन्द्रजी के आलोचना-दर्शन में आधारभूत तत्त्व हैं। इन अवधारणाओं में दिक्-काल, द्वन्द्वन्याय, मिथक, विज्ञान, ज्ञान की बहु-आयामिता, प्रमुख हैं।

इन अवधारणाओं के आधार पर जिस परिदृश्य की संरचना वीरेन्द्र जी के आलोचना-विचार में उभरती है, उसे उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है :

.....वर्तमान का जागतिक बोध वह आधारशिला है जहां से रचनाकार भूत और भविष्य के बिम्बों को प्रक्षेपित करता है। (पृ.१२)भारत-भारती तथा अनेक अन्य सन्दर्भों में वीरेन्द्र जी उस 'वर्तमान क्षण' की बात करते हैं जिस पर पैर जमा कर भूत और भविष्य को 'रचनाकार' विवेचित और सन्दर्भित करता है (पृ.३८)। इसी सन्दर्भ में मिथक, काल तथा इतिहास के सम्बन्ध में उल्लिखित हुआ है : "मिथक और काल का गहरा सम्बन्ध है। भारतीय दर्शन में मिथक को 'इतिहास' भी कहा गया है, जो किसी भी जाति का आंतरिक इतिहास है (पृ.३८) .... सृजन के क्षेत्र में दिक् और

काल का अस्तित्व "मैं" की सापेक्षता में होता है... मैं, तुम, वस्तु, घटना आदि एक विस्तृत अनुभव का अंग बन जाते हैं ... 'ये सब उस समय सृजनात्मक हो उठते हैं जब वे रचनाकार के ज्ञान-संवेदन से दीप्तमान होते हैं ...... प्रतीक बनने की प्रक्रिया में आ जाते हैं। सम्बन्धों का तनाव, क्रियाओं का व्यापार, स्थितियों की टकराहट, वस्तुओं का विद्युतीकरण तथा भावों-विचारों का रचनात्मक संगुफन - ये सभी तत्त्व "मैं" की सापेक्षता में दिक् और काल के चतुर्मितीय विस्तार को, भिन्न-भिन्न सीमाओं और परिधियों में अनुस्यूत करते हैं या "अर्थ" प्रदान करते हैं। (पृ.१५) सृजन के क्षेत्र में काल और दिक् विशिष्ट विषय और विषयी के द्वन्द्व एवं संगति का दिक्-काल-बोध निजी एवं विशिष्ट होते हुए भी, सामान्य को अपने अन्दर समाहित किए रहता है। (पृ.१७) स्मृति काल के विशिष्ट खण्ड को ग्रहण कर उसे वर्तमान और भविष्य के संदर्भों में रूपांतरित करती है (पृ.१७)। 'भारत भारती' के संदर्भ में वीरेन्द्र जी इस ओर ध्यान दिलाते हैं कि नियति, विधाता, विधि आदि रूपाकार परोक्षत: काल के ही वाचक या प्रतीक हैं क्योंकि काल को एक शक्ति या ऊर्जा के रूप में देखने की एक परम्परा पुराणों ओर महाकाव्यों में रही है (पृ.३०)।

'विज्ञान' बोध से अपने तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए वीरेन्द्र सिंह लिखते हैं 'विज्ञान' बोध का अर्थ यह कदापि नहीं है कि साहित्य को विज्ञान की अवधारणाओं और प्रत्ययों से आरोपित करना, वरन् उनके अध्ययन द्वारा चेतना पर पड़े प्रभाव को, बिम्बों और रूपाकारों द्वारा, एक ऐसा रचनात्मक एवं संवेदनात्मक सन्दर्भ देना, जो काव्य के अर्थ- सौन्दर्य को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान कर सके।(पृ.४९) इसी के साथ वीरेन्द्र जी की कुछ और पंक्तियों को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा जो साहित्य तथा ज्ञान की बहुआयामिता के सम्बन्ध को स्पष्ट करती हैं। '.... प्रत्येक अनुशासन की यह आन्तरिक प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी 'पूर्णता' या 'व्यापकता' के लिए अन्य ज्ञानानुशासनों की ओर उन्मुख हो।' (पृ.५०) यह आन्तरिक प्रवृत्ति ज्ञान के एक ऐसे धरातल, एक ऐसे सन्दर्भ की ओर संकेत करती है जो रचनाकार के लिए अनन्त समृद्धि तथा सृजन का स्रोत बनता है। किसी सीमा में, उपयुक्त वर्णन वीरेन्द्र जी के आलोचना दर्शन की दिशा की ओर इंगित करता है। संकलन के निबन्धों में दिक्-काल के रूपों की अनेक दूसरे सन्दर्भों में भी चर्चा हुई है, यथा इतिहास, भाषा, रहस्यवाद जैसे सन्दर्भ। इन अन्य सन्दर्भों में वे अनेक विचारोत्तेजक उद्भावनाएँ प्रस्तुत करते हैं। मेरे विचार से यदि दिक्-काल की इन भिन्न अवधारणाओं की पृथक् भूमिका को दर्शाया जाता तथा रचनाकार और आलोचक को अलग रखा जाता, तो उपर्युक्त परिदृश्य अधिक महत्त्वपूर्ण रूप प्राप्त कर सकता।

वीरेन्द्र जी द्वारा प्रतिपादित जागतिक तथा पराजागतिक दिक्-काल की अवधारणाएं 'सत्' आयामों का संकेत देती हैं। यहां वीरेन्द्र जी अपनी विशेष दृष्टि को

प्रतिपादित करना चाहते हैं। उनके विचार से इन दो प्रकारों में गहरा सम्बन्ध है, यहां तक कि वे एक दूसरे पर आश्रित है। उनकी यह धारणा एक विश्वास के रूप में ही सामने आती है, यद्यपि वह अधिक ताने-बाने तथा आधार की अपेक्षा रखती है।

दिक्-काल के अमूर्त प्रत्यय के लोभ ने वीरेन्द्र जी को दिक्-काल के एक अधिक समृद्ध तथा मूल सन्दर्भ की अवहेलना में मदद की है। प्रकृति में ऋतुओं का अनुभव तथा प्राणी जीवन की विचित्र अवस्थाएं आदि में दिक्-काल के मूर्त सन्दर्भ भावजगत् के असंख्य व्यापारों को चित्रित करने में सहायक होते हैं।

दिक्-काल आदि अवधारणाओं की भूमिका तथा अन्त: अनुशासनीय दृष्टि कुछ और उलझ जाती है, जब रचनाकार तथा आलोचक के सन्दर्भ एक दूसरे से अलग नहीं रखे जाते हैं। इस व्यामोह के कारण अन्त:अनुशासनीय प्रतिज्ञाएं तथा विज्ञान पर वीरेन्द्र जी का आग्रह उनके पाठकों को अभिप्रेत दिशा में नहीं ले जाता। वे यह नहीं कहना चाहते कि रचनाकार के लिए ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में तथा आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों के विषय में जानकारी होनी चाहिए अथवा विभिन्न अनुशासनों में निष्णात होना आवश्यक है। वे जानते हैं कि जागरूक रचनाकर का रचनाधर्म तथा कर्म उसके समय की प्रबुद्ध प्रवृत्तियों से अनायास ही प्रभावित होता है। सृजन का वैशिष्ट्य तो इस बात में है कि वह किसी प्रभाव से उतना अभिभूत नहीं होता कि वह उससे आगे न जा सके। इसके विपरीत आलोचक अपने समय की प्रबुद्ध प्रवृत्तियों से अपरिचित रह कर आलोचना कार्य का निर्वाह नहीं कर सकता। कई बार भाषा की समझ, परोक्ष संकेतों तथा प्रतीकों के संदर्भों का स्पष्टीकरण रचना की सही समझ तथा आकलन के लिए अनिवार्य शर्त बन जाते हैं। फलत, अंत:-अनुशासनीय सन्दर्भ तथा वैज्ञानिक बोध की अपेक्षाएं रचनाकार तथा आलोचक के धर्म कर्म में भिन्न भूमिकाएं रखती हैं।

अब यदि आप पृष्ठ ८ पर नये पैरे के आरम्भ पर ध्यान दें तथा आगे की कुछ पंक्तियां देखें तो आपके सामने यह बात स्पष्ट रूप से नहीं आती कि रचनाकार के संदर्भ में तथा आलोचक के संदर्भ में उपर्युक्त भिन्न भूमिकाएं क्या काम करती हैं? अन्तिम अध्याय में (पृष्ठ १४३) वीरेन्द्र जी आलोचना और सृजन में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं। और आलोचना की बात करते करते रचनाकार की बात करने लगते हैं। यहां विचार की बात यह है कि क्या आलोचना तथा रचना एक ही प्रक्रिया के दो सोपान हैं, क्या उनका एक ही अधिष्ठान है? कुछ विलक्षण सन्दर्भों में उत्तर 'हां' होते हुए भी उन्हें अलग प्रक्रियाएं तथा उनके पृथक् अधिष्ठान को मानना ही वस्तुस्थिति के अधिक निकट होगा।

कुल मिला कर वीरेन्द्रजी के लेख विचारोत्तेजक हैं। यद्यपि कोई भी समीक्षक उनमें अनेक प्रकार की असंगतियां दिखा सकता है, फिर भी नई

दिशाएं तथा उनसे उत्प्रेरित उत्साह इन असंगतियों से अधिक विचार विमर्श का मार्ग प्रशस्त करती हैं। मेरे विचार से वीरेन्द्र जी का आलोचना-कर्म इस मांग को काफी सीमा तक पूरा करता है ।

राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

आर-५ विश्वविद्यालय परिसर
जयपुर- ३०२ ००४.
(राजस्थान)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२१६. डॉ. पृथ्वी वल्लभ चन्द्राकर
२/८५३,चौबे कालोनी
रायपुर. (म. प्र.)

२१७. डॉ. जगदीश गुप्त
१८१/अे/१, नागवासुकी
इलाहाबाद-२११ ००६
(उ. प्र.)

२१८. डॉ. भक्तराम शर्मा
१३/२३६, गीता कॉलोनी
गांधी नगर,
दिल्ली - ११० ०३१

२१९. डॉ. कुमुदनाथ झा
ओझा लॉज,
महाराजा हाता
कातिरा
आरा- ८०२ ३०१
(बिहार)

२२०. डॉ. प्रमिला कुमारी
३२, एम्आईजी , चाणक्यपुरी
गया
(बिहार)

२२१. डॉ. भगवन्त सिंह
दर्शन शास्त्र विभाग
रविशंकर विश्वविद्यालय
रायपुर -४९२ ०१०
(म. प्र.)

२२२. डॉ. श्रीमती कुसुमकुमारी
प्रपाठिका, दर्शनशास्त्र
गौतमबुद्ध महिला महाविद्यालय,
गया, (बिहार)

२२३. डॉ. एस्. के. नवल
२३२, ग्रीन एवेन्यू
अमृतसर - १४३ ००१
(पंजाब)

२२४. डॉ. गायत्री शर्मा
नया हनुमान मन्दिर
नेहरू चौक
बुढ़ा पारा
रायपुर-४९२००१
(म.प्र.)

२२५. डॉ. श्रीमती उर्मिला आनन्द
म.नं.८१
आनन्दबाग कालोनी
दयाल बाग
आगरा- २८२००५
(उ.प्र.)

प्रोफेसर जी.आर्. मलकानी निबंध-प्रतियोगिता

किसी भी भारतीय शिक्षा-संस्था में अध्ययन करने वाले और २५ वर्षों से जादा उम्र न होने वाले स्नातक-पूर्व या स्नातकोत्तर छात्र-छात्राओं से प्रोफेसर जी. आर्. मलकानी निबंध प्रतियोगिता के लिये **"भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता"** इस विषय पर अंग्रेजी या हिन्दी में निबन्ध आमन्त्रित किये जा रहे हैं। प्रतियोगिता के लिये स्वीकृत निबन्धों के अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों के मतानुसार प्रथम तथा द्वितीय निबन्धों को क्रमशः रुपये २००/- और रुपये १००/- के पारितोषिक दिये जायेंगे,और पारितोषिक प्राप्त निबन्ध कालान्तर से इण्डियन फिलॉसॉफिकल क्वार्टर्ली की छात्र-परिशिष्टि या परामर्श (हिन्दी) इन त्रैमासिकों में प्रकाशित किये जायेंगे। उक्त पारितोषिक के लिये पेश किये जाने वाले निबन्धों को निम्नलिखित शर्तों के अनुसार प्रस्तुत करना होगा :-

१. निबन्ध डबल स्पेस में कागज की एक बाजू पर टंकलिखित किया हुवा और दो प्रतियों में होना चाहिये।

२. निबन्ध २५०० शब्दों से जादा लम्बाई का न हो।

३. निबन्ध के साथ छात्र/छात्रा जिस संस्था में अध्ययन करता / ती हो उस संस्था/विभाग के प्रमुख / अध्यक्ष का ऐसा प्रमाणपत्र होना चाहिए कि
   अ) छात्र/छात्रा उक्त संस्था / विभाग में अध्यायन कर रहा / ही है और उसकी उम्र २५ वर्षों से जादा नहीं है।
   ब)प्रतियोगिता में प्रस्तुत निबन्ध उक्त छात्र /छात्रा ने लिखा हुआ है।

४. यह आवश्यक है कि प्रतियोगिता के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले निबन्ध डॉ. मंगला रा. चिंचोरे जी के पास दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिण्ड, पुणे ४११००७ इस पते पर हर हालत में ३१-५-१९९२ तक पहुँच जाने चाहिये।

५. अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों का निर्णय सारे प्रतिस्पर्धियों पर बन्धन-कारक होगा और उक्त विषय में किसी भी प्रकार का पत्राचार नहीं किया जायेगा।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
गणेशखिण्ड, पुणे ४११ ००७

संपादकीय

दर्शन मनुष्य के चिंतन का परिपाक है । हर एक आदमी चिंतनशील होता है और जीवन के प्रति उसका अपना कोई रुख भी होता है । उसी को वह अपनी अभिव्यक्तियों से प्रदर्शित करता रहता है । काव्य, संगीत, चित्र, कहानी, उपन्यास, नाटक, नृत्य तथा विज्ञान आदि बहुतेरी विधाओं में उसका चिंतन प्रकट होता है । इन विधाओं में दिक्, काल तथा द्रव्य इन का अमूर्तीकरण कुछ हद तक किया हुआ होता है, हालाँकि दर्शन में वह अमूर्तीकरण पूर्णतया किया जाता है । अतः दर्शन को समझने के लिए काव्यादि दर्शनेतर विधाएँ काफी उपकारक साबित होती हैं । उन विधाओं के आधार से दर्शन को समझ लेना महत्त्वपूर्ण एवं आनंददायक होता है । इस आनंद को किसी विधि या पद्धति की मर्यादा में बाँध के जकड़ रखना वांछनीय नहीं है ।

'परामर्श' (हिंदी) पत्रिका में हम चाहते हैं कि विभिन्न तरह की अभिव्यक्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किये हुए विचारों को प्रकट एवं प्रकाशित होने का मौका मिले । केवल मूल तथा तांत्रिक रूप से जो दर्शनशास्त्र समझा जाता है उसी तक हमारी सीमाएँ रुक न जाएँ । जहाँ तक विचार, चिंतन एवं मनन का सवाल है, निश्चित दार्शनिक विधाओं के साथ-साथ साहित्य, कला तथा अन्य विज्ञानों तक उन का परिवेश विस्तीर्ण है । उस परिवेश में प्राप्त साहित्य के प्रकाशन का पत्रिका में हार्दिक स्वागत है ।

हमारी सामाजिक परंपराएँ, सांस्कृतिक आलेख, वैज्ञानिक गतिविधियाँ इन में उभरनेवाली सांप्रतीय समस्याओं को लेकर चिंतन एवं विचार प्रस्तुत करने वाले लेखों के लिए भी हम आवाहन करते हैं ।

इस पत्रिका की परिधि हमारे संकल्प में विशाल है । लेकिन हमारे संकल्प की सिद्धि लेखकों के सहयोग पर निर्भर करती है । अतः हम चाहते हैं कि किसी एक पिटी-पिटाई राह पर चलने के बजाए जहाँ नवीनता हो ऐसे विचारों एवं शैलियों का प्राधान्य प्राप्त करने वाले साहित्य से लेखक अपना सहयोग सुदृढ करते जाएँ । हम चाहते हैं कि किसी एक समस्या को लेकर उस पर लिखित परिचर्चा भी पत्रिका में प्रकाशित हो जाए । इस की जिम्मेदारी उठाने के लिए भी हमें लेखकों से सहयोग की अपेक्षा है ।

हम आशा करते हैं कि लेखकगण अपने सहयोग से **'परामर्श' (हिंदी)** पत्रिका के इस संकल्पित उन्मुक्त एवं संपन्न रूप को मूर्त बनाने के लिए अपने लेखों से हमें लाभान्वित करके अवश्य सहयोग देते रहेंगे ।

कार्यकारी सम्पादक

मानव-मानसिकता पर आधुनिक टेक्नोलोजी का प्रभाव

(१)

मैं यह समझ नहीं पा रहा कि मैं किस प्रकार अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के सदस्यों एवं अधिकारियों को इस आदर के लिये धन्यवाद दूँ। वैसे, इन दिनों अध्यक्ष का चयन तो मताग्रह के प्रयत्न के अनुरूप ही होता है, तथा अध्यक्षीय भाषण औपचारिकता का निर्वाह मात्र बनता जा रहा है। किन्तु परिषद् के अधिकारी एवं अधिकांश सदस्यों का जिस प्रकार का स्नेह और आदर हमें मिलता रहा है, वह हमें यह सोचने को विवश करता है कि एक अस्वस्थ और इसलिये भयभीत व्यक्ति को बिना मताग्रह के प्रयत्न के अपने अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत करने के पीछे हमारे मित्रों की हम से कुछ अपेक्षा तो अवश्य है– और यही सोच मेरे कार्य को और अधिक दुरूह बना देती है।

इसी मनःस्थिति में मैं यह सोचने लगा कि कुछ ही वर्ष पूर्व हम अध्यक्षीय भाषणों को संजो कर रखते थे, उनसे कुछ रचनात्मक चिन्तन का दिशा-निर्देश प्राप्त करते थे। अब क्या हो गया कि वही भाषण औपचारिकता के स्तर पर उतर आया! क्या हमारे सोचने-समझने - देखने का ढ़ंग ही परिवर्तित हो गया है ? क्या हमारी मानसिकता ही बदल रही है ? क्या जीवन और अस्तित्व को समझने की हमारी दृष्टि में ही कुछ आमूल परिवर्तन हो रहा है ?

और मैं इसी प्रश्न में उलझ गया। सोचने लगा कि क्यों नहीं इस बदलती हुई मानसिकता पर ही विचार करूँ ? वैसे, इसकी निश्चित रूपरेखा का बकाये चित्रण तो संभव नहीं है, किन्तु दार्शनिक चिन्तन इसकी कुछ विशिष्टताओं को स्पष्ट अवश्य कर सकता है।

ऐसा नहीं है कि वर्तमानकाल का नवीन दार्शनिक चिन्तन इस प्रश्न के प्रति सर्वथा उदासीन है। नहीं, इस शताब्दी के उत्तरार्ध में विचारकों ने इस बदलती हुई मानसिकता को निकट से समझने का प्रयत्न किया है, तथा इसके उपकरण एवं प्रभावों पर प्रकाश ड़ाला है। गत पन्द्रह वर्षों में तो ऐसा प्रतीत होता रहा है कि वर्तमान काल में परिवर्तन का एक सर्वथा नवीन आयाम प्रकाश में आया है। इस काल में परिवर्तन उत्पन्न करने वाले कुछ ऐसे विशिष्ट उपकरण प्रतिष्ठित हो गये हैं कि उन्हीं के प्रभाव में मानव के देखने-सोचने-समझने के ढ़ंगों में आमूल परिवर्तन हो रहा है। यह प्रभाव इतना व्यापक हो गया है कि इससे जीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं रह पाया है। यह प्रभाव सशक्त रूप में पारिवारिक अपेक्षा, सामाजिक संबंध, राजनैतिक व्यवस्था, दार्शनिक चिन्तन तथा जीवन के हर क्षेत्र में – यहाँ तक कि मानव की आम रुचि और कार्य-प्रणाली के निर्धारण पर भी सक्रिय हो गया है।

दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस बार वैचारिक परिवर्तन के फलस्वरूप मानसिकता नहीं बदल रही है, बल्कि बदलती मानसिकता के प्रभाव में 'जीने' का ढ़ंग बदल रहा है, तथा चिन्तन को एक नया आयाम मिल रहा है– एक ऐसा आयाम जिसमें चिन्तन के समक्ष चिन्तन को त्यागने की चुनौती भी निहित है। यह एक विलक्षण वैचारिक क्रान्ति है जिसमें विचार 'विचार की उपादेयता' पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाने को तत्पर हो गया है। विचार के इतिहास के लिये भी यह एक सर्वथा नवीन मोड़ है जो विकास के हर प्रचलित ढ़ंग से पूर्णतया भिन्न है।

(२)

'वैज्ञानिक क्रान्ति' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए टॉमस कून ने कहा है कि विज्ञान के विकास-क्रम में जब कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है तो वह परिवर्तन मूल प्रतिमानों (Paradigms) का परिवर्तन होता है। इस प्रकार के परिवर्तन का अर्थ यह है कि पहले के मान्य प्रतिमान के स्थान पर एक नवीन प्रतिमान स्थापित हो जाता है, और अब व्याख्या के सभी आयाम इस नये प्रतिमान के अनुरूप रचित होते हैं। इस प्रतिमान-विचार की कड़ी आलोचनाअें भी हुई हैं। मैं भी इस विचार का पूर्ण समर्थक नहीं हूं। किन्तु इसमें निहित एक तथ्य ऐसा है जिसे भिन्न भिन्न रूपों में, भिन्न भिन्न नामों के साथ सदा मान्यता मिलती रही है। मतभेदों से ऊपर उठ कर इतना तो कहा ही जा सकता है कि हर युग की कुछ विशिष्ट वैचारिक मान्यताएँ स्थापित हो ही जाती हैं, या उस युग के ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों पर आधृत होती हैं। इन मान्यताओं में इतनी तो शक्ति आ ही जाती है कि वे उस समय की वैचारिक संस्कृति के अंश बन कर उभरती हैं और उस काल के जीवन एवं चिन्तन को स्पष्ट रूप में प्रभावित करती हैं। यह ठीक है कि यदि कोई उन मान्यताओं की स्पष्ट रूपरेखा खींचने का, उन्हें स्थापित सत्यों के समान निरूपित करने का प्रयत्न करे तो वह वैसा नहीं कर पाता। उन मान्यताओं की पूर्णतया निश्चित स्थापना करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कून के विरुद्ध यह एक मूल आपत्ति भी है– फिर भी उनकी इस अनिश्चयता से कोई अन्तर नहीं पड़ता; बल्कि उनके इस अनिश्चित स्वरूप और उसमें निहित उनकी प्रभाव-शक्ति में दार्शनिक चिन्तन के लिये एक नया चिन्तन-विषय उत्पन्न हो जाता है। अनिश्चयता और अस्पष्टता तो दार्शनिक चिन्तन को जन्म देती ही है; साथ साथ यह समझ कि अनिश्चयता के रहते हुए भी इन वैचारिक मान्यताओं का जीवन पर व्यापक प्रभाव है दार्शनिक चिन्तन को और अग्रसर करती है। सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान युग की भी कुछ वैचारिक मान्यतायें उभर कर सामने आ गयी हैं, जो जीवन के हर पक्ष को प्रभावित कर रही हैं। इसी प्रभाव में आज की मानव-मानसिकता बदल रही है। इसे 'प्रतिमान' कहें, 'वैचारिक मान्यता' कहें, या कोई अन्य नाम दें– इतना तो स्पष्ट ही है कि जीवन को इस रूप में प्रभावित करने वाला तथा मानसिकता में मौलिक बदलाव उत्पन्न करने वाला यह उपकरण है– 'टेक्नोलोजी'।

(३)

प्रथमतः तो इस बात पर बल देना अनिवार्य है कि आज हमें यह स्वतंत्रता नहीं है कि हम इस 'टेक्नोलोजी' शब्द का अपने मनोनुकूल अर्थ-निर्धारण कर लें। आधुनिक काल में 'टेक्नोलोजी' यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ ले कर प्रतिष्ठित हुआ है, और हमारे लिये यह एक प्रकार की बाध्यता हो गयी है कि हम इसे किसी दूसरे अर्थ में नहीं समझ सकते। सामान्यतः वैज्ञानिक सत्यों के वास्तविक प्रयोग एवं उपयोग के ढ़ंगों को 'टेक्नोलोजी' कहा जाता रहा है; परन्तु आज 'टेक्नोलोजी' विज्ञान का अनुगामी नहीं, बल्कि विज्ञान ही पूर्णतया 'टेक्नोलोजी' पर आधृत है। 'टेक्नोलोजी' भी मशीन-केन्द्रित है, किन्तु 'टेक्नोलोजी' के अन्तर्गत मशीन की मशीनियत भी नये ढ़ंग से अर्थवान् हो गयी है। औद्योगिक क्रान्ति में भी 'मशीन' ही केन्द्रीय था, किन्तु वहां मशीन मानव में अलगाव-भाव उत्पन्न करने का उपकरण बन गया था। यही सूझ मार्क्स के विचारों का प्रेरणा-स्रोत था। किन्तु टेक्नोलोजी के युग में मशीन मात्र अलगाव उत्पन्न नहीं करता, बल्कि वह तो जीवन और समाज में समा कर उसका अंग बन गया है। वह समस्त जीवन के साथ जुट गया है, और यही उसके व्यापक प्रभाव का मूल कारण है।

वैसे देखा जाय तो विचारकों ने इस प्रकार की टेक्नोलोजी के विशिष्ट लक्षणों की चर्चा की है। उनका विशद विवरण तो यहाँ संभव नहीं, किन्तु इसके कुछ ऐसे लक्षणों का उल्लेख तो करना ही है जिनका सक्रिय प्रभाव मानव-मानसिकता के बदलने पर हुआ है। मैंने एक अन्य लेख में बैकस एलल के विचारों से सहायता लेते हुए आधुनिक टेक्नोलोजी के आठ विशिष्ट लक्षणों का विवरण दिया है। वे हैं– बुद्धि-सम्मत व्यवस्था (Rationality), प्रवन्धन-सम्बन्धी संगठन (Organisation), स्वचालिता (Automation), स्ववृद्धिमूलता (Self-augmentation), स्वायत्तता (Autonomy), कृत्रिमता (Artificiality), एकवादिता (Monism), तथा सार्वभौमता (Universalism)। 'बुद्धि-सम्मत व्यवस्था' उस स्थल पर दिखायी देती है जहाँ कार्य-सम्पादन का आधार बौद्धिक श्रम-विभाजन एवं पूर्ण व्यवस्थित कार्य-प्रणाली पर टिका हो, तथा वहाँ परिणाम या उत्पाद स्थापित मानक के पूर्णतया अनुरूप हो। जिस कार्य में कोई बौद्धिक ढ़ंग या सिलसिला या व्यवस्था नहीं हो वह बुद्धि-सम्मत हो ही नहीं सकता। टेक्नोलोजी इसी अर्थ में बुद्धि-सम्पन्न कार्य निष्पादित करती है। टेक्नोलोजी का एक लक्षण स्वचालिता है। इसका अर्थ यह है कि यह एक ऐसा सुव्यवस्थित तंत्र है कि इसके हर ढ़ंग पूर्ण-गणना के अनुरूप नाप कर निर्धारित किये हुए होते हैं– वह भी इस प्रकार कि वह तंत्र स्वतः अपनी निर्दिष्ट दिशा की ओर अग्रसर होता रहता है। इस लक्षण के साथ साथ टेक्नोलोजी में स्ववृद्धिमूलकता का लक्षण जुटा है, जिससे यह सूचित होता है कि टेक्नोलोजी का तंत्र किसी बाह्य उपादान के हस्तक्षेप को नहीं स्वीकारता। यह अपना दिशा-निर्देश अपने आप करता है, और इस दृष्टि से यह पीछे लौटना नहीं जानता, बल्कि हर क्षण नयी दिशा खोज कर अपनी शक्ति से उस ओर अग्रसर होता है। टेक्नोलोजी का एक विशिष्ट लक्षण यह है कि इसमें पूर्ण स्वायत्तता होती है। टेक्नोलोजी अपना स्वामी स्वयं है,

वह किसी का अनुगामी या अनुचर या दास नहीं बन सकता– यहाँ तक कि वांछित परिणाम भी टेक्नोलोजी का स्वरूप निर्धारित नहीं करते, क्योंकि टेक्नोलोजी की गति इसी मान्यता पर आधृत है कि यदि इसका संथारा हुआ तंत्र पूर्णतया सुव्यवस्थित हो तो वांछित परिणाम प्राप्त होंगे ही। यदि कभी यह वांछित परिणाम को नहीं पा पाता, तो यह टेक्नोलोजी की असफलता का सूचक नहीं है, बल्कि इसका मात्र इतना ही अर्थ है कि उस तंत्र की व्यवस्था-प्रणाली का पुनः निरीक्षण आवश्यक हो गया है, जिससे कि उसमें समुचित परिवर्तन किया जा सके। 'कृत्रिमता' को जब टेक्नोलोजी का लक्षण बताया जाता है तो इस शब्द का एक विशिष्ट अर्थ स्पष्ट होता है। यह प्रकृति में मशीनीय उपयोगिता के उपकरणों को पहचानने की प्रवृत्ती है। उदाहरणतः, टेक्नोलोजी के लिये विस्तृत पर्वत-शृंखला सौन्दर्यानुभूति का विषय नहीं, बल्कि उसमें थल-मार्ग या रेल-मार्ग निकाल सकने की या इसी प्रकार के किसी अन्य प्रयोजन की पहचान-शक्ति मात्र है। इसे 'कृत्रिमता' इस कारण कहा गया है कि यह प्रकृति - अनुरूपता नहीं है, बल्कि प्रकृति में प्राकृतिकता से भिन्न मानवजनित बाह्य उपादानों को बिठाने की चेष्टा है। वर्तमान काल में टेक्नोलोजी जिस रूप में कार्यरत है, उसमें ऊपर बाताये सभी लक्षण स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त जिस सबल ढ़ंग से यह जीवन तथा समाज पर छाया जा रहा है, उसके आधार पर इसके दो अन्य लक्षण भी स्पष्ट हो गये हैं– जिन्हें 'एकवादिता' तथा 'सार्वभौमता' कहा जा रहा है। 'एकवादिता' से यह तथ्य सूचित होता है कि जहाँ टेक्नोलोजी का प्रभाव पड़ता है वहाँ अन्य सभी प्रभाव शिथिल पड़ जाते हैं। टेक्नोलोजी का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता। जहाँ यह प्रवेश करती है वहाँ शनैः शनैः इसकी एकछत्रता स्थापित हो जाती है। यदि इसके विरुद्ध आवाज उठती भी है, तो उस आवाज में ही एक निर्बलता एवं प्रतिरक्षात्मकता का भास प्रतीत होता है, क्योंकि टेक्नोलोजी का विरोध बुद्धि-सम्मत नहीं प्रतीत होता। 'सार्वभौमता' यह इसका लक्षण इसकी व्यापकता का सूचक है। इससे यह सूचित होता है कि जीवन के हर क्षेत्र में– दैनिक क्रियाओं से हो कर बड़े-बड़े कार्यनिष्पादन में– टेक्नोलोजी का उपयोग अनिवार्य होता जा रहा है।

अतः आज की टेक्नोलोजी को समझने के सभी प्रचलित ढ़ंग अपूर्ण सिद्ध हो गये हैं। यह अब मात्र मशीनी जीवन नहीं है, यह मशीनों तथा अन्य उपकरणों के माध्यम से किसी वांछित लक्ष्य की प्राप्ति मात्र नहीं है। यह मात्र 'यान्त्रिक कुशलता' नहीं है। टेक्नोलोजी यह सब है, इसके साथ साथ इसमे एक ऐसी विलक्षणता उभर आयी है कि यह वर्तमान आधुनिक जीवन के आधार के रूप में उभर रही है। प्रतीत होता है कि टेक्नोलोजी पूर्ण जीवन है– इसके बिना मानव ही अपूर्ण एवं अधूरा प्रतीत होता है।

(४)

इस प्रकार की टेक्नोलोजी का मानव-मानसिकता पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। उस प्रभाव का पूर्णतया निश्चित निर्देश तो सम्भव नहीं, मानव-मानसिकता के स्वरूप का

ही निश्चित निर्देश संभव नहीं, किन्तु उस प्रभाव का चित्रांकन तो संभव है ही– उसके कुछ परिलक्षित रूपों पर प्रकाश तो ड़ाला ही जा सकता है– और यही इस भाषण-लेख का उद्देश्य भी है।

वैसे देखा जाय तो 'मानव-मानसिकता' के सम्बन्ध में यह विभिन्न रूपों में माना जाता है कि इसके तीन पक्ष होते हैं– इसका वैचारिक तथा ज्ञानात्मक पक्ष, इसका भावनात्मक पक्ष तथा इसका क्रियात्मक पक्ष। मानसिकता के रूप लेने में व्यक्ति की वैचारिक मान्यताओं तथा उसके विशिष्ट एवं सामान्य ज्ञान का योगदान तो रहता ही है। उसी प्रकार मानसिकता के हर संगठित रूप का एक प्रबल पक्ष उसकी भावनात्मकता होती है, तथा यही मानसिकता किसी न किसी रूप में हर प्रकार की क्रियात्मकता का प्रेरक है। इस सर्वमान्य तथ्य के अतिरिक्त यह भी प्रायः माना ही जाता है कि मानसिकता की प्रतिक्रिया में इसके विभिन्न पक्षों के द्वारा खण्डित रूप में नहीं होती, बल्कि, इसके विपरीत, हर प्रतिक्रिया में ये तीनों पक्ष क्रियाशील रहते हैं– भले ही किसी उदाहरण में प्रबलता किसी एक पक्ष की हो तथा दूसरे उदाहरण में किसी दूसरे पक्ष की। जिस पक्ष की प्रमुखता रहती है उसी के अनुरूप इन प्रतिक्रियाओं को ज्ञानात्मक या भावनात्मक या क्रियात्मक कहा जाता है। किन्तु यह तो है ही कि मानसिकता की प्रतिक्रियायें व्यक्ति की संपूर्णता की होती है, जिसमें व्यक्तित्व का हर पक्ष किसी न किसी रूप में क्रियाशील हो ही पाता है। इन सभी विशिष्टताओं के अतिरिक्त मानसिकता के निरूपण एवं विकास में एक अन्य विशिष्ट उपकरण का भी महत्त्व है। व्यक्ति का उस 'जगत्' से, जिसमें यह स्थित होता है, एक विशिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। उस जगत् में भिन्न भिन्न प्रकार के 'वस्तुतत्त्व' भी हैं तथा 'अन्य' भी हैं– जगत् के पदार्थ भी हैं और समाज के सदस्य भी हैं। व्यक्ति जिन रूपों में इनसे– जगत् के वस्तुतत्त्वों तथा अन्य व्यक्तियों से– सम्बन्धित होता है उनका उसकी मानसिकता के गठन में योगदान है। हर व्यक्ति की मानसिकता उसके जगत् तथा अन्य के सम्बन्धों के अनुकूल ही संरचित तथा विकसित होती है।

इस प्रकार हमने मानव-मानसिकता के पाँच प्रमुख विशिष्टताओं का उल्लेख किया। मानसिकता की संरचना, उसके संगठन एवं विकास में इन पाँचों का हाथ रहता ही है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आज जो मानव-मानसिकता में बदलाव दिखाई दे रहा है उसका एक प्रमुख कारण यही है कि आधुनिक टेक्नोलोजी मानसिकता की इन पाँचों वृत्तियों को साक्षात् ढ़ंग से प्रभावित कर रही है। हमारी वैचारिकता, हमारा भावनात्मक जीवन, क्रियाशीलता के हमारे ढ़ंग, हमारा संपूर्ण व्यक्तित्व तथा जगत्, तथा अन्य व्यक्तियों के साथ हमारे सम्बन्ध– ये सभी टेक्नोलोजी के प्रभाव में नये रूपों में उभर रहे हैं। फलतः हमें प्रतीत होता है कि हमारी मानसिकता पहले की मानसिकता न ही हो, आज का मानव शायद एक सर्वथा नवीन मानसिकता लेकर खड़ा हो रहा है। इसे पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए हम इन पाँचों पर टेक्नोलोजी के प्रभाव की अलग अलग विवेचना करें।

(५)

पहले हम यह देखें कि किस प्रकार टेक्नोलोजी का प्रभाव हमारी मानसिकता के वैचारिक पक्ष पर पड़ता है। टेक्नोलोजी का एक ढ़ंग तो यह है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए बहुत सोचने-विचारने का अवसर ही नहीं छोड़ती। वस्तुतः विचार का प्रारंभ किसी समस्या की समस्यात्मकता की पहचान में होता है। जब कोई ऐसी स्थिति प्रस्तुत हो जाती है जिसके साथ हमारी प्रतिक्रिया के सामान्य ढ़ंग जूझ नहीं पाते तो वही 'समस्या' बन जाती है, तथा उसी स्थिति में विचार का जन्म होता है। किन्तु अब तो टेक्नोलोजी धीरे धीरे हमारी सभी समस्याओं को सुलझाने का भार लेती जा रही है। हर प्रकार के कम्प्यूटर हमारे लिये विचार कर लेते हैं– और वह भी समय का अपव्यय किये बिना। सामान्य जीवन की आवश्यकताओं के लिए भी हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जन-सम्पर्क-माध्यमों के विभिन्न ढ़ंगों के द्वारा टेक्नोलोजी हमारी अभिरुचि भी निरूपित करती है तथा यह तय भी कर देती है कि हमारी आवश्यकता किस प्रकार से पूरी होगी।

विचार की आवश्यकता उस समय भी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति को चुनाव करने का अवसर मिलता है। टेक्नोलोजी विचित्र रूप में व्यक्ति के चयन-विधि को भी सीमित कर देती है। सुखसुविधा तथा आवश्यकता के सभी उपकरण इस सुगमता से व्यक्ति के निकट पहुँच जाते हैं कि इनके लिए भी किसी मानसिक श्रम की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। साथ साथ टेक्नोलोजी हर प्रकार की आवश्यकता के लिए व्यक्ति के समक्ष असंख्य विकल्प प्रस्तुत कर देती है। इस असंख्यता से व्यक्ति विभ्रान्ति की अवस्था में उलझ जाता है। भ्रान्त व्यक्ति की विचार-शक्ति अशक्त होने लगती है। फलतः वह अपने को इनमें से कुछ ऐसे विकल्पों तक सीमित कर लेता है जिससे उसकी आवश्यकतायें यन्त्रवत् पूरी होती जाय और उसे सोचना न पड़े।

व्यक्ति विचार तब करता है जब वह आश्वस्त रहता है कि उसके पहल करने से उसके उपक्रम को मान्यता मिलेगी। किन्तु टेक्नोलोजी के युग में वैयक्तिक पहल का कोई महत्त्व नहीं। टेक्नोलोजी एक ऐसा सुव्यवस्थित तंत्र है जिसका हर अंग पूर्व-व्यवस्था के अनुरूप संगठित रूप में कार्य करता है। यहाँ 'टीम' का महत्त्व है, संगठित व्यवस्था का महत्त्व है; व्यक्ति का कार्य मात्र यही है कि वह सही उद्दीपन पर सही समय में सही बटन दबा सके। अंतरिक्षयात्रियों के प्रशिक्षण में उनके वैयक्तिक पहल की प्रवृत्तियों को प्रायः कुबल ही दिया जाता है। कुछ कम मात्रा में उसी प्रकार का प्रशिक्षण वायुयान के पायलटों के लिये उपयोग में लाया जाता है। तो जब मशीन-मार्जित व्यवस्थित तंत्र इस रूप में वैयक्तिक पहल को अनावश्यक बना सकता है, तो उस के प्रभाव में शनैः शनैः मशीनी जीवन जीने वाले व्यक्ति के लिए विचार की आवश्यकता ही समाप्त हो जाती है।

इसके परिणामस्वरूप विचार को अपने में एक मूल्य समझने की प्रवृत्ति कम होने लगती है। जब हम बिना विचार किये वह सब सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं जिसे प्राप्त करने के लिये पहले लोगों को सतत विचार करना पड़ता था, तब विचार की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। अब मानव-मानसिकता में यह बात घर करने लगती है कि विचार को महत्त्व देना कोई मूल्य या आदर्श नहीं है। वैचारिकता मशीनी यन्त्रवत्तता में धीरे-धीरे अपने को खोने लगती है।

(६)

'टेक्नोलोजी' का इस प्रकार का प्रभाव तो भावनात्मक जीवन पर और प्रबल रूप में पड़ता है। कहा जाता है कि टेक्नोलोजी जहाँ प्रवेश करती है वहाँ की पहले से स्थापित व्यवस्था को उलट-पुलट कर देती है। यह वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक बन्धन, आत्मीयता के सम्बन्ध आदि सभी को प्रभावित करती है। जब वैयक्तिक जीवन यन्त्रवत् लेकिन सुविधा-पूर्ण ढंग से व्यतीत होने लगता है, तो उसका हृदय शुष्क होने लगता है। श्रम से प्राप्त वस्तुओं के प्रति एक अपनेपन की भावना जागती है। बिना श्रम यन्त्रवत् रूप में उपलब्ध वस्तुओं के प्रति भावनात्मक शून्यता का भाव होना स्वाभाविक है।

उसी प्रकार टेक्नोलोजी पारिवारिक बन्धनों तथा आत्मीयता के सम्बन्धों से भी व्यक्ति को मुक्त करती जाती है। एक उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। अभी तक भारत में पारिवारिक बन्धन एवं आत्मीयता के सम्बन्धों के बने रहने का एक कारण 'रोग-व्याधि' है। हम युग्नावस्था में पूर्णतया अपने पर निर्भर रहते हैं। लेकिन वृद्धावस्था तथा रुग्णावस्था के लिए बच्चों को परिवार के सदस्यों का सहारा माना जाता है। यह अनुभूति हमें एक सूत्र में बांधे रहती है। भारत में जो अकेले हैं उन्हें यह बात कम अत्यधिकता से खटकती है। किन्तु टेक्नोलोजी की दृष्टि से विकसित देशों में यह बन्धन उतना सुदृढ नहीं है, क्योंकि इसे सुदृढ बनाये रखने का एक सबल आधार वहाँ नहीं है। वहाँ हर व्यक्ति को स्वास्थ्य-सेवा पूर्णतया उपलब्ध है। इस उपलब्धता का आधार सरकारी व्यवस्था तो है ही, किन्तु सरकारी व्यवस्था भी सफल इसी कारण है कि टेक्नोलोजी ने उपकरणों को इस प्रकार से उपलब्ध करा दिया है कि एक ही स्थान में एक साथ सैकड़ों व्यक्तियों को हर प्रकार की स्वास्थ्य-सेवा दी जा सकती है। फलतः वैसे देशों में रोग-व्याधि परिवार की या मित्रों की समस्या ही नहीं रह गयी है। रोगी पति से पत्नि भी मात्र कुछ घण्टों के लिये मिल पाती है। इस प्रकार पारस्परिक संबंधों की उष्णता जीवित रखने का एक उपकरण लुप्त होता जा रहा है। भारत में अभी तक वैसा नहीं है, किन्तु यहाँ भी टेक्नोलोजी के बढ़ते प्रभाव में जैसे-जैसे, जहाँ-जहाँ बीमारी में पारिवारिक निर्भरता कम होती जा रही है, वैसे-वैसे वहाँ भी आत्मीयता को सहेजे रखने का एक आधार ढीला पड़ता जा रहा है।

इस प्रकार के भावनात्मक परिवर्तन का एक कारण और भी है। यह तो स्पष्ट ही है कि टेक्नोलोजी से निरूपित जीवन में यन्त्रवत्तता बढ़ती जाती है। मशीनी जीवन जीने वाला मानव भी अन्दर से मशीनी बनने लगता है। और मशीनों में 'भावना' नहीं होती, बल्कि उनकी मशीनियत की एक पहचान भावना-शून्यता ही है। तो, मशीनी जीवन जीने वाला मानव धीरे धीरे भावनात्मकता को त्यागते हुए वैसे ही गुणों को महत्त्व देने लगता है जो मशीनी क्रियात्मकता के साथ जुड़े हैं। अतः मानवीय सहृदंयता के स्थान पर मशीनी गुणों को प्रधानता दी जाती है, जैसे, समयनिष्ठता, नियमितता, अनवरतता, यथातथ्यता, निश्चयता, क्रमानुसारता, सुव्यवस्थित अनवरुद्ध क्रियाशीलता, मानव-अनुरूपता आदि। जिस समाज पर टेक्नोलोजी का जितना अधिक प्रभाव पड़ा है, उसमें उतनी ही अधिक इन गुणों को मान्यता मिलती रही है, तथा इस प्रभाव में मानवीय भावनात्मकता में पनपे गुण उपेक्षित हो जाते हैं। यही कारण है कि टेक्नोलोजी की दृष्टि से विकसित देशों में पारिवारिक सम्बन्ध तथा आत्मीयता के बन्धन शिथिल पड़ते जा रहे हैं।

(७)

वैचारिकता तथा भावनात्मकता के महत्त्व के कम होने का एक अर्थ तो यह है कि टेक्नोलोजी के प्रभाव में क्रियाशीलता का महत्त्व बढ़ जाए। किन्तु यहां ध्यान इस बात पर देना है कि टेक्नोलोजी क्रियाशीलता पर एक विशिष्ट रूप में ही बल देती है। ऐसा नहीं है कि टेक्नोलोजी के प्रभाव में वैयक्तिक कर्मठता को प्रोत्साहन मिलता हो। इसके विपरीत, जिस प्रकार की क्रियाशीलता पर टेक्नोलोजी बल देती है, उसकी अपनी कुछ विशिष्टतायें हैं जो सामान्य वैयक्तिक कर्मठता से सर्वथा भिन्न हैं।

टेक्नोलोजी वैयक्तिक पहल पर बल ही नहीं देती। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसे एक टीम, एक दल चलाता है। यहां 'टीम-भावना' का भी प्रश्न नहीं है, क्योंकि दल के अधिकांश सदस्यों को न तो अन्य सदस्यों की जानकारी रहती है, और न यह भी जानकारी रहती है कि उनके द्वारा किये कार्यों का अन्ततः क्या उपयोग है। प्रत्येक सदस्य तो मशीन के एक अवयव के समान अपना कार्य यन्त्रवत् करता जाता है, और तंत्र अपनी आन्तरिक व्यवस्था के अनुरूप परिणाम देता जाता है। अतः इस क्रियात्मकता में व्यक्ति की कार्यकुशलता महत्त्वपूर्ण नहीं होती; वैयक्तिक कार्यकुशलता तो टेक्नोलोजी की व्यवस्था से संगत ही नहीं है। यहां क्रियात्मकता का अर्थ है कि व्यक्ति अपनी क्रियात्मकता को मशीनी व्यवस्था का सुव्यवस्थित अंश बना दे।

इस तंत्र की क्रियात्मकता का निर्धारक परिणाम या उत्पाद का लक्ष्य भी नहीं है। इसके पहले ही टेक्नोलोजी की स्वायत्तता एवं स्वचालिता के लक्षणों का उल्लेख हुआ है। उन्हें ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि टेक्नोलोजी की क्रियात्मकता का आधार यह मान्यता है कि

यदि यंत्र पूर्णतया व्यवस्थित है तो परिणाम प्राप्त होंगे ही। यदि परिणाम न ही मिलते तो इसका मात्र इतना ही अर्थ है कि व्यवस्था का पुनर्निरीक्षण हो। अतः आज की क्रियाशीलता में प्रयोजनों या लक्ष्यों का स्थान भी गौण रहता है; उसके स्थान पर महत्त्व बढ़ जाता है प्रणाली का, पद्धति का, व्यवस्था के ढंग तथा विधि का। टेक्नोलोजी क्षमता को महत्त्व तो देती है, किन्तु दक्षता की पहचान का केन्द्र व्यवस्था ही है, व्यक्ति नहीं। कार्य-कुशलता व्यवस्था में रहती है, व्यक्ति उसका आधार नहीं। यदि व्यक्ति अपने निर्धारित कार्य में उस व्यवस्था पर आधृत दक्षता का निर्वाह नहीं करता तो उसे भी मशीनी अवयवों के समान निकाल कर फेंका जायगा।

दार्शनिक भाषा में कहा जा सकता है कि टेक्नोलोजी के तंत्र में साधन और साध्य का भेद प्रायः समाप्त हो जाता है। सामान्यतः यह माना जाता है कि साधन उपकरण के स्तर पर है, तथा साध्य लक्ष्य है जो साधन के उपकरण के रूप में प्रयोग करने से प्राप्त हो जाता है। किन्तु जब टेक्नोलोजी की क्रियात्मकता इस आधार पर कार्यरत है कि व्यवस्था के सही रहने पर लक्ष्य-प्राप्ति होगी ही तो साध्य या लक्ष्य का स्थान गौण हो जाता है। कहा जाता है कि आज की टेक्नोलोजी आवृत्त क्रियात्मकता की प्रेरक है- मैं कर सकता हूं इसलिये मुझे करना है। मैं चांद पर जा सकता हूँ इसलिये मुझे चांद पर जाना है, मैं अणु-विस्फोट कर सकता हूँ इसलिये मुझे वैसा करना है। स्पष्ट है, यहां चांद पर जाना महत्त्वपूर्ण नहीं, जा पाने की शक्ति की अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण है। अणु-विस्फोट का लक्ष्य यदि केन्द्रीय होता तो उसके सभी परिणामों पर भी ध्यान दिया जाता। किन्तु यहाँ तो विवशता इस बात की है कि अपनी व्यवस्था की शक्ति का निर्देश ही तो करना है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की क्रियात्मकता मानव की मूल्यव्यवस्था तथा सामाजिक मानसिकता को एक नये ढंग से प्रभावित करती है। इस प्रभाव में साधन-मूल्य तथा आन्तरिक मूल्य में भेद करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि कोई मूल्य अपने में मूल्य नहीं रह जाता। और जब कोई मूल्य स्वतः मूल्य नहीं रह जाता तो मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का भी प्रश्न नहीं उठता। अब तो मूल्यों की पहचान में भी एक तदर्थता आ जायगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस प्रकार की भावना-शून्य क्रियात्मकता के प्रभाव में मानव की मानसिकता का मूल्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो जाता है।

(८)

इस प्रकार टेक्नोलोजी के प्रभाव में वैयक्तिकता का महत्त्व ही कम होता चला है, और तब यह भी स्पष्ट है कि उस अनुभूति में व्यक्ति की प्रतिक्रियायें भी उसकी संपूर्णता की प्रतिक्रियायें नहीं हो पातीं। इस प्रभाव में व्यक्ति की प्रतिक्रियायें खण्डित रूप में ही व्यक्त होती हैं। मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता तथा भावनात्मकता व्यक्ति की संपूर्णता को बनाये रखने में सहायक होती हैं। इनका अभाव तथा इसके साथ टेक्नोलोजी के द्वारा व्यक्ति की दैनिक

आवश्यकताओं की सहज रूप में आपूर्ति व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं में भी एक प्रकार की तदर्थता उत्पन्न करती है।

प्रतिक्रियाओं की ऐसी तदर्थता में व्यक्ति के आंतरिक संगठन का तनाव ही व्यक्त होता है। प्रतिक्रियायें संगठित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तभी होती हैं जब उनमें एक प्रकार की समरूपता हो-- जब उनकी कुछ निश्चित पहचान उभरे। किन्तु टेक्नोलोजी सभी स्थापित मूल्यों को असंतुलित कर उपयोगी इष्टसिद्धि को जीवन का उद्देश्य बना देती है, और वह भी इस प्रकार कि इष्ट लक्ष्य का निर्धारण-निरूपण व्यक्ति नहीं करता, टेक्नोलोजी ही करती है। फलतः उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया भी समरूप नहीं रहती, असंतुलित ही हो जाती है।

इस बात की यथार्थता का एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज के आधुनिक जीवन जीने वाले व्यक्तियों में उनके क्रिया-व्यवहारों में इस समरूपता के अभाव तथा असंतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न हुए कुछ लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। आन्तरिक सम्पूर्णता के विच्छिन्न हो जाने के फलस्वरूप ही आज का मानव अपने को विक्षिप्त व्यक्ति के समान हर समय व्यस्त रखता है, फुरसत या अवकाश से उसे घबराहट होती है। उसमें मेधा तथा गाम्भीर्य की कमी दिखायी देती है। वह अतिशीघ्र उत्तेजित हो जाता है, अकारण चिड़चिड़ापन उसका स्वभाव बनता जाता है।

इस प्रकार का जीवन जीते जीते मानव का अभिरुचि-क्षेत्र भी एक घेरे तक सीमित हो जाता है।

टेक्नोलोजी उसके समक्ष असंख्य विकल्पों को प्रस्तुत अवश्य करती है, किन्तु उनकी असंख्यता से व्यक्ति भ्रान्त हो जाता है। उसका प्राथमिक झुकाव तो उन विकल्पों के प्रति होता है जो तात्कालिक फैशन के अनुरूप हों। किन्तु वे भी बहुत देर तक उसकी अभिरुचि को बांध कर नहीं रख पाते। बहुत शीघ्र वह उनसे भी ऊब जाता है। इस 'ऊब' को कुछ विचारकों ने बड़ा व्यापक बना दिया है। किन्तु यह ऊब भी मानसिकता की विक्षिप्त अवस्था की एक अभिव्यक्ति है। वस्तुतः यह एक विचित्र मानसिक थकान है-विचित्र इस कारण कि यहाँ विचार विचार-रत हो कर नहीं 'थका' है, बौद्धिक विचार की रिक्तता तथा आन्तरिक भावनात्मक तनाव इस थकान के जनक हैं। यही कारण है कि वह अपने को व्यस्त रखता है, किसी क्षेत्र में या किसी कार्य में बहुत काल तक बंधा नहीं रहता। वह सदा 'कुछ नये' की खोज में रहता है, और जिस नये का प्रारंभ करता है उससे भी बहुत शीघ्र ऊब जाता है।

वैयक्तिक सम्पूर्णता में इस प्रकार से दरार पड़ जाने के कारण व्यक्ति की मानसिकता में एक 'भूख' जागती है-- एक ऐसी 'भूख' जिसे वह समझ नहीं पाता, किन्तु जिसे समझने के लिये व्याकुल रहता है। इसे 'जीवन की अर्थवत्ता की भूख' कह सकते हैं। यह 'जीवन के अर्थ' की खोज नहीं है। उस खोज में तो वैयक्तिक पहल प्रधान रहती ही है, उसकी एक सामान्य

(या असामान्य भी) समझ भी रहती है। किन्तु आधुनिक मानसिकता में एक 'अंजान' भूख है, जिसे व्यक्ति किसी रूप में निरूपित नहीं कर पाता। इसी अर्थवत्ता की भूख की अभिव्यक्ति है आज के युवावर्ग की उत्तेजनशीलता तथा उनके विक्षिप्त ढंग। अर्ववत्ता की भूख इन्हें भ्रान्त बनाये रखती है। सुख-सुविधा तथा सम्पन्नता के सभी साधन उपलब्ध रहते हुए भी उसे प्रतीत होता है कि कहीं कुछ कमी है -- कि यह सब जीवन नहीं। इसी तड़प में कुछ युवकों में स्वत्व-सूचक प्रवृत्ति जन्म ले लेती है। उनके ज्ञान का क्षेत्र तो सीमित रहता है, किन्तु स्वत्व पर बल देने में शायद उन्हें कुछ सार्थकता का भास होता है, और वे अधूरी जानकारी पर भी वाद-विवाद में उलझना अपना ढंग बना लेते हैं। इस प्रकार की छद्म-प्रज्ञावादिता आज के युवा-वर्ग में स्पष्ट दिखायी देती है। उसी प्रकार टेक्नोलोजी पर आश्रित जीवन को अर्थहीन समझने के कारण वे इस प्रकार के जीवन से भागने का उपक्रम करते हैं। घर-परिवार के प्रति उदासीनता, मादक-द्रव्य-व्यसनता आदि इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। अमेरिकन हिप्पीवाद भी अपने से भाग कर अपने को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति का ही व्यक्त-रूप है, और इस प्रकार का विक्षिप्त व्यवहार भी 'अर्थवत्ता की भूख' की ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार टेक्नोलोजी के ढंग मानव की सम्पूर्णता पर आघात कर उसकी मानसिकता भी असंतुलित तथा खण्डित कर देते हैं।

(९)

अब केवल एक प्रभावी लक्षण की विवेचना शेष है। वैसे व्यक्ति की मानसिकता के विकसित होने का एक ढंग है। व्यक्ति जिस रूप में अपने तथा जगत् एवं अन्य के संबंधों को अनुभूत करता है, उन्हीं के अनुरूप उसकी मानसिकता विकसित होती है। टेक्नोलोजी व्यक्ति की मानसिकता के इस मूल रूप को भी प्रभावित करती है।

इस प्रकार की अनुभूति का एक स्पष्ट विवरण अस्तित्ववादी दर्शन में मिलता है। उस विवरण की विविधता एवं विशदता में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं। उसके एक मूल पक्ष को ध्यान में रखते हुए टेक्नोलोजी के प्रभाव का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। अस्तित्ववादी विश्लेषण के अनुसार व्यक्ति के लिये जगत् एक अनन्त सम्भावना-क्षेत्र है। वह जगत् की हर वस्तु में अपना कोई अर्थ, प्रयोजन आदि रख सकता है। वस्तुतः जगत् की हर वस्तु व्यक्ति के लिये उसी रूप में प्रासंगिक है जिस रूप में व्यक्ति ने उसे अपना कोई अर्थ दिया है। इस दृष्टि से वस्तु का वस्तु-रूप सदा निषेधित होता रहता है, और यही निषेधता व्यक्ति और वस्तु की भिन्नता की पहचान है। 'अन्य' की अनुभूति व्यक्ति की उन्मुक्तता पर एक बन्धन है, तथा उसकी प्रतिक्रियायें इस बन्धन से परे जाने के उपक्रम हैं। इस दृष्टि से व्यक्ति की मानसिकता की कुछ सीमायें अन्य की उपस्थिति की अनुभूति के द्वारा ही निर्धारित होती हैं। यहां ध्यातव्य यह है कि मानसिकता के इस प्रकार के विकास का केन्द्र व्यक्ति स्वयं है।

टेक्नोलोजी का आक्रमण या आघात इसी केंद्र पर है। व्यक्ति को मशीनी बना कर वह उसके आन्तरिक उपक्रम में प्रविष्ट हो कर व्यक्ति के वैयक्तिक पहल को ही शिथिल कर देती है, और उसकी मानसिकता के विकास का आधार अपने उपकरणों को बना देती है। इस प्रकार का जीवन व्यक्ति के लिये सुविधाजनक अवश्य हो जाता है, और इसी कारण व्यक्ति इसके आकर्षण या मोह से ग्रस्त हो जाता है। अस्तित्ववादी भाषा में यह अप्रामाणिक जीवन है। किंतु टेक्नोलोजी के लिये प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का भेद कोई अर्थ नहीं रखता। वह तो टेक्नोलोजी के व्यापक प्रभाव को स्थापित करने के लिये सतत प्रयत्नशील है।

इसमें रोचक तथ्य तो यह है कि इसके बावजूद भी वैयक्तिकता तो मरती नहीं, अकर्मण्य हो जाती है, सो जाती है। किंतु कभी कभी तो वह मुखरित भी हो जाती है। तो प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के इस तनाव में व्यक्ति की मानसिकता रूप लेती है। वैसे देखा जाय तो इन दिनों टेक्नोलोजी ने अप्रामाणिक जीवन को इतना सुविधाजनक बना दिया है कि मानव-जीवन उसी रूप में अधिक ढ़ला हुआ है। किन्तु इतना तो है ही कि प्रामाणिकता की सम्भावना मनुष्य को पूर्णतया मशीनी ढ़ाँचे में ढ़लने नहीं देती। इसका परिणाम यह होता है कि एक ओर तो टेक्नोलोजी के प्रभाव में मानसिकता का सामान्य झुकाव उपयोगतंत्रवादी प्रवृत्तियों की ओर हो ही जाता है, तो दूसरी ओर कभी कभी उसे इस प्रकार के जीवन में एक भार, एक बोझ प्रतीत होता है-- उसे कभी कभी प्रतीत होता है कि इस प्रकार का जीवन उसका स्वाभाविक मानवीय जीवन नहीं है, वह 'ओढ़ा' हुआ जीवन है, 'लादा' गया जीवन है।

यही तो उसके आज के जीवन का यथार्थ चित्रांकन है। मशीनी जीवन जीते जीते उसमें पूर्वमान्य आदर्शों के प्रति--जैसे, ज्ञान, बुद्धिमत्ता, सत्य-शिव-सुन्दर के प्रति उसका समर्पण आदि--उसका आकर्षण शिथिल हो जाता है, और उसके स्थान पर उसमें स्व-केंद्रित गुणों--जैसे, भौतिक सम्पन्नता, सामाजिक प्रभुत्व, सत्ताधिकार, राजनैतिक शक्ति से जनित सम्मान आदि--के प्रति सम्मोहन बढ़ जाता है। फलतः पूर्व-स्थापित मूल्यों एवं मान्यताओं के प्रति वह क्रमशः उदासीन होता जाता है और अपने में ही सिमटता जाता है।

विचित्र बात तो यह है कि अपने में सिमटने में उसकी वैयक्तिकता पुष्ट नहीं हो रही है, क्योंकि उसका यह सिमटना उसके टेक्नोलोजी के द्वारा अभिप्रेरित है, उसी से उत्पन्न है। फलतः वह अपने में सिमटता हुआ भी अपने से दूर है। इस सिमटने में एक यन्त्रवत्तता है, एक अवैयक्तिकता है। इसी से वह इस प्रकार के सिमटने को पूर्णतया भोग भी नहीं पाता-- 'भोगने' की उसकी शक्ति ही शिथिल हो गयी है। उदाहरणातः, अपने कार्यों में वह स्वतंत्र है, उन्मुक्त है। किन्तु इस उन्मुक्तता का एहसास उसे नहीं होता। उसकी उत्सुकता जागती है, किन्तु उसकी उत्सुकता में ठहराव नहीं है। वह पहल करना नहीं चाहता, क्योंकि 'मानक' के अनुरूप जीना अधिक सहल है। ऐसे 'मानक-जीवन' के संबंध में हर प्रकार की जानकारी टेक्नोलोजी के जन-सम्पर्क-माध्यम (जैसे, टेलिवीजन, रेडिओ आदि) बच्चों तक भी बहुत ही शीघ्र पहुंचा देते

हैं। बच्चे अपनी परंपरा, मूल्यों, मान्यताओं को जानने से बहुत पहले आधुनिकता तथा उपयोगतंत्रवादी जीवन के ढंगों को जान लेते हैं, तथा हर दिन उनके विषय में कुछ नयी जानकारी पाते हैं। फलतः उनकी मानसिकता उन नये क्षेत्रों के प्रति उत्सुक हो जाती है और उसी शीघ्रता से उनकी उत्सुकता एवं अभिरुचि में भी परिवर्तन होता जाता है। जो उसे उपलब्ध हो जाता है उससे वह शीघ्र ही ऊब जाता है तथा कुछ 'नये' के प्रति आकर्षित हो जाता है। इसका परिणाम यह हो जाता है कि उसकी अभिरुचि-क्षेत्र का यह भटकाव, यह विचलन उसकी मानसिकता का स्वभाव बन जाता है।

तो इस प्रकार आधुनिक मानसिकता में टेक्नोलोजी के प्रति प्रतिबन्धता है, प्रतिबद्धता नहीं। प्रतिबद्धता में किसी आदर्श के प्रति समर्पण का चेतन निर्णय निहित होता है, प्रतिबन्धता में चेतन समर्पण नहीं, अपितु कुछ बाहर से लादा हुआ प्रतीत होता है।

(१०)

टेक्नोलोजी के प्रभाव में उभरती मानसिकता का जो चित्र ऊपर उभर आया है वह स्पष्टतः निषेधात्मक प्रतीत होता है। मैं यहीं स्पष्ट कर दूँ कि अभी मैं इसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, इस पर निर्णय नहीं दे रहा, इसे निराशाजनक या निषेधात्मक नहीं बता रहा। यह चित्र का एक पक्ष है, जो उभर कर सामने आया है। इसे निराशाजनक, भयावह, अन्धकारपूर्ण आदि सभी कहा जा सकता है जब हमारे निर्णय का मापदण्ड परंपरागत एवं स्थापित मूल्य तथा मान्यता ही हों। उस दृष्टि से देखने पर ही इस प्रकार के निर्णय दिये जा सकते हैं। किन्तु टेक्नोलोजी की सम्भावनाओं पर विचार किये बिना ऐसा निर्णय देना युक्तिसंगत नहीं। सम्भवतः मूल्यों की अवधारणा ही बदल रही है। सम्भवतः मानव-मानसिकता एक नया पड़ाव, एक नया ठहराव पाने की प्रक्रिया में है। विचारकों नें इस पक्ष पर भी सुंदर, वैचारिक एवं तर्कसंगत अनुमान किया है। किन्तु उसकी विवेचना फिर कभी, किसी दूसरे अवसर पर।

एम्. आई. जी हाउस-१५३
हनुमान नगर, कंकड़बाग,
पटना-८०००२० (बिहार)

बसन्त कुमार लाल

टिप्पणी

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के नवंबर, १९९१ में बरेली में संपन्न ३६ वें वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण.

♣ ♣ ♣

प्रोफेसर जी. आर. मलकानी
निबंध-प्रतियोगिता

किसी भी भारतीय शिक्षा-संस्था में अध्ययन करने वाले और २५ वर्षों से जादा उम्र न होने वाले स्नातक-पूर्व या स्नातकोत्तर छात्र-छात्राओं से प्रोफेसर जी. आर. मलकानी निबंध प्रतियोगिता के लिये "**भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता**" इस विषय पर अंग्रेजी या हिन्दी में निबन्ध आमन्त्रित किये जा रहे हैं। प्रतियोगिता के लिये स्वीकृत निबन्धों के अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों के मतानुसार प्रथम तथा द्वितीय निबन्धों को क्रमशः रुपये २००/- और रुपये १००/- के पारितोषिक दिये जायेंगे, और पारितोषिक प्राप्त निबन्ध कालान्तर से इण्डियन फिलॉसॉफिकल क्वार्टर्ली की छात्र-परिशिष्टि या परामर्श (हिन्दी) इन त्रैमासिकों में प्रकाशित किये जायेंगे। उक्त पारितोषिक के लिये पेश किये जाने वाले निबन्धों को निम्नलिखित शर्तों के अनुसार प्रस्तुत करना होगा–

१. निबन्ध डबल स्पेस में कागज की एक बाजू पर टंकलिखित किया हुवा और दो प्रतियों में होना चाहिये।

२. निबन्ध २५०० शब्दों से जादा लम्बाई का न हो।

३. निबन्ध के साथ छात्र/छात्रा जिस संस्था में अध्ययन करता/ती हो उस संस्था/विभाग के प्रमुख/अध्यक्ष का ऐसा प्रमाणपत्र होना चाहिए कि-

   अ) छात्र/छात्रा उक्त संस्था/विभाग में अध्ययन कर रहा/ही है और उसकी उम्र २५ वर्षों से जादा नहीं है।

   ब) प्रतियोगिता में प्रस्तुत निबन्ध उक्त छात्र/छात्रा ने लिखा हुआ है।

४. यह आवश्यक है कि प्रतियोगिता के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले निबन्ध डॉ. मंगला रा. चिंचोरे जी के पास दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिण्ड, पुणे ४११ ००७ इस पते पर हर हालत में ३१-५-१९९२ तक पहुँच जाने चाहिये।

५. अधिनिर्णयन के लिये नियुक्त किये गये निर्देशियों का निर्णय सारे प्रतिस्पर्धियों पर बन्धन-कारक होगा और उक्त विषय में किसी भी प्रकार का पत्राचार नहीं किया जायेगा।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
गणेशखिण्ड, पुणे - ४११ ००७

♣ ♣ ♣

कबीर : ' मधि कौ अंग '

कबीर आज के सांप्रदायिक तनाव, भोगकारक जीवन, मानसिक अशान्ति और पक्षपातपूर्ण विचारधारा में हमें कितना प्रकाश दे सकते हैं यह उनकी साखी के पाठ 'मधि कौ अंग' से स्पष्ट है।

कबीर का निरपष अथवा प्रेमदर्शन 'मधि कौ अंग' में प्रतिपादित है। बुद्ध का मध्यममार्ग भी इसी प्रकार का है। द्वन्द्व दो परस्पर विरोधी सीमाओं का द्योतक है। द्वन्द्व से परे होना अर्थात् हर्ष-शोक, शीत उण्ण जन्य संवेदनाओं के वशीभूत न होना। मनोभाव, प्रभाव, मनोवेग हमें बाहर ले जाते हैं। और हमारी विवेक-शक्ति को विनष्ट कर देते हैं। आज संप्रदायभक्त एक ईश्वर को नक़ार कर मंदिर-मस्जिद के झगड़े से हिंसापोषक बन गया है।

कबीर का 'मधि को अंग' यहाँ भावार्थ और निवृत्ति के साथ प्रस्तुत है। इस में कबीर द्वारा प्रयुक्त शब्दों-प्रयोगों पर विमर्श है। कबीर के भाव के साथ उनकी भाषाशैली और विचारप्रक्रिया को समझने में यह सहायक है। कबीर के अनुशीलन में यह नया प्रयास है।

कबीर ने मधि = मध्य कौ अंग में निरपष = निरपेक्ष (निर् + अपेक्ष) की बात कही है। दादू ने "मधिभाव" का अभेद-समदृष्टि अथवा तटस्थ के भाव में प्रयोग किया है :

समदृष्टि सूँ भाई सहज में, आपहि आप विचारा।
मैं तैं मेरी यह मति नाहीं, निरबैरी निरबिकारा ॥
तथा, द्वै पखरहित पन्थ गह पूरा, अबरन एक अधारा ॥

"द्वै पख रहित" भाव ही "मधि" है। यही निर्द्वद्व (**गीता**, १.४५) की स्थिति है। दूसरे शब्दों में द्वैत (हर्ष-विषाद) से परे की स्थिति है यह। जहाँ द्वैत है वहीं दुविधा (संशय) है, अतः कबीर "मधिकौ अंग" में संशय तथा आपा-पर भाव से विगत रहने की सीख देते हैं। द्वन्द्व-भाव समझाने के लिए वे धरती-आकाश का प्रतीकात्मक प्रयोग करते हैं-- दोनों सीमाओं से मुक्त अथवा विरक्त हो जो, वही योगी-साधु है। भारतीय दर्शन के अद्वैतभाव का यही निचोड़ है। कबीर जब 'लोक-वेद' से ऊपर उठने की बात कहते हैं तब "मधि" भाव ही समझना चाहिए। कबीर हिन्दू-मुसलमानों के आपसी घृणात्मक भाव को दो पक्षों का भाव मानते हैं और उसके विरोध में अपने को न हिन्दू कहते हैं और न मुसलमान। नामदेव भी अपने को मन्दिर-मसजिद से अलग मानते थे :

हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया, जहं देहरा न मसीद ॥

सभी संतों ने राम-रहीम, राम-खुदा कासी-काबा के झगड़े को द्वन्द्व कहा है। **(साखी** ५३२,५३६)

कबीर कहते हैं काजी "चढ़ि मसीति एकै कहै" पर "ब्रह्म हतै तब दोइ" (४१४) यही उसकी द्वैत दृष्टि (आपा-पर का भेद) सर्वनाश का कारण है। काजी "दुनी का साथि" है "दीन" को बिसारि– "दिल थैं दीन बिसारिया"। कबीर का "देहरा" "मसीति" इस शरीर के भीतर है-कहीं बाहर नहीं--"दस द्वारे का देहरा तामे जोति पिछांणि।" (४३५) कबीर अद्वैतवादी हैं– "दूजा" कोई है नहीं। उस एक को पहचानना, जानना ही "मधि कौ अंग" है।

संस्कृत मध्य का एक अर्थ है तटस्थ, निष्पक्ष। इसी भाव में "मधि" है। संस्कृत मध्य से विकसित मंझ, मांझ, मांह है। उच्चारण सुविधा से "मध्य" ही मधि है। "मधि कौ अंग" अर्थात् निष्पक्ष, निर्द्वन्द्व रहनि की महिमा।

कबीर मधि अंग जे को रहै, तो तिरत न लागै बार।
दुइ दुइ अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार॥ १ ॥ ५२६

भावार्थ : कबीर का कथ्य है "निरपष"– निर्द्वन्द्व रहने पर भवसागर पार होने (मुक्ति) में विलम्ब नहीं लगता। संसार राम से नाता न जोड़ कर दूसरों से नाता जोड़ता है। दुइ-दुइ अंग (एक अंग, **सा.** - ५२७) अर्थात्- द्वैत, भेद अथवा दो पक्ष। सामयिक संदर्भ में हिन्दुओं का पष और तुरुकों का पष दो भिन्न-भिन्न मार्ग। सचाई यह है कि मानव उसी परमेश्वर का अंग है– सर्वत्र वही। कहीं भेद नहीं, दो नहीं। हिन्दू-मुसलमान को "मधि" का अंग अपनाना चाहिए। 'दुइ-दुइ अंग' दुविधा (५२७) संशय के आशय में भी है। दुइ-दुइ अंग = एक "अबरन" को छोड़ कर दूसरा रास्ता पकड़ना, राम-अल्लाह में भेद मानना, हिन्दू-तुरुक को अलग मानना। **नारद भक्ति सूत्र**– "कस्तरति कस्तरति मायाम्। यः सङ्गस्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति।" ४६

"डूबत" के स्थान पर "बूड़ना" हरि की भगति जाने बिना, "भव बूड़ी मुवा संसार। "रमैनी। कबीर का "मधि अंग" हरिभक्ति है जो संसार से तारता और परमार्थ से जोड़ता है। अन्यत्र भी "बूड़हुगे परिवार सकल सिउ राम न जपहु अभागे।" तरने का विरोधी है बूड़ना, डूबना, नष्ट होना–

"तारन तिरन तिरन तूं तारन, और न दूजा जानौ।"

विवृति : जे को = जो कोई, जे < यः, को < केचित् (२६५,५०८,५९४)

तिरति – तृ. तरति = पार जाता है। बार न लागै = समय नहीं लगता है, **बार** < वार (२,२३) दुई < द्वि = दो, दोनों। लाग करि < लग्न। डूबत = बूडत (११०), **बूड़ना** प्राकृत बुड्डई (१७७)।

कबीर दुबिधा दूरि करि **एक अंग ह्वै लागि** ।
बहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥ २ ॥ ५२७

भावार्थ : दुविधा (द्विधा = दो टुकड़ों में बंटा = संशय ग्रस्त = चंचल) दूर करके मनुष्य उस एक 'अबिनासी', "त्रिभुवन पति" से मन लगावे, दूजा से नहीं, यही मुक्ति का मार्ग है। "संशयात्मा विनश्यति" । एक अंग ह्वै लागि अर्थात् एक के आश्रित रहे– उसी एक का दास । दुइ दुइ अंग नहीं अर्थात् किसी और का भरोसा नहीं । संसार में द्वन्द्व है हर्ष-विषाद का, शीतल-उष्ण का, राग-द्वेष का । इन दोनों अंगों को छोड़ कर मार्ग चुने । शीतल और तप्त दो छोर हैं– दोनों ही अंततः कष्टप्रद हैं, हर्ष-शोक का चक्र चलता रहता है । साधक को इन द्वन्द्वों से विरक्त रहना चाहिए अर्थात् द्वन्द्वातीत । एक अंग का आशय रामभक्ति से है– उस "सम्रथ्थ" (समर्थ) के आश्रित होने से है ।

नारद भक्ति सूत्र– "भक्ता एकान्तिनो (= अनन्य) मुख्याः" ।
दुबिधा – हरदी कबीर भीतर आरसी, मुख देखणां न जाइ ।
मुख तौ तौ परि देखिये, जे मन की दुबिधा जाइ ॥ २८०

कबीर अनल अकासा घर किया, मधि निरंतर बास ।
बसुधा ब्यौम बिरकत रहै, बिन ठाहर बिन बास ॥ ३ ॥ ५२८

भावार्थ : कबीर दादू ने "अनल अकासा" की बार-बार चरचा की है– उसे आदर्श माना है । **अनल पक्षी** : इसके बारे में मान्यता है कि वह अधर (अंतरिक्ष) = मधि (मध्य) में वास करता है– न आकाश में, न धरती पर, दोनों से विगत । कबीर-दादू के अनुसार यही "मधि अंग" है, यही निरपष का भाव है– द्वन्द्व से परे अर्थात् निर्द्वन्द्व अथवा द्वन्द्वातीत । निस्संग, वियुक्त, निर्मम अथवा संग से विरकत (विरक्त) । कबीर के अनुसार भक्त का ठाहर-वास संसार नहीं जहाँ माया का साम्राज्य है, जहाँ दुविधा है, जहाँ मनुष्य का चित्त चंचल है । आत्मस्थ होने के लिए द्वन्द्वातीत होना अनिवार्य है । भारतीय दर्शन के अनुसार– यही अद्वैतभाव है । तुलनीय,

"मन उनमन उस अंड ज्यूं अनल अकासा जोइ । २८
अनल पंषि आकमस कूं माया मेर (मेरू) उलंघि ।
दादू उलटे पंथ चढ़ि, जाइ बिलंबे अंगि ॥"

विवृति : आकासां < आकाश = अंतरिक्ष, गगन । कबीर ने इसी भाव में "अधर (आकाश के नीचे) का भी प्रयोग किया है– "

कबीर मनवा तो अधर बस्या बहु तक झीणा होइ ।
आलोकत सच पाइया कबहूं न न्यारा सोइ । २८६

दादू ने भी–

> पेलै सीस उतारि करि, अधर एक सौं जाइ ।
> दादू पीवें प्रेम रस, सुष में रहे समाइ ॥

घर किया = निवास किया । **घर** पा., प्रा. घर (६२) निरंतर– कबीर का बल सतत राम से जुड़े रहने के लिए है । एक क्षण के लिए भी उस "आनंद मूल सदा परसोत्तम" (सोरठि ३१) को न भूले– सदा निर्द्वन्द्व रहे । बिरकत < विरक्त = विगत = सांसारिक विषय-वासना से उदासीन । **ठाहर** = ठौर < स्थावर, ठौर-ठाहर, ठहराना ।

> बासुरि गमि न रैंणि गमि, ना सुपनैं तरगम ।
> कबीर तहाँ बिलंबियां जहाँ छाहड़ो न धम ॥ ४ ॥ ५२९

भावार्थ : कबीर उस 'अबरन बरन' अलष राम के धाम का वर्णन करते हुए कहते हैं, उस परम धाम में न दिन (सूर्य) की गति है और न रात्रि (चन्द्रमा) की । सबके लिए अगम्य । वहाँ धूप-छाँह का द्वन्द्व नहीं है– वह सभी द्वन्द्वों से रहित है । वहाँ स्वप्न में भी नहीं पहुँचा जा सकता है, अर्थात् समय-स्थान की सीमा से परे है वह अलख । कबीर उस अलख के पास ठहर रहा है और वहाँ आनंद ले रहा है ।

विवृति : बासरि < वासर । गम, गमि < गम्य (१८५, १२६, ३१०) रैंणि < रजनी, प्रा. रयणि, वासर-रैनि (रैणि) का प्रयोग द्वन्द्व भाव के बोध के लिए है, हिंदी दिन रात (रात दिन) इसी भाव में है (बासर सुख नां रैणि सुख, ना सुख सुपिने मांहि । कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छांह ॥ ७ ॥ **सुपनंतर** = स्वप्न में । **बिलंबिया** < लंब, विलंबते = ठहरा हुआ है (कबीर तहां बिलंविया करै अलष की सेव । १६३) = संलग्न । छांह < छाया, छाहीं । धंम = धाम पा. प्रा. धम्म < धर्म ।

> जिहि पैडे पंडित गए, दुनिया परी बहीर ।
> औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रह्या, कबीर ॥ ५ ॥ ५३०

भावार्थ : कबीर का कथ्य है कि पंडितों ने शास्त्र की घिसी-पिटी जो लीक चलाई उसी पैंडे बधिर (६२०), (बहिर अंधी-साखी ७२६) दुनिया लग गयी । अथवा "दुनिया परी बहीर" = फिर दुनिया उस पर चल पड़ी । (हि. बहुरि, मा. बहोड़ि) = (फिर) (प्रा. वाहुडिअ) पंडित-मुल्ला कर्मकाण्ड में फँसे हैं, मन्दिर मस़जिद के द्वन्द्व में पड़े हैं, उन्हें समता-अभेद का मार्ग, शुद्ध हृदय की बात आती ही नहीं । उन्हें उस भेदरहित परमात्मा के प्रति आस्था नहीं है । उस निराकार का पैंडा (पंथ) अगम है । उस मार्ग पर सब नहीं चल सकते, वह संकीर्ण है । (प्रेम गली अति सांकरी) वह औघट है । कबीर कहते हैं गुरु कृपा से वह अगम्य दुर्गम पथ "सुघट-घाट" हो गया है और कबीर उस राम से अपनाया जा चुका है ।

घट माँहै औघट लहा, औघट माहैं घाट।
कह कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ॥ ३ ॥

"राम रतन पाया घट माहिं।" २७ भैरूँ। ईश्वर भीतर है, मंदिर-मसजिद में नहीं।

पैंडा < पद-दण्ड (पगडंडी) = मार्ग। कबीर का कहना है 'लोकवेद' के रास्ते चल कर न जाति -पांति कुल का भेद मिटेगा और न उस ज्योति का अनुभव होगा–

पीछै लागा जाइ था लोकवेद के साथि।
आगै थै सतगुर मिला दीपक दीया हाथि ॥ ११ ॥

नारद भक्ति सूत्र– "निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः।"
अगनृकथैं हूँ रह्या सतगुरु के प्रसादि।
चरन कबँल की मौज मैं, रहिस्यूं अंतरू आदि ॥ ६ ॥ ५३१

भावार्थ : कबीर पहले भक्त हैं, बाद में कुछ और। वे निर्गुण निराकार राम की बात करते हैं, पर साथ ही राम के चरण कमल में अपना मन लगाते हैं: यही उनकी वैष्णवी उपासना है (द्रष्टव्य, लेखक की कृति **वैष्णव कबीर**), कबीर को मात्र निर्गुणी मानना औचित्य से परे है।

कबीर का कहना है उन्हीं राम के चरणकमल के प्रसाद से मैं रामरस में मस्त रहता हूँ। मैं आदि-अंत सदा उन्हीं चरणों की भक्ति में रहूँगा। आदि-अंत सीमा द्योतक हैं और परस्पर विरोधी। कबीर का कथ्य है, प्रत्येक काल-स्थिति में मैं अभेद-भाव से उसी राम के प्रति समर्पित हूँ। सतगुरु ने मुझे यही ज्ञान-मार्ग दिया है (रामानन्द में भी ज्ञान-भक्ति का समन्वय है।) इसी भक्ति से मैं सर्ग-नरक दोनों सीमाओं से अलग हूँ अर्थात् मुझे बिहिश्त और दोजख से भय नहीं–

दोजग तौ हम अंगिया यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ ॥ १९९

कबीर राम को पति (खसम) रूप में मानते हैं। वे अपने को रामदास भी कहते हैं, राम सनेही भी। उन्हें केवल राम से नाता है; उसी के नाते वे निर्भय और निर्द्वन्द्व हैं, शरणागत भक्त की स्थिति यही है। कबीर को न स्वर्ग से मोह है ओर न नर्क से भय। उनका कहना है–

हरि चरनौ चित्त राखिये, तौ अमरापुर होइ ॥ ४४५

अमरापुर में होना = मौज-आनन्द में होना है। यह स्थिति तभी संभव है जब सर्वभावेन राम के चरणों में चित्त लगा रहे और हृदय निर्मल रहे– "कबीर माला पहरया कुछ नहीं गांठि हिरदा को खोइ" ४४५, भगति मुरारि (५४५) और "चरन सेवा" पर बल है कबीर का– "चरनन लागि करौं सेवकाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।" अन्यत्र भी "कहै कबीर सेवौं बनवारी, सींचौ

बेड़ पिवै सब डारी।" कबीर का कथ्य है कि जपतप-तीर्थ-व्रत थोथरे, व्यर्थ हैं।

कबीर जप तप दीसै थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास।
सूवैं सैमल सेविया, सूँ जग चल्या निरास ॥ ४३३

कबीर की भक्ति का अर्थ है सर्वत्र राम के स्वरूप का दर्शन "सकल मांड मैं रमी रह्या साहिब कहिये सोइ।५८१ सूर-तुलसी की भक्तिभावना के आधार कबीर हैं। गोरख, ज्ञानदेव, नामदेव सबका बल रहा है अभेद पर। घर में और बाहर एक ही तत्त्व है-वही जल भीतर, वही बाहर। घड़ा फूटने पर जल परमतत्त्व में लय हो जाता है। यह अभेद- दृष्टि भारतीय दर्शन का मुख्य अंग है। कबीर को पूरी परंपरा से जोड़ कर समझा जा सकता है। कबीर भले– 'अविगत,' "निरंजन" की बात करें, पर उनका हृदय सूर, तुलसी की भांति रामचरन में है।

हिंदू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता, दुह मैं कदे न जाइ ॥ ७ ॥ ५३२

भावार्थ: कबीर द्वैत का बार-बार विरोध करते हैं-**दुह** (दुइ) को नहीं, एक को जानो (५२६, ५२७)। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही उस एक तत्त्व को, जो सर्वत्र-सब में है भुला कर राम और खुदा को अलग-अलग जानते हैं। "पुरुषोत्तम" एक ही है-- सारा जग उस हे व्याप्त है और सारा जग उसमें है। जब तक अभेद- दृष्टि मिलेगी नहीं और समत्व को लोग अपनावेंगे नहीं तब तक दोनों का सर्वनाश, दोनों धर्म के नाम पर लड़ रहे हैं इसलिए दोनों की राह गलत है। यह पंथ उस "अविनाशी" का नहीं है। कबीर का बल एक राम, एक ब्रह्म, एक मुरारि पर है। **"दुह में कदे न जाइ"** अर्थात् अनन्य भक्ति "अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता।" **नारद भ. सू.**। कदे न (२०९)। "मूये" और "जीवता" (मृतक-जीवित) परस्पर विरोधी हैं।

कबीर अखंडता-एकता-समता के सर्वोच्च कवि हैं। उन्हीं का दर्शन हमारी सामाजिक धार्मिक समस्याओं को सुलझा सकता है। गोरख से लेकर तुलसी तक ज्ञान-भक्ति-समता की जो त्रिवणी बहती है उसी में अवगाहन करना होगा। तर्क से एकता संभव नहीं। "निरपष" बनना आत्मदर्शन से ही संभव है। यह "मधि का अंग" है। "दुइ-दुइ अंग लाग करि, डूबत है संसार।" ५२६ दुइ के विरोध में "अबरन एक अकल अबिनासी, घटि-घटि आप रहैं।" तथा "जौ यह एक जांणिया, तौ जांणां सब जांण।" २०० तथा, "आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।" २०३ दूजी आस = "जगत् की आस"। कबीर राम से आशा रखने वाले को "जीवता" (जीवित) कहते हैं और संसार से आशा रखने वाले को "मृतक" : "कबीर जीवित मृतक है रहै, तजै जगत की आस।" ६१९ ऐसी स्थिति होने पर फिर भगवान् ही भक्त की सेवा करते हैं-उसे दुख नहीं होने देते : "तब हरि सेवा आपण करै, मति दुख पावै दास।" ६१८ **भामिनी विलास** (४.३९) में है-"ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो, न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः।"

कबीर दुखिया मूवा दुख कूं, सुखिया सुख कौं झूरि।
सदा अनंदी राम के, जिन सुख दुख मेल्हे दूरि॥ ८ ॥ ५३३

भावार्थ : कबीर सुख-दुख के द्वन्द्व से मुक्त होकर "अनंदी राम" बनने की कला बताते हैं। आनंद और सुख में अंतर है--सुख में इन्द्रियसुख, भौतिक समृद्धि है, प्रेय की प्राप्ति है और आनन्द मानसिक आत्मिक शांति। कबीर आनन्द के दर्शन की विवृति कर रहे हैं। संसार में जो सम्पन्न हैं वे और सुख की तलाश में दुःखी हैं इसलिए वे सुखी-सम्पन्न होते हुए भी माया-मोह से संतप्त हो रहे हैं-अधिक से अधिक संग्रह उनके विनाश का कारण बनता है। जो सचमुच दुख-विपन्नता का शिकार है वह तो मर ही रहा है। इस प्रकार सुख-दुख सबको पीड़ित कर रहा है। यह विषमता किसी भौतिक दर्शन से सुलझने वाली नहीं है। अधिक सुख और अधिक दुख दोनों ही आग है (५२७)। संत सुख-दुख से राग नहीं करता। वह विरक्त हो इन्द्रियों को बाह्य जगत् से मोड़ कर भीतर की ओर प्रेरित करता है। आत्मज्योति से वह सर्वत्र एक ही सत्य का अनुभव करता है।

"सदा अनंदी राम के" कबीर की भक्ति भावना एवं समदृष्टी की पुष्टि करता है– आनंद आत्मसुखी होने में है, संतुलन में है, "यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति।" **नारद भ. सू.**।

'नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।' **मनु** ६/४५

आज संसार प्रक्षेप्यास्त्रों की लड़ाई में भस्म हो रहा है– सारी लड़ाई अधिकार और सुख-भोग के लिए है। यह साम्राज्यवादी नीति विषमता का मूल है। इससे मुक्ति के लिए कबीर की विचारधारा सहायक है। सामाजिक असमानता दूर करनी होगी, एतदर्थ हृदय को निर्मल-उदार-त्यागी बनाना होगा। दूरि (सा.॥) **मेल्हे दूरि** = सुख-दुख को दूर हटा दिया। राम भक्त हर्ष-विषाद से मुक्त होता है। तुलनीय–

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताथैं सदा हजूरि॥ ३५

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ।
राम सनेही यूँ मिलें, दून्यूं बरन गँवाइ ॥ ९ ॥ ५३४

भावार्थ : कबीर "मध कौ अंग" में मध्यम मार्ग (निरपष भाव) को ग्रहण करने की सलाह दे रहे हैं। हिन्दू-मुसलमान जातिभेद, वर्णभेद भूलें तो मेल संभव है। इसी को प्रतीकात्मक ढंग से कबीर कहते हैं कि हल्दी पीली होती है और चूना उज्ज्वल। जब चूना हल्दी अपनी अपनी पहचान छोड़ते हैं और मिलते हैं तब सम्यक् रंग उत्पन्न होता है। हिन्दू-मुसलमान राम-अल्लाह का भेद मिटा कर मिलें तभी अखंडता-एकता की रक्षा हो सकेगी। जो द्वन्द्व छोड़े वही "राम

सनेही" है । कबीर कर्मकाण्ड को महत्त्व नहीं देते । उनका बल विचारशुद्धि, हृदयशुद्धि पर है । कबीर अपने को बार-बार "राम सनेही" कहते हैं । आज सम्प्रदाय-सनेही, वैभव-सनेही, भेद-सनेही का प्राबल्य है । कबीर इसलिए आज के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं । "राम सनेही" वही है जो शील (सम्यक् आचरण) का निर्वाह करे । कबीर पंडितों से कहते हैं तू ''कागद की देखी" कहता है और मैं "आंखिन देखी"– अर्थात्, तुम शास्त्रों के पीछे पड़े हो, और यहाँ सर्वत्र असमानता है । प्रत्यक्ष समस्या भेद-भाव की है, वह पंडित-मुल्ला बढ़ा रहे हैं । वे सत्य-यथार्थ को नकार रहे हैं, यह तो ईश्वर की भक्ति नहीं । यह भेद मनुष्य की एकता के विरोध में है । **"दून्यूं बरन गमाइ"** अभिव्यंजनापूर्ण है । **भाइ** (भाव) हिन्दू-मुसलमान दोनों अपने-अपने "भाव" को छोड़ कर एकता का भाव अपनावें तभी समाज सुखी हो सकेगा "साई सेती सांच चलि, औरों सौं सुध भाइ ।" (४४७) **गमाइ** (सा. ३८५)

काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम ।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥ १० ॥ ५३५

भावार्थ : कबीर "मधि कौ अंग" में एक ही बात पर बार-बार बल देते हैं- "दून्यूं बरन गमाइ" (५३४) एक हों । अभेद-दृष्टि से काबा और कासी का, मस्जिद-मन्दिर का झगड़ा समाप्त हो जायगा । भेद दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के शत्रु हैं । ईश्वर के सब बन्दे हैं । इसलिए हर एक "राम सनेही" (५३४) बने, मस्जिद-मन्दिर सनेही नहीं । राम इन सब मर्यादाओं से उपर हैं । ईटों का भेद मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई है । राम-रहीम भिन्न नहीं, नामभेद हमारी दृष्टि को मंद कर रहा है । "मोट चून मैदा भंया" अर्थात् मोटा और बारीक चूर्ण मैदा सदृश पिस कर एक बनें तब ऐक्य-अभेद । जेमन = भोजन, खाना । "मोट चून मैदा भया बैठि कबीरा जीम" = "इस मन कौं मैदा करौं नान्हां करि-करि पीस । तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलकै सीसि" ॥ ७५९ "बैठि कबीरा जीम" का सांकेतिक अर्थ है, द्वन्द्व भुला कर ऐक्य का आनन्द; अनासक्ति, निर्लिप्तता, निस्संगता का सुख ।

१४७, त्रिवेणी रोड
इलाहाबाद - २११००२
(उत्तरप्रदेश)

– हरिहरप्रसाद गुप्त

♣ ♣ ♣

हिंदी नवगीत में बिम्ब-विधान

साहित्य में विम्ब-विधान अमूर्त के मूर्तीकरण की प्रक्रिया है, अरूप को रूपायित करने का प्रयास है, इन्द्रियातीत संवेदनों को इन्द्रिय-ग्राह्य बनाने की चेष्टा है। काव्य को संगीत और चित्र-कला के निकट और दर्शन और विज्ञान से विलग करने का प्रयत्न है। काव्य को अनुभव की विम्बात्मक अभिव्यक्ति भी कहा गया है, क्योंकि विम्बों की सर्जना और उनका समुचित प्रयोग काव्य-रचना को अधिक संवेद्य और ग्राह्य बनाता है। इससे सूक्ष्म अनुभूतियों और मानस-क्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण होता है। और कवि की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना, भाव-चेतना और विचार-चेतना को आकार मिलता है इसीलिए विम्ब को "अप्रस्तुत की मानसिक या काल्पनिक सृष्टि या रूप-रचना"[१] कहा गया है। विम्ब का प्रयोग मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भी हुआ है। वहाँ इसे 'मानसिक पुनर्रचना' (Mental Reproduction) कहा गया है, जिसका अर्थ है विगत संवेदनात्मक या अवगमात्मक (परसेप्चुअल) अनुभव की मानसिक प्रतिकृति; जरूरी नहीं है कि यह अनुभव चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण का विषय ही हो। साहित्य के सन्दर्भ में विम्ब को अनेक मनीषियों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। कहा गया है कि "विम्ब-विधान अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है, जिसमें अनुभूतियों का चित्रण मानसिक चित्रों में किया जाता है"[२] और यह भी कि "विम्ब कवि द्वारा अपने विचार को उदाहृत, सुस्पष्ट तथा अलंकृत करने के हेतु प्रयुक्त एक लघु शब्दचित्र है। यह किसी वस्तु के साथ तुलना अथवा साम्य के द्वारा वर्णित तथा व्याख्यात विचार या वर्णन है। विम्ब अपने कथ्य के विषय में लेखक द्वारा दृष्ट, उत्पादित या अनुभूत प्रणाली को बहुत कुछ समग्रता, गहनता एवं समृद्धि के साथ (हममें) उद्रिक्त संवेगों एवं संपृक्तियों (associations) के माध्यम से हम तक सम्प्रेषित करता है।"[३]

डॉ. नगेन्द्र ने विम्ब को "किसी पदार्थ के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष के प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध हो जानेवाला चित्र"[४] कहा है परन्तु विम्ब ऐसा चित्र नहीं है जो केवल चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से स्पष्ट होता है, क्योंकि विम्ब-विधान केवल चाक्षुष ही नहीं हुआ करता। "मनोवैज्ञानिकों और सौन्दर्यशास्त्रियों ने इसके अनेक भेद किए हैं। विम्ब न केवल 'रसना' और 'घ्राणेन्द्रिय' के होते हैं, बल्कि 'ऊष्मा' और 'दबाव' के भी विम्ब हुआ करते हैं। स्थैतिक (स्थिर) विम्ब-विधान और गतिशील विम्ब-विधान का प्रयोग परम्परागत रूप से या निजी रूप से प्रतीकात्मक हो भी सकता है और नहीं भी। मिश्र विम्ब (चाहे यह कवि की असामान्य मनोवैज्ञानिक रचना का परिणाम हो, या साहित्यिक रूढि का) एक ज्ञानेन्द्रिय से दूसरी में रूपान्तरित हो जाता है, जैसे ध्वनि से रंग में। इसके अतिरिक्त, बिम्बों का एक और भेद भी है जो साहित्य के विद्यार्थी के लिए लाभकर हो सकता है, और यह है 'बंधे' और 'मुक्त'

बिम्बों का भेद। पहले में 'श्रुति' और 'पेशियों' से सम्बन्धित बिम्ब आते हैं।''[५]

बिम्बों का विभाजन अनेक प्रकार से हुआ है। डॉ. नगेन्द्र ने (i) ऐन्द्रिकता के आधार पर (दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य और रस्य) (ii) सर्जक कल्पना के आधार पर (स्मृत एवं कल्पित तथा लक्षित एवं अलक्षित) (iii) प्रेरक अनुभूति के आधार पर (सरल, मिश्र, जटिल तथा समाकलित (iv) खण्डित तथा काव्यार्थ की दृष्टि से (एकल एवं संश्लिष्ट घटना तथा प्रकरण) इन पाँच वर्गों में विभाजित किया है।[६] बिम्बों के भेद-प्रभेद औरों ने भी किए हैं, यथा रोबिन शेल्टन तथा डॉ. भगीरथ मिश्र। राबिन शेल्टन बिम्ब के १० भेद करते हैं।[७] डॉ. मिश्र ने ऐन्द्रिय और मानस दो ही वर्ग मान कर ऐन्द्रिय को दृश्य और अन्य संवेद्य में विभाजित किया है। दृश्य बिम्ब के पुनः वस्तु बिम्ब और व्यापार बिम्ब दो भेद किए गए हैं। मानस बिम्ब भाव और विचार दो भागों में विभाजित हैं।[८] इस पूरे विवेचन को समीकृत करते हुए डॉ. सुशीला शर्मा ने बिम्बों को इन बीस वर्गों में रखा है– (१) चाक्षुष, (२) श्रावण, (३) घ्राणपरक, (४) स्पर्शपरक, (५) आस्वादपरक, (६) सहसंवेदनात्मक, (७) गत्वर, (८) स्थिर, (९) वेगोद्‌भेदक, (१०) शब्दबिम्ब, (११) वर्ण-बिम्ब, (१२) समानुभूतिक, (१३) संश्लिष्ट, (१४) एकल, (१५) सामासिक, (१६) प्रसृत, (१७) प्रस्तुत, (१८) अप्रस्तुत, (१९) जैव तथा, (२०) आदि बिम्ब।[९] इसका आशय भाग यही है कि बिम्बों के अनेक रूप हैं जो चाक्षुष भी हैं और अन्य इन्द्रिय संवेद्य भी, पौराणिक और सांस्कृतिक भी हैं और संश्लिष्ट भी, यांत्रिक भी हैं और आद्य भी। जुगुप्सापरक भी हैं और सुवासपरक भी, सूक्ष्म भी हैं और स्थूल भी।

क्या नवगीत के बिम्ब-विधान की चर्चा में बिम्ब के भेद प्रभेद की चर्चा के बिना काम नहीं चल सकता था? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है क्योंकि नवगीत गीत की प्रचलित सनातन धारा का नवरूप है। वस्तुतः आधुनिकता, वैज्ञानिक मानसिकता और जीवन-सम्पृक्ति का जो बोध १९५० के आसपास नयी कविता का कथ्य बना उसने गीत के परम्परागत स्वरूप में भी परिवर्तन कर दिया। इस समय गीत में एक नवोन्मेष दिखाई पड़ा। इस नवोन्मेष को 'आज का गीत'[१०] या 'आधुनिक गीत' या केवल 'गीत' के नाम से अभिहित किया गया, परन्तु अन्ततः नूतन भाव-बोध, नयी संवेदना, अभिनव शिल्प से (युक्त) गीतों की 'नवगीत' संज्ञा ही स्वीकृत हुई। यह नाम 'नयी कविता' की तर्ज पर आया और 'आधुनिकता की चुनौती' की स्वीकृति के रूप में सकारा गया। गीत के इस नवीन स्वरूप ने जहाँ कथ्य का खुला खुला विस्तृत और वैविध्यपूर्ण आकाश स्वीकारा वहीं शिल्प के क्षेत्र में भी नये-नये परिवर्तन आए। यों कहा जाय कि 'नयी कविता' जिन युगीन संवेदनाओं के खुरदुरेपन के लिए चर्चित हुई उन्हें भी नवगीत ने आत्मसात् कर लिया और उन्हें मसृण और ऋजु-तरल बना लिया। फलस्वरूप जहाँ उसकी भाषा बदली, काव्य परम्परा बदली, वहीं उसका बिम्ब-विधान भी बदला, प्रतीक परम्परा भी बदली और सभी क्षेत्रों में नये मूल्यों की स्थापना हुई। नयी भाव-भूमि की स्थापना हुई। जहाँ महानगरीय संत्रास, अनुभूति की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति, मानवीय जीवन

में गहराती अनास्था, सांस्कृतिक विघटन, मूल्यगत संघर्ष, मानवीय जिजीविषा, प्रकृति से बिछुड़ने का दर्द, पराजय, कुण्ठा आदि को अभिव्यक्ति मिली, वहीं भाषा की सहजता, संक्षिप्ति, गेयता का परिहार, लोकगीतों के प्रभावस्वरूप लोक-तत्त्वों के बढ़ते प्रभाव, व्यंजनामयी उक्तियों के बाहुल्य आदि को शिल्प के क्षेत्र में स्वीकृति मिली।

नवगीत के बिम्ब-विधान की पहली ध्यातव्य विशेषता यह है कि वह सायास नहीं है, नितान्त सहज है। फलस्वरूप किसी परम्परागत शास्त्रीयता के बन्धन में भी नहीं बंधता। युगीन यथार्थ को अभिव्यक्त करना गीतकार की पहली और अनिवार्य जरूरत है। महानगरीय जीवन की यांत्रिकता और जीवन की नियति किसी एक और शास्त्रीय परम्परानुपोषित बिम्ब में बंध भी तो नहीं सकती थी। इसीलिए नवगीतकार युग के भौंडे, कुरूप और घिनौने यथार्थ को उभारने के लिए एक ही साँस में दो-दो बिम्बों का प्रयोग करता है–

"शाम किसी ढ़ाबे में सिकती हुई जल गयी
कालगर्ल सी रात उम्र के पूर्व ढल गयी" [११]

बिम्ब जुगुप्साजनक होता है या रमणीय, परम्परागत शैल्पिक मूल्य टूटते हैं या बचे रहते हैं, भाषा कोई नया आकार लेती है या परम्परागत ढर्रे की ही बनी रहती है। नवगीतकार इन बातों की परवाह नहीं करता, इसीलिए कि "आईने तडके हुए हैं, बिम्ब बेमानी हुए हैं" [१२] तभी तो एक ही स्थान पर कत्लगाह भी है और पुल भी, जिबह होती हुई मरियल तारीख भी है और फिसलता हुआ आवारा युगबोध भी

"जिबह हुई मरियल तारीख
कत्लगाहों में
फिसल गया पुल से
आवारा युग बोध" [१३]

वस्तुतः नवगीत अभिव्यक्ति की पूर्णता में विश्वास करता है; इसीलिए सभी स्तरों पर उसमें परम्पराओं का स्वीकार भी है और नकार भी। बिम्ब-विधान के स्तर पर भी ऐसा ही है इसीलिए मछुआ, नदियाँ, किरनें, उदासी, तट, आवारा शाम, पागल दोपहर, अम्मा, दूध-भात, खीर-खांड, गौरैया, गृहस्थी, रस्सी-मूंज, महुआ, आम-बंसवारी, बनपाखी कोयल, धूप, सूरज, चाँदनी रात, ठंडा शहर, निर्मम धाराएं, टूटे हुए सेतु, सोनमछरी, कागा, कुंजगली, राधा, गोपी, उद्धव, वस्त्र उतारते पेड़, ताल-तलैया, पोखर, खेत, खलिहान, जेब में तुड़ा-मुड़ा कागज, चौराहे आदि बहुत कुछ है जो इन बिम्बों के रूप में उभरा उतरा है। दूसरे शब्दों में यों कहें तो अतिशयोक्ति न होगी कि जो कुछ जिन्दगी में है, जिन्दगी का परिवेश है, हमारे आस-पास है वह सब नवगीतों में है, गीतों में प्रयुक्त बिम्बों में भी वही है, जिन्दगी के सतरंगे आयाम सर्वत्र विखरे पड़े हैं।

बीसवीं सदी यांत्रिक युग और वैज्ञानिक प्रगति लेकर आयी है। जीवन में क्षिप्रता और

लाघव की प्रवृत्ति बढ़ी है। साहित्यिक विधाओं के आकार छोटे होने लगे हैं या छोटे आकार वाली विधाएं अधिक लोकप्रिय होने लगीं हैं। नवगीत गजल,मिनी कहानी और उपन्यासिका की लोकप्रियता के पीछे यही लाघव की वृत्ति कार्य कर रही है। लाघव की यह वृत्ति नवगीत के बिम्बि-विधान में भी दृष्टिगोचर हो रही है इसिलिए बहुत छोटे और संक्षिप्त बिम्बों का प्रयोग यहाँ बहुतायत से मिलता है (i) शोरशराबे चाँदघरों के मुँह लटकाए हैं (माहेश्वर तिवारीः "शहर में सबेरा" *नवगीत दशक* २ पृ.१२७) (ii) चाँदनी ने नागफन पर फिर टिकाये पाँव (श्रीकृष्ण तिवारी : "आ गये फिर" **वहीं** पृ.११३) (iii) पंजों में आकाश घुंए के कसा हुआ है ("यह दौर"- **वहीं** पृ.१०८) (iv) हवा चौकड़ी भरती हिरनों सी (हृदय चौरसिया : "वे दिन"- *नवगीत अर्द्धशती* पृ.३०३) (v) धीरे से आँगन में उतरी है धूप (अनिलकुमार गौड़- "जाड़े की धूप" **वहीं** पृ.४२) (vi) गमलों में ऊँघती गुलाब की सदी (अनूप अशेष : "तड़प रहे कपोत" **वहीं** पृ. ४४) (vii) हृदा गीत गोविन्द लिखे (गुलाबसिंह : "दिन"- **वहीं** पृ.९७) (viii) तन के भोगकक्ष में कैदी शापग्रस्त प्यासी रूहें (बालस्वरूप राही - "जाने कि बाजन्मेगा सूरज" - *जो नितान्त मेरी है*- पृ.३५) (ix) पी गये भविष्य भीड़ पीते चौराहे (विनोद निगम : "सड़कों से जुड़ना भर" *नवगीत अर्द्धशती* - पृ.२३१) जैसे उदाहरण इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं। इन बिम्बों में जीवन का लाघव उतरा है।

समूची जिन्दगी आज खण्डित है। हमारी आस्थाएँ,हमारे मूल्य,हमारे परिवार,हमारा जीवित-तत्त्व,हमारा धर्म,हमारा कर्म,हमारी निष्ठाएँ आदि सभी कुछ खण्डित हैं। तब नवगीत में खण्डित बिम्बों का प्रयोग कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु कुछ समर्थ कवियों ने बड़े बड़े और पूर्ण बिम्बो का प्रयोग भी किया है। इस दृष्टि से सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाम निश्चित रूप से अग्रिम पंक्ति में रखा जा सकता है। उनकी प्रकृति-परक रचनाओं में 'जाड़े की धूप' और 'मेघ आए' के बिम्बों में सांगरूपक का परिपूर्ण निर्वाह है। 'मेघ आए' में गाँव में आए नए पाहुन का और 'जाड़े की धूप' में किसी सुकुमारी नारी के बैठने, पढ़ने और स्वेटर बुनने का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। बिम्ब कहीं से खण्डित नहीं हुए,न ही उनकी क्रमबद्धता को तोड़ा गया है। मेघ बनठन कर गाँव में आया हुआ पाहुन है इसीलिए गाँव भर में उसके लिए आश्चर्य मिश्रित कौतूहल है। लोग दरवाजे और खिडकियाँ खोल-खोल कर उसे देखने लगे,पेड़ झुक कर, झांक कर, गर्दन उचका कर देखने लगे। आँधी चल पड़ी और उस पाहुन को देख कर धूल घाघरा उठा कर भागने लगी। बाकी चितवन से देखती हुई नदी ठिठक गयी और उसका घूँघट सरक गया। तब बूढ़े पीपल ने आगे बढ़ कर मेघ की अगवानी की। किवाड़ की ओट होकर शर्मीली लता बोली कि अब तुमने एक बर्ष बाढ हमारी सुधि ली है,बड़े निर्मोही हो तुम। ताल प्रसन्नचित हो गया और पाहुन के पैर परवारने को परात-भर पानी ले आया। क्षितिज की अटारी पर बिजली का सौन्दर्य चमकने लगा। उसने प्रियतम से क्षमा माँगी, भरम की गाँठ खुल गयी, मिलन हुआ और मिलन के अश्रु ढलक पड़े। [१४] यह परिपूर्ण और विशद बिम्ब

है। परन्तु सामान्यतः नवगीत में इतने बड़े और सुगठित बिम्बों का प्रयोग नहीं हुआ। इस तरह के कुछ बड़े और परिपूर्ण बिम्ब बालस्वरूप राही, रामावतार त्यागी, नरेन्द्र श्रीवास्तव और रवीन्द्र भ्रमर में भी कहीं-कहीं दृष्टि-गोचर होते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि इसे सामान्य प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता।

यह कहा जा चुका है कि नवगीत के बिम्बविधान की प्रमुख विशेषता संवेदना को तीव्रता प्रदान करना है। इसलिए कहीं कहीं बिम्ब खण्डित हैं, कहीं छोटे हैं, कहीं अस्पृश्य और अमूर्त भी हैं। संवेदन को अधिक मार्मिक, तीक्ष्ण और क्षुरप्र बनाने के लिए दुहरे और विरोधी बिम्बों का प्रयोग भी एक साथ किया गया है–

"घौंसलों में बाज सोते हैं यीशु सूली पर चढ़े हैं" (विजयकिशोर 'मानव'– "इस शहर का आदमी"- *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २३४) जैसे प्रयोग इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। कभी-कभी किसी अमूर्त संवेदना का पैनापन इसी तरह विरोधी बिम्बों के बीच रख कर ही बढ़ता और धारदार होता है। "चेहरे की देहरी पर। बैठे सुनसान देह हुई सुधियों का गूँजता मकान" (कुमार रवीन्द्र - "चेहरे की देहरी पर"- *नवगीत अर्द्धशती* - पृ.७९) जैसी पंक्तियाँ भी विरोधी बिम्बों से धारदार बनती संवेदना का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

डॉ. विनोद गोदरे गीत-तन्त्र के लिए बिम्ब नियोजन को आवश्यक नहीं मानते। उनका मानना है कि गीत में सहृदय और स्रष्टा के बीच अन्तराल असह्य होता है वहाँ कवि की संवेदना और सहृदय की अनुभूति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना चाहिए। बिम्ब अपनी ऐन्दियता और सम्मूर्तता के कारण कवि को पूर्णतः मुखर नहीं होने देता जिससे गीतकार की निजता संकेतों में बदल जाती है।[१५] परन्तु नवगीत तो जीवन का गीत है, नितान्त नया है। यह महानगरीय संवेदनों, दुर्घटनाओं, यांत्रिक चीख-पुकारों और कोलाहल के बीच जन्मा है। यह कुह्मलाये सपनों और कृत्रिम अनुभूतियों का भी द्रष्टा है। टूटते मूल्यों का साक्षी है। यह लय को मानवता की अन्तर्लय से जोड़ रहा है, भावुकता का परित्याग कर रहा है और जीने की शर्तों से जुड़ा हुआ है। यह नयी पीढ़ी का नया गीत है।[१६] इसलिए "अचरज क्या। यदि नये गीत में। स्वर तुक ताल नहीं। उसमें स्पंदित है। इस युग का। उठता हर भूचाल"[१७] और इस भूचाल को स्पंदित करने में नवगीत ने बिम्ब-विधान का भी आश्रय लिया है। आज के जीवन की यन्त्रणा और पिसती कराहती मानवता की पीड़ा को गीतकार चाहे चाक्षुष बिम्बों के माध्यम से प्रकट करे या मानस बिम्बों के, परन्तु वह उसे प्रकट कर लेता है। उसके पास भाषा है जिसे उसने युग की आवश्यकता के अनुरूप गढ़ा है। उसके पास बिम्ब है जो उसकी जरूरत के मुताबिक उसके हाथों तलाशे और तराशे गए हैं इसीलिए–

(१) एहसासों के इन धक्कों में। बुलडोजर से दब जाता हूँ
कोलतार की इन सड़कों पर। मरा हुआ खुद को पाता हूँ
जख्मों पर कुत्तों की जीभें। लावारिस पंजे अनचाहे

(डॉ.उमाशंकर तिवारी - "शहर में डोलता कबन्ध" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ.६४) जैसे स्पर्शपरक बिम्ब हो या (ii) जीवन को बाँट दिया दो ही घटनाओं में। सोया संदेहों में जागा शंकाओं में (रामावतार त्यागी - *मेरा जीवन* - "गीत बोलते हैं" पृ.५३) जैसे संवेदनापरक वे आधुनिक जीवन की विसंगतियों और टूटने-जुड़ने की नियति को चित्रित कर लेते हैं।

आधुनिकता के जिन प्रस्थान-बिन्दुओं को रेखांकित किया गया है उनमें अस्तित्व-बोध, प्रश्नाकुल मनीषा, युगबोध, वैज्ञानिक चेतना, व्यर्थता-बोध की यन्त्रणा और हर मूल्य और परम्परा को कसौटी पर रख कर सही और खरा पाने पर ही उसे स्वीकार करने की वृत्ति प्रमुख है। अपने अस्तित्व के प्रति मानव सजग हुआ है, फलस्वरूप व्यक्तिवाद बढ़ा है। पुरानी परम्पराओं और स्थापित मूल्यों के प्रति संशय का भाव बढ़ा है। अतः प्रश्न तो है, उत्तर नहीं है। इसी कारण व्यक्ति को जीवन के व्यर्थता-बोध ने घेर लिया है। यह जीवन निरर्थक है, यह तो उसे लग रहा है परन्तु क्या करने से वह सार्थक हो जाएगा, यह उसे ज्ञात नहीं। संशय- ग्रस्त मानसिकता और ऊहापोह की यह स्थिति जलती आग और सूरज के रथ में जुटे घोड़ों के बिम्बों द्वारा सजीव की गयी है–

(i) "सभी ओर धुएं के पहाड़। जलते फुटपाथों के झाड़
लपटों की लहरें ऊँची। सड़कों पर खा रही पछाड"
(उमाशंकर तिवारी; "जल्ते शहर में" *नवगीत दशक* २ पृ.७९)

(ii) "सूरज के रथ में हम जुटे हुए घोड़े हैं
खुली पीठ पर गहरे उगे हुए कोडे हैं
भार टिकाए दिन का कन्धों के जोड़ पर
घबरा कर रुके कभी जब अन्धे मोड़ पर
– अमरनाथ श्रीवास्तव - "वही दुधमुंटी हँसी" - **वहीं**, पृ.१३३

(iii) "धूप में नहायी है उजली है
हमलावर होने को मचली है"
"– 'उद्भ्रान्त' प्रश्नों की भीड़" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ.५९

(iv) सहमा हुआ कबूतर। अपना मूल्य-बोध यह
और काल के धन्वा पर। यह झुका हुआ सर
– डॉ.राम सनेही लाल शर्मा 'यायावर'
– *मन पलाशवन और दहकती सन्ध्या* - पृ.९

महानगर बाहर ही नहीं, अन्तर में भी व्याप्त है। मूल्य भरभरा कर टूट गिरे हैं। सब-कुछ अन्धकारमय है। मूल्य-बोध कबूतर की तरह सहमा हुआ है। वातावरण में आग लगी है,

ऐसे में कोई गम्भीरता क्यों ? किस उद्देश्य को लेकर ? यह भावना इन बिम्बों में मुखर होकर उभरी है ।

केवल महानगरीय जीवन की यन्त्रणा और व्यर्थता-बोध ही नहीं, नवगीत में प्रकृति के प्रति अनुराग भी मुखर हुआ है । गाँव का जीवन, वहाँ की निश्चल प्रकृति, अकृत्रिम व्यवहार और परिवेश अधिक सहज था । वह काम्य है । नवगीतकार उस ग्रामीण परिवेश और लोक-चेतना को पाने के लिए भी प्रयत्नशील है । इसीलिए प्रकृतिपरक बिम्बों की भी नवगीतों में बहुतायत है । कहीं इन प्रकृतिपरक बिम्बों का प्रयोग प्रकृति-चित्रण के लिए ही हुआ है और कहीं मानवीय संवेदनाओं को रूपायित करने के लिए भी हुआ है । वर्षा में बादल में लुकाछिपी करती हुई बिजलियाँ और लहरों में तिरती हुई चाँदी की मछलियों [१८] ग्रीष्म में नीम के पत्तों का झरना, मन की उदासी का बढ़ना, सम्पूर्ण परिवेश का सुनसान हो जाना, लुटे लुटे से शीशमों का उन्मन खड़ा रह जाना, बाँसों के वन की ध्वनि का कर्णकटु हो जाना, दोपहरी का थक कर ठहर जाना, आँखों का वीरान होकर उनमें रूखापन चमकने लगना, ठिठुरन की रातों का बीत जाना [१९] वसन्त में फागुन के दिनों का बौराना, हवा का दबे पाँव सिरहाने आकर बाँसुरी बजाने लगना और दुखते हुए सिर को सहलाना [२०] अंबिया का झांकना, पत्तों का गप्प हाँकना और ताल तलैयों का गप्प हाँकना [२१] फागुन की ओर से चिट्ठी लिखा जाना-जिसमें महुए के फूल और आम के बौर की चर्चा करना, स्वर्णिम फसलों पर मौसम की मोहर लगी होना, उस पत्र में विरामचिन्ह का छूट जाना [२२] फागुन के उस खत का चन्द्रमा के द्वारा बांचा जाना, चाँदनी का सोलह वर्ष की युवती हो जाना । उसका गौना किए जाने का निश्चय, उस पत्र में अन्य समाचारों में आम का बौर लगे होने का समाचार [२३] पर्वतीय परिवेश में पर्वत शिखरों से रुई के गालों की तरह उतरना, चीड़ की कतारों पर कसी बंधी राह पर चितकबरी धूप का चीतल की खाल की तरह बिछा होना [२४] आदि बिम्ब प्रकृति के सजीव और मार्मिक चित्र उकेरते हैं । प्रकृति के ये मोहक बिम्ब जहाँ उसका आकर्षक रूप प्रस्तृत करते हैं परन्तु कहीं कहीं प्रकृति के बिम्बों का प्रतीकात्मक प्रयोग भी नवगीतकारों ने बहुत सार्थकता के साथ किया है । इस तरह के प्रयोग में प्रतीकात्मकता के साथ प्रकृति का मानवीकरण भी किया गया है । ये मानवीकृत बिम्ब मानवीय संवेदनाओं, संक्रमित मूल्यों, ध्वस्त परम्पराओं और परिवेश की निराकार झंकृतियों को रूपायित करते हैं । मयक श्रीवास्तव के गीत 'नदी' में नदी एक प्रताड़िता नारी का रूप लेकर उपस्थित है जो गतिशील मानवीय नियति को प्रतीकित करती है । नदी अपनी पीड़ा से पीड़ित है, वह पुकार उठती है परन्तु मौसम उसके दर्द को नहीं सुनता है । नदी के किनारे रेत और बालू से अदावत मान बैठे हैं । शंख और सीपों के सहारे आखिर वह कब तक जिन्दगी बिताए; अब नदी इस दर्द को सह रही है परन्तु आश्चर्य है कि समुद्र में कोई तुफान नहीं उठता । नदी का मन तो मरुस्थल में दफन है । उसकी देह पर जंगल उगे हुए हैं । शरीर पर किश्तियों के खून के धब्बे लगे हुए हैं । फिर भी यह नदी चुप है । घाट कें पत्थरों को उठा कर हवा फेंक आयी है, पेड़ पौधों की लतायें गोद में निर्जीव लेटी हुई हैं । अब तो यह नदी वक्त

से मार खा रही है। नदी का यह प्रतीक समूचे युगीन परिवेश को रेखांकित कर रहा है।[२५] नदी जीवन की प्रवहमान और गतिशील धारा है। मौसम संक्रमणशील युग है। रेल-बालू मानवीय इकाइयाँ है। किनारे परम्परायें और पुरातन मूल्य हैं। शंख सीपी कल्पना पर टिके लक्ष्य और आदर्श हैं। समुद्र विराट् मानवीय अस्मिता है। मरुस्थल इच्छाओं की अतृप्ति है– आज मानवीय जीवन में अतृप्ति ही अतृप्ति भर गयी है। जंगल मानव जीवन में व्याप्त जंगली मनोवृत्ति का सूचक है। किश्तियाँ मानव-मूल्यों की प्रतीक हैं जिनका खून किया जा चुका है। हवायें परिवेश है जो घाट के पत्थर उठा कर फेक चुकी हैं। इसी तरह बालस्वरूप 'राही' ने अपने गीत 'यात्रा' में वीरान पहाड़ों को युग की दुर्दान्त और दुर्गम कठिनाइयों से जोड़ कर उन्हें पहाड़ों के बिम्ब द्वारा रूपायित किया है। इन पथरीले पीरान पहाड़ों पर जिन्दगी चढ़ते थक गयी है। पथरीले और वीरान पहाड़ों का बिम्ब जीवन की दुर्गम कठिनाइयों के लिए बड़ा ही सार्थ बिम्ब है।[२६] मौसमी हवायें, बादलों की गरज, पहाड़, तीतर, मोरपंख, धूल, पगडण्डी, चैत, फागुन, वसन्त, फूल, गन्ध, सावन, सोनमछरी, ताल, कमल सागर, तट, धूप-छांव आदि अनेक प्राकृतिक पदार्थों के बिम्ब भी स्थान-स्थान पर नवगीतों में प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। बंसवारी, आम्रमंजरी, कोयल, मोर, कागा, हिरन, आदि भी इसी तरह प्रतीकात्मक बिम्ब के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

पौराणिक परम्परायें और कथायें जीवन को एक सांस्कृतिक आयाम प्रदान करती हैं। नवगीतकारों ने पौराणिक और सांस्कृतिक बिम्बों का भी प्रयोग किया है। एक विशिष्ट तथ्य है कि नवगीत में पौराणिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों का प्रयोग सीधे सीधे कहीं नहीं हुआ, वे सर्वत्र प्रतीक बन कर ही प्रस्तुत हुए हैं। कहीं कहीं घटनाओं, स्थितियों और परिवेश का मानवीकरण किया गया है। कौरवों की द्यूत-सभा, धर्मराज के जुए और द्रोपदी के दाँव पर लगने के मिथक का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए उसे आधुनिक युग-बोध से सम्पृक्त करते हुए गीतकार कहता है–

"फेंक रही पासे। यह बीसवीं सदी। सभागार बीच खड़ी विवश द्रौपदी। धर्मराज खेल रहे खेल जुए का। बिछ गये बिसातों के दाँवों के दिन"[२७] युग की जहरीली और असहनीय यातनाप्रद स्थितियों को तक्षक के बिम्ब से भी साकार किया गया है। "अँधियारे में तक्षक के बेटे लेटे हैं जो फन फैला कर फुफकार रहे हैं और उनकी फुफकार से चारों ओर जहर फैल रहा है"[२८] जैसे बिम्बों में युग की जटिलता और विसंगतियाँ स्पष्ट हैं। परन्तु पौराणिक और सांस्कृतिक बिम्बों के द्वारा केवल युग की जटिलता की ही नहीं, कुछ रागात्मक प्रसंगों को भी रूपायित किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य, कवि की मनस्विता, जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था और निष्ठा को भी ऐसे ही बिम्बों के द्वारा साकार किया गया है। कवि कि सांस्कृतिक आस्था, जीवन के प्रति सम्पृक्ति और मूल्य-निष्ठा को रामायण-रचना के बिम्ब द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार गंगा के प्रवाह को वात्सल्यमयी गाय के बिम्ब और

देवव्रत के प्रति उसके स्नेह के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है– 'भूरवा कहीं देवव्रत टेरे। दूध भरी है छाती। दौड़ पड़ी ममता की मारी। तजकर संग संघाती। गंगा नित्य रंभाती फिरती। जैसे कपिला गइया। सारा देश क्षुधातुर बेटा-वत्सल गंगा मैया।" [२९]

सांस्कृतिक और पौराणिक बिम्बों की दृष्टि से नवगीत में कहीं कहीं पूर्ण चाक्षुष या सेन्द्रिय बिम्ब तो प्रस्तुत किए ही गए हैं। कहीं कहीं ऐसा भी किया गया है कि कवि अपनी अनुभूति को अधिक पैनापन प्रदान करने के लिए प्रतीकात्मकता के साथ बहुत छोटे छोटे बिम्बों में पौराणिक नामों या घटनाओं का प्रयोग करता है। ये बिम्ब युग-जीवन की अभिव्यक्ति का सार्थक माध्यम बन गये हैं। 'शाकुन्तल आँखों में खो गयी बरसात' (*नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २९५) रोज रोज विष पीकर भी शंकर न बन पाने की नियति (**वहीं** - पृ. २२०) 'कर्जे की सुरसा का किसी तरह न उत्तर पाना" (**वहीं** - पृ. २०१) शाकुन्तल आस्था को शहरी मुस्कान का खलना (**वहीं** - पृ. ९३) 'शब्दों के पंख कटा कर जटायु की तरह जीने की विवश' (**वहीं** - पृ. १९४) 'युयुत्सु पीढ़ी का कन्धों पर खाली तरकरा लेकर युद्धभूमि में अभिभंगित होकर सो जाना' (**वहीं** - पृ. १३०) 'दिनों का शाकुन्तल और सहसई खोल कर उनमें मोरपंख रखना' तथा 'हवा का गीत गोविन्द लिखना' (**वहीं** - पृ. ९७) आदि बिम्ब ऐसे ही छोटे छोटे पौराणिक और सांस्कृतिक बिम्ब हैं जो अपनी प्रतीकात्मक अस्मिता में जीवन और युगीन परिवेश के विविध पक्षों को उद्‌घाटित कर रहे हैं।

इस संक्षिप्त आलेख में नवगीत के बिम्ब-विधान को शास्त्रीय, परम्परागत और पूर्वस्वीकृत सांचे में कस कर प्रस्तुत करना और ऐन्द्रिय-चाक्षुष, घ्राणपरक-मानस, गत्वर, स्थिर आदि बिम्ब-भेदों, उपभेदों के वर्गीकरण को आधार मान कर परखना अधिक सुविधाजनक और सरलीकृत मार्ग हो सकता था। परन्तु प्रयास इनसे अलग हट कर रचनाओं को ही आधार बनाने का और उन्हें अपनी ही दृष्टि से परखने का किया गया है। इतना निश्चित है कि नवगीत का बिम्ब-विधान किसी परम्परा का अनुगामी नहीं है। वह अनुभूति का अनुगामी है। नवगीत में युगबोध और अनुभूति का खरापन अधिक ग्राह्य और स्वीकार्य है। बिम्ब-विधान तो उनको शक्ति प्रदान करने वाला शैल्पिक आयाम है। इनसे नवगीत की भाषा और शिल्प-क्षमता में अद्‌भुत शक्ति उत्पन्न हुई है।

रामसनेहीलाल शर्मा

हिन्दी विभाग
एस्.एस्.के स्नातकोत्तर कॉलेज
फिरोजाबाद - २८३ २०३
(उत्तरप्रदेश)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. भगीरथ मिश्र - *काव्य मनीषा* - पृ. २८५ - १९६९ हिन्दी समिति सूचना विभाग उ. प्र. लखनऊ.

२. "Imagery is a mode of expression of experience in the form of mental pictures" – Km. Adith Riebert, **New Mode of The Study of Literature** - p. २७

३. Km. Kaiselin Sparjan - **Shakespeare's Imagery and what it Tells Us**, Cambridge University Press - 1965, p. ९.

४. डॉ. नगेन्द्र - *काव्य बिम्ब* - पृ. ५ - १९६७ - नैशनल पब्लिशिंग हाऊस - दिल्ली

५. रेनवेलेक, आस्टिन वारेन - *थ्योरी ऑफ लिटरेचर* का हिन्दी अनुवाद - *साहित्य सिद्धान्त* - अनुवादक - बी. एस. पालीवाल - पृ. २४३ - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

६. *काव्य बिम्ब* - प्रथम अध्याय

७. Robin Sheltan - **The Poetic Pattern** - p. ९०-९१ - १९५६, (Rautledge and Kegan Paul)

८. *काव्य-मनीषा* - पृ. २८९.

९. डॉ. सुशीला शर्मा - *तुलसी-साहित्य में बिम्ब योजना* - पृ. ३१६-१९७२ कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली.

१०. डॉ. रामदरश मिश्र - *गीत पत्रिका*, अंक २ दिल्ली - "आज का गीत : एक निजी प्रतिक्रिया" - पृ. २१

११. नईम - *नवगीत दशक* - १ -पृ. ५ - १९८२ - पराग प्रकाशन, दिल्ली

१२. डॉ. रामसनेही लाल शर्मा - *मन पलाशवन और दहकती सन्ध्या*, पृ. २९ - १९८७ - पोरवाल प्रकाशन, टूण्डला

१३. चन्द्रभूषण - *नवगीत दशक* - पृ. ९२

१४. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना - "मेघ आये" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २७१-२७२ सन १९८८ - पराग प्रकाशन, दिल्ली.

१५. "यद्यपि बिम्ब-संयोजन गीत-तंत्र के लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि गीत में सहृदय एवं स्त्रष्टा दोनों के मध्य किसी भी प्रकार का अन्तराल असह्य है, बिम्ब अपनी ऐन्द्रियता एवं सम्मूर्तता के कारण कवि को सम्पूर्णतया मुखर नहीं होने देता । वह एक मिथ्या मर्यादा का निर्माण कर देता है जिससे गीतकार की अपनी निजता स्पष्ट होने के बजाय संकेतों में बदल जाती है । अतः गीत-शिल्प में बिम्ब-विधान को प्रमुखता नहीं दी जाती है । — डॉ. विनोद गोदरे; *छायावादोत्तर हिन्दी प्रगीत* - पृ. २४८ - १९७५ - वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

१६. बालस्वरूप राही - *जो नितान्त मेरी है* - पृ. १-२ -१ १९७५, - नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

१७. विद्यानन्द राजीव - "कब क्या लिले कलम" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २२७

१८. रवीन्द्र भ्रमर - *जामुनी घटाएं - सोनमद्दरी मन बसी* - पृ. ५९ - १९८० - ग्रन्थायन प्रकाशन, दिल्ली.

१९. डॉ. केदारनाथ सिंह - "दुपहरिया" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. ८७.

२०. बुद्धिनाथ मिश्र - "दिन फागुन के" - **वहीं** - पृ. १०१

२१. नारायणलाल परमार - "दिन पके हुए" - **वहीं** - पृ. १४८

२२. महेन्द्र शंकर - "एक फूल महुए का" - **वहीं** - पृ. १७७

२३. श्यामसुन्दर दुबे - "फागुन जोगलिखी" - **वहीं** - पृ. १५७

२४. डॉ. जगदीश गुप्त - "मरकत घाटी में" - **वहीं** - पृ. १०६

२५. आह भरती है नदी । टेर उठती है नदी

और मौसम है कि उसके
दर्द को सुनता नहीं
रेत बालू से अदावत
मान बैठे हैं किनारे
जिन्दगी कबतक बिताएं
शंख-सीपी के सहारे
मन-मरुस्थल में दफन है
देह पर जंगल उगे हैं
तन-बदन पर किश्तियों के
खून के घब्बे लगे हैं
— मयंक श्रीवास्तव - "नदी" - **वहीं** - पृ. १७२-१७३

२६. इन पथरीले वीरान पहाडों पर
जिन्दगी थक गई है चढ़ते चढ़ते
— बालस्वरूप राही, *जो नितान्त मेरी है* - पृ. ४१

२७. सत्यनारायण - "घाट बंधी नावों के दिन" - *नवगीत अर्द्धशती* - पृ. २०७

२८. कौशलेन्द्र प्रताप सिंह - "चारे ओर जहा" - **वहीं** - पृ. ८९

२९. उमाकान्त मालवीय - "गंगा मइया" - **वहीं'** - पृ. ६१.

♣ ♣ ♣

परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१.	प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे-४११ ००७
२.	प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३.	मुद्रक का नाम	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
	पता और राष्ट्रीयता	:	१, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे-४११ ००७ भारतीय
४.	प्रकाशक का नाम,	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
	पता और राष्ट्रीयता	:	१, मोरेश्वर हाऊसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे - ४११ ००७ भारतीय
५.	सम्पादकों के नाम,	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
	पता और राष्ट्रीयता	:	१. १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड पुणे - ४११ ००७, भारतीय २. डॉ. राजेंन्द्र प्रसाद, स्टेडियम मुख्य दरवाजे के सामने, प्रेमचंन्द पथ, राजेंन्द्र नगर पटना - ८०० १६, भारतीय ३. डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित, 'कलापी', प्लॉट क्रं. २५३७, पोलिस परिवहन कार्यशाला के पीछे, बाणेर रोड, औंध पुणे - ४११ ००७, भारतीय ४. डॉ. मोरेश्वर प्रभाकर मराठे, दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११ ००७, भारतीय
६.	उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम व पते जो समाचारपत्र के स्वामी हों।	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे - ४११ ००७ और प्रताप तत्वज्ञान, केंद्र, अमलनेर - ४२५ ४०१ जिला - जलगां व, (महाराष्ट्र)

मैं, सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

- सुरेन्द्र बारलिङ्गे

♣ ♣ ♣

पद-स्वरूप (न्याय मतानुसार)

प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य न्याय मतानुसार पद के लक्षण और उसके स्वरूप पर विचार करना है। इसके लिए आवश्यक है कि वैयाकरणों के मतों की भी चर्चा को ध्यान में रखा जाय। इस उद्देश्य से प्रस्तुत प्रबन्ध को मुख्यतः तीन खंडों में विभाजित किया गया है। पहला, जिसमें वैयाकरणों के मत की विस्तार से आलोचना की गई है,। दूसरा, न्याय मत का सविस्तार से उल्लेख किया गया है। तीसरा, जगदीश के द्वारा दी हुई "सार्थक शब्द" की परिभाषा पर विशेष रूप से विचार किया गया है। यद्यपि न्याय के ही अन्तर्गत इसका उल्लेख प्रासंगिक था, फिर भी इसका उल्लेख पृथक् खंड में किन्हीं कारणों से किया गया है।

I

व्याकरणशास्त्र पदशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। पदशास्त्र का अनुसरण करके ही संसार में सर्वशास्त्रों का व्यवहार जगत् में होता है। पदज्ञान के बिना किसी भी शब्द का सम्यक् अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता है। इसलिए पद-स्वरूप का विचार आवश्यक है। "पद" शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ "छञ्" प्रत्यय से युक्त होकर पद्यते गम्यते अर्थात् ज्ञातते अर्थो येनेति प्राप्त होता है। *यजुर्वेद प्रातिशाख्य* में कहते हैं - "अर्थः पदम्" (अ. ३, सू. २) पंतजलि भी कहते हैं कि "शब्देनोच्चारितेनार्थे गम्यते" (*महाभाष्य* १.१.६८) अर्थात् शब्द के उच्चारण से अर्थ का बोध होता है, अथवा यों कहें कि शब्द के साथ अर्थ का गहरा सम्बन्ध है। क्योंकि शब्द के विना अर्थ का बोध नहीं होता है। प्रश्न उठता है कि शब्द क्या है ? पंतजलि कहतें हैं–

> "येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुद खुर–
> विषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः" – *महाभाष्य* --

अथवा जिसके उच्चारण से सास्ना, लांगूल, ककुद, खुर और सींग वाले पशु का बोध होता है वह शब्द है। इसमें "उच्चारण" और "संप्रत्यय" दोनों शब्द, "शब्द" के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। शब्द वह है जो उच्चारित होता है और किसी अर्थ का प्रत्यायक भी होता है। उच्चारण "शब्द" के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है और "संप्रत्यय" शब्द के सांकेतिक रूप को व्यक्त करता है। पंतजलि का दूसरा वक्तव्य है–

> "प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः।
> – *महाभाष्य*--

अर्थात् प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द कहते हैं। प्रतीतपदार्थक का तात्पर्य है लोकप्रचलित अर्थ अथवा ऐसे शब्द जो सर्वसाधारण के लिए समान अर्थ रखते हैं। इस अर्थ

में आदैव, टि, धु, म, आदि प्रतीतपदार्थक शब्द नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि पशु, अपत्य, देवता आदि प्राप्त- पदार्थक शब्द हैं। यदि संप्रत्यायक ध्वनि को शब्द माना जायेगा तो टि, धु, म, आदि कृत्रिम संज्ञायें भी शब्द मानी जायेंगी, क्योंकि "टि" आदि से भी संप्रत्यय किसी न किसी को तो होता ही है। किन्तु "टि" आदि सबके लिए शब्द नहीं हैं, इसलिए संप्रत्यय के स्थान पर "प्रतीतपदार्थक" रखना पतजंलि को अधिक उपयुक्त जान पड़ा होगा। पहली परिभाषा में कृत्रिम संज्ञायें भी शब्द हैं, दूसरी परिभाषा के अनुसार सामान्य रूप से वे शब्द नहीं हैं। पहली परिभाषा में संप्रत्यय प्रधान है। दूसरी परिभाषा में ध्वनिरूप प्रधान है।

समस्त व्यवहारिक क्रियाकलाप का आधार शब्द है, किन्तु शब्दों का यथार्थ ज्ञान बिना व्याकरण के नहीं होता है। एतएव शब्दों के तात्त्विक ज्ञान के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। शब्दों के दो रूप हैं - एक शब्दत्व और दूसरा साधुत्व। शब्द के शब्दत्व का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से हो जाता है, परन्तु उसके साधुत्व का ज्ञान व्याकरण से ही होता है। व्याकरण के द्वारा शब्दों का अनुशासन किया जाता है, तब वे पद कहलाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि पद क्या है ? *शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य* में कहते हैं– "अक्षर-समुदायः पदम् अक्षरं वा"। (अ.८ सू.४१-४१)

यहाँ पर 'रामः', 'कृष्णः' इत्यादि अक्षर-समुदाय का उदाहरण है। अ - ई - उ वर्ण अक्षर पद के उदाहरण हैं। "अ" कार वासुदेव का, ई - कार लक्ष्मी का, उ-कार शम्भु वाचक प्रसिद्ध है। वैसे, तो *तैत्तीरीय प्रातिशाख्य* मैं "एकवर्णः पदमिति" (अ.१ सू.५४) कहा गया है, लेकिन बाद में "वर्णसमूहः पदम्" कहा गया है। पाणिनी प्रत्याहार के द्वारा" "सुप्तिङ्न्तंपदम्" (१/४/१४) लक्षण करते हैं। "सु" प्रातिपदिक संज्ञा के बाद और "तिङ्" धातु के बाद आते हैं। यथा रामः, रामौ, रामाः। भवति, भवतः भवन्ति इत्यादि। पदज्ञान के बिना साधु-शब्द का ज्ञान नहीं होता है और बिना साधु-प्रयोग के कामधुग् नहीं हो सकता।

"एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः, सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवतीति।

(*महाभाष्य* - ६/१/८४)

वार्तिककार कात्यायन भी पद का लक्षण पाणिनि के ही मिलते-जुलते स्वर में करते हैं। "विभक्त्यन्तं पदम्"

(*महाभाष्य* १/२/३ ——)

अर्थात् विभक्तियुक्त वर्ण-समूह ही पद कहलाता है। लेकिन किसी भी वर्ण-समूह को विभक्ति-युक्त करने से पद नहीं कहा जा सकता है; वह वर्ण-समूह अर्थवत् होना चाहिए। तभी उसमें विभक्ति का प्रयोग करके उसे "पद" कहलाने का गौरव प्राप्त हो सकता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि "वर्णसमूह" या वर्ण जबतक सार्थक न हो, उनमें विभक्ति का योग करके "पद" नहीं बनाया जा सकता है। सम्पूर्ण शब्दराशि का विभाजन ही अर्थवत्ता की दृष्टि

से किया गया है। धातु और प्रातिपदिक अव्यवहार्य व्याकरणात्मक दो इकाईयाँ हैं, उन्हीं का व्यावहारिक रूप "नाम" और "आख्यात" है। नाम के अन्तर्गत संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम, तीनों ही आ जाते हैं। वे तीनों ही द्रव्यों के अभिधायी हैं। इसलिए उन्हें नाम या सत्त्व के बृहद् वर्ग में रखना ही उचित है। दूसरी ओर कर्मप्रवचनीय, उपसर्ग, निपात में विभक्ति का प्रयोग नहीं होता है। पाणिनि इन सबको अव्यय का नाम देते हैं; साथ में वे इन्हें मूलतः सप्रत्यय भी कल्पित करते हैं। बाद में वे इनका लोप भी मान लेते हैं। पर अव्यय नाम देने के बाद वे इन्हें प्रातिपदिक से पृथक् ही मानते हैं। यद्यपि नाम और प्रातिपदिक में कोई भेद नहीं है, तथापि विभक्ति जुड़ने से पूर्व की संज्ञा-अवस्था को प्रातिपदिक कहते हैं। पाणिनि कहते हैं धातु और प्रत्यय को छोड़ कर अर्थवान् शब्द-स्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१/२/४५)

जैसे - डित्थ., कपित्थः इत्यादि।

काशिकाकार कहते हैं–

"अर्थवच्छशब्दरूपं प्रातिपदिक संज्ञा भवति धातु प्रत्ययौ वर्जयित्वा"।

सृष्टिधर, सत्रहवीं शताब्दी के एक बंगाली टीकाकार, ने "प्रातिपदिक" शब्द की व्युत्पत्ति "प्रतिपद" शब्द के साथ ठक् प्रत्यय योग करके बना है जिसका अर्थ है कि प्रातिपदिक सभी विभक्त्यन्त पदों के अन्तर्भुक्त शब्द को कहते हैं। जैसे - वृक्षः, वृक्षम्, वृक्षान् इत्यादि के अन्दर निहित "वृक्ष " शब्द प्रातिपदिक कहलाता है।

"प्रातिपदिक इति बृहत्याः संज्ञायाः प्रतिपादनेन प्रतिपदं गृह्ण" ति व्युत्पत्त्या पदोत्तरपदं गृह्णाति (४.४. ३९) इति ठकि सर्वेष्वेव पदेषु यानि यानि वृक्षादीनि समन्वयन्ति तेषाम् एव संज्ञा।"

ऊपर के सूत्र १/२/४५ से पता चलता है कि वैयाकरणों के मत में प्रातिपदिक धातु और प्रत्यय सभी अर्थवान् होते हैं, पर धातु और प्रत्यय का व्यावर्तन प्रातिपदिक से करने के लिए ही अधातु और अप्रत्यय का योग किया है। लेकिन ये सभी अर्थवान् होते हुए भी स्वतंत्र रूप से प्रयोग में नहीं लाये जाते हैं जब तक प्रातिपदिक विभक्ति प्रत्यय स्वरादि और धातु विभक्ति प्रत्यय तिबादि के साथ युक्त नहीं होते हैं। इसी तरह से प्रत्यय भी स्वतंत्र रूप से अर्थ के बोधक नहीं होते हैं जब तक वे प्रातिपदिक और धातु के साथ युक्त नहीं होते।

प्रश्न उठता है कि अर्थवत् कहने का क्या तात्पर्य है? नागेश *शब्देन्दु शेखर* में कहते हैं–

"अर्थत्वं च एतत्संज्ञाफलीभूत विभक्तितरसमभिव्याहार नापेक्षया लोकेऽर्थविषयक बोधजनकत्वम्"

इसका तात्पर्य है कि लोकनिर्दिष्ट अर्थविषय के बोध का जो जनक हो वही अर्थवत्,

कहलाता है। अर्थवत् का स्पष्टार्थ काशिकाकर करते है "अभिधेयवचनोऽर्थ शब्दः" अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ का बोध हो वही अर्थवत् है। ऐसा कहने से अभाववचन भी अभिधेय हो जायेगा क्योंकि इसके द्वारा भी किसी न किसी अर्थ का बोध तो होता ही है। इस प्रकार अभाव वचन को भी प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त होती है।

"अभावोऽप्यभिधेयो भवत्येव। अन्यथा ह्यर्थाभावादितीदं वचनमनुचरणीयं स्यात्, अनर्थकत्वात् न ह्यनर्थक वचनं प्रयोगमर्हति। तस्मादभाववचनानामपि प्रातिपदिक संज्ञा भवत्येव।"

– *न्यास* १/२/४५

वैयाकरणों के मतानुसार "शशविषाण" इत्यादि शब्द भी अर्थवत् हैं और उन्हें प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि इसके द्वारा बोद्धार्थ का बोध होता है। पर इसकी चर्चा करना हमें यहां अभीष्ट नहीं है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रकृति (नाम और धातु) विभक्ति-युक्त होकर ही पद कहे जाते हैं। यदि ऐसा ही है तो प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय को एक इकाई मान कर ही उन्हें पद कहा जाय, प्रकति और प्रत्यय दो अलग-अलग भाग करने की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि यद्यपि ऐसा कहना सही है, परन्तु अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का ग्रहण किया जाता है। जैसे - वृक्षः में "वृक्ष" प्रकृति है, "सु" प्रत्यय है। दोनों का अर्थ पृथक्-पृथक् है, फिर भी जब इनका प्रयोग होता है तो "वृक्षः" रूप में ही होता है। अन्यथा वृक्ष + सु = वृक्षः, घट + सु = घटः, पट + सु = पटः, इत्यादि स्थलों में प्रकृति भिन्न होने पर भी प्रत्यय एक ही रहता है, तथा वृक्ष + सु = वृक्षः, वृक्ष + औ = वृक्षौ, वृक्ष + अस् = वृक्षाः, आदि स्थल में वृक्ष प्रकृति एक है, पर प्रत्यय भिन्न भिन्न ऐसा बोध नहीं होगा। यदि "वृक्ष" यह सामान्य रूप से बोध कराता तो वृक्ष सुनने से वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः तीनों का ही बोध हो जाता; अथवा "सु" सुनने से घट, पट, वृक्ष आदि सभी का बोध हो जाता। पर ऐसा नहीं होता है। इसलिए "प्रकृति प्रकृत्यर्थ है, और प्रत्यय प्रत्ययार्थ है" ऐसा ही अन्वय व्यतिरेक से मानना चाहिये।

"एवं कल्पितन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृति प्रत्ययविभागं
तयोरर्थत्वं च परिकल्प्य शास्त्रेष्वाख्यानमिति भावः।

– *महाभाष्य प्रदीपोद्योत* - १/२/४६.

इससे एक बात और उभर कर आती है कि वैयाकरण सिर्फ पद-रचना को अर्थ के द्वारा नियन्त्रित मानते हैं। बगान में एक ही वृक्ष होने पर "वृक्षः" कहना ही व्याकरण की दृष्टि से सही है, वृक्षौ नहीं, इसका कारण है कि वास्तविक पदार्थ (वृक्ष) एक ही है। अतएव यह सिद्ध होता है कि वैयाकरण भी भाषा की शुद्धता अर्थ द्वारा ही नियन्त्रित मानते हैं। "सुप्तिङ्न्तंपदम्" कहना व्याकरण की दृष्टि से कहना ठीक है, पर इसके पीछे एक पूरा अर्थ-संसार काम कर रहा

है, उसकी कतई उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह बात और भी साफ हो जाती है जब पाणिनि "समर्थः पदविधिः" (२/१/१) सूत्र में कहते हैं कि समर्थपदों में ही परस्पर अन्वय संभव हो सकता है। काशिकाकार कहते हैं–

"समर्थः = शक्तः। विग्रहवाक्यार्थाभियाने यः शक्तः स समर्थो वेदितव्यः।"

अर्थात् जो शक्तिविशिष्ट हो उन्हीं दो पदों में अन्वय संभव हो सकता है। व्याकरण में शक्ति के दो भेद कर लिये जाते हैं– व्यपेक्षा और एकार्थीभाव। व्यपेक्षा वाक्यविज्ञान की शक्ति है जो पदों का वाक्य में सम्बन्ध निर्धारित करती है। एकार्थीभाव वह शक्ति है जो अनेक अर्थों को एक अर्थ में परिणत कर लेती है। वही सभासदि की शक्ति है। यहां पद प्रधान अर्थ के लिए अपने अर्थ को गौण बना लेता है अथवा छोड़ देता है। इस तरह पद का अर्थ व्यर्थ हो जाता है या अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करता है।

"पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्" (२/१/१, *वार्तिक*।)

अथवा

"पृथक् पृथगर्थोपस्थापकपदानां समुदायनिष्ठैकशक्त्या
एकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थीभावः।"

यहां पर "शक्तं पदम्" नैयायिकों के मतानुसार पद का लक्षण समझना चाहिए। राज्ञः पुरुषः = राजपुरुषः आदि में अलग-अलग अर्थों के उपस्थापक पदों का समुदायनिष्ठ-शक्ति के द्वारा "राजविशिष्ट पुरुष" रूप एक अर्थ की उपस्थिति जनकता है जो जल और धूल की तरह मिल कर एकार्थीभाव को प्राप्त होते हैं। "राजपुरुष इत्यत्र राजशब्दोऽपि पुरुषोऽर्थमेवाचष्टे इति द्वयोरेकार्थीभावो भवति। अथवान्य एवावयवार्थान्वितः समुदायार्थः प्रादुर्भवतीति तदपेक्षयैकार्थीभाव उच्यते पांसूदकवदेकभावापन्नत्वात्। यद्यपि शब्दान्तरमेव वृत्तिः अवयवा वर्णवदनर्थकाः। तथापि सादृश्यात् तत्त्वाध्यवसाय पदानामाश्रित्य पृथगर्थानामेकार्थी भाव इत्युक्तम्। "समर्थ वचनमिति" समर्थ शब्दस्य वाच्यं इत्यर्थः।

– *महाभाष्य प्रदीप* २/१/१

समास में दोनों पद स्व स्व अर्थ का निरूपण करके समुदाय रूप से विशिष्ट अर्थ का निर्देश करते हैं। कभी-कभी पद स्व स्व अर्थ को लेकर समुदाय से अर्थ निर्देश करते हैं।

"पदानां तत्तद्विषयताविशिष्टेऽर्थे शक्तिः। अतएव बोधे विषयतानियमः। एवंच राजपदादे राजत्व निष्ठप्रकारितानिरूपित विशेष्यत्वावच्छिन्नं स्वार्थस्तत्र समासे विशेष्यत्वांशत्याग इत्येतावता जहत्स्वार्थत्वमिति। अत्र च बीजं समुदायशक्तिः। एवं च अवयवशक्तिसहकृतसमुदायशक्त्या विशिष्टैकोपस्थितिरिति तत्त्वम्।

– *महाभाष्य प्रदीपोद्योत* (२/१/१)

व्यपेक्षावाद में यह माना जाता है कि पद परस्पर साकांक्ष होते हैं, उनमें एक दूसरे की आकांक्षा होती है।

"परस्पर व्यपेक्षा सामर्थ्यमेके" (२/१/१, *वार्तिक* ४)

व्यपेक्षा वाक्यविज्ञान की वह शक्ति है जो पदों का वाक्य में सम्बन्ध निर्धारित करती है। एकार्थीभाव वह शक्ति है जो अनेक अर्थों को एक अर्थ में परिणत कर लेती है। वह समासादि की शक्ति है। न्याय में एकार्थीभाव जैसे किसी शक्ति को मान्य नहीं किया जाता है। वहाँ समास में लक्षणावृत्ति स्वीकार की जाती है। अतः न्यायमत मे एकार्थीभाव को समास न कह कर पदों के एकपदीभाव को समास नाम देते हैं। एकार्थीभाव शक्ति अमान्य करने से नैयायिकों को बहुब्रीही में लक्षणा मान्य करनी पडती है। उदाहरणार्थ पीताम्बर - पीत और अम्बर शक्ति से अपना अर्थ लेते हैं, धारण-कर्ता का अर्थ लक्षणा से आता है। द्वन्द्व समास में वैसे तो लक्षणा होती ही नहीं है, पर समाहार में लक्षणा मानी जाती है - त्रिलोकी इत्यादि। किन्तु वैयाकरण समास-शक्ति को पद-शक्ति में ही समाहित करते हैं। फिर भी चाहे हम व्याकरण-सम्मत एकार्थीभाव की बात करें या न्याय-सम्मत लक्षणा का सहारा लेकर चलें, अर्थगत विविधता हमें प्रयोग और प्रसंग के अधीन ही दिखाई पडती है।

उदाहरण के लिए "राज्ञः भार्या, पुरुषो देवदत्तस्य" यहाँ पर राज्ञः और "पुरुषः" समर्थ न होने के कारण समासबद्ध नहीं होते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं समास-बद्ध हो सकते ? तो इसका एकमात्र उत्तर हो सकता है कि यह तो सापेक्षता, अर्थबोध या तात्पर्यबोध से ही मालूम पड़ जाता है। एक दूसरा उदाहरण लें "राजगवीक्षीर" : यहाँ पर हम अपनी इच्छानुसार (राजगवी), क्षीर अथवा 'राजगोक्षीर' स्थल में राज (गोक्षीर) कर सकते हैं। क्योंकि इसमें मुख्यता वक्ता के बोध पर निर्भर करती है। इन दोनों उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पदों की समासबद्धता अर्थ-निर्भर है और अर्थ-बोध तात्पर्य-बोध के द्वारा नियन्त्रित होता है।

"समर्थः पदविधिः" इस सूत्र के आलोचना प्रसंग में यदि हम वापस जाएं तो देखेंगे कि सामर्थ्य पदशक्ति न होकर पदों की परस्पर अन्वयशक्ति को ही लेना होता है। महाभाष्यकार ने इसके लिए सापेक्ष समर्थ कहा है। अर्थात् पद एक दूसरे की अपेक्षा रखता है, यही सामर्थ्य है। समर्थ शब्द का अर्थ है (१) समर्थ वह है जिसका अर्थ संगत है। (२) संसृष्ट अर्थवालों को समर्थ कहेंगें। (३) संप्रेक्षित अर्थवाला समर्थ होता है। (४) समर्थ वह है जिसमें अर्थ-संबंध रहते हैं। पहले दो अर्थ एकार्थी भाव (समास) के लिए हैं, अन्तिम दो अर्थ व्यपेक्षा (वाक्य) के लिए हैं। उक्त दृष्टि से सामर्थ्य अथवा शक्ति को वाक्य के भीतर ही लिया जाता है। अलग-अलग पदों के अर्थ को लेकर प्राचीन व्याकरण में शक्ति-विचार नहीं हुआ। नागेश कहते हैं– वाक्य ही समर्थ होता है, पदों में केवल संकेत रहता है। इन पदों को वाक्य में

कल्पित कर लिया जाता है। इसी प्रकार पद में भी प्रकृति-प्रत्यय के खंड कल्पित कर लिये जाते हैं। यह सारी परिकल्पनाशास्त्र मात्र की वस्तु है, व्यवहार में वाक्य-शक्ति ही मान्य है। फिलहाल इस वक्तव्य की आलोचना यहाँ प्रासंगिक नहीं है।

वैयाकरणों का मत है कि "पंकज" शब्द में रूढ्यर्थ के कारण जैसे विशेष शक्ति स्वीकार की जाती है, वैसे ही समास में भी पृथक् शक्ति स्वीकार करनी चाहिए और वही एकार्थीभाव है। "पंकज" शब्द का अवयवार्थ है जो पंक में उत्पन्न होता है। लेकिन रूढिगत अर्थ में सिर्फ "कमल" के लिए ही प्रसिद्ध है। अर्थात् अपनी अवयवशक्ति का त्याग करके समुदायशक्ति से कमल अर्थ को ग्रहण करता है। वैसे ही समास अन्तर्निहित पदों के पृथक् अर्थ होने पर भी उनमें समुदायनिष्ठता के आधार पर एकार्थीभाव प्राप्त हो जाता है। परन्तु जहाँ पर रूढ्यर्थ का बाधक होता है वहीं समास में जहत्स्वार्था वृत्ति लेनी चाहिये।

"जहत्स्वार्थी तु तत्रैव यत्र रूढिविरोधिनी। अवयवार्थविरुद्धो यत्र समुदायार्थ तत्रैवसेति तदर्थः। यथा अश्वकर्णमण्डपादौ।"

– *सिद्धान्त कौमुदी*

वैयाकरणों के मत में "वृत्ति" शब्द का एक विशेष स्थान है। नागेश पद-संपादक सभी विधि को पदविधि कहते हैं, यानि वृत्ति मानते हैं। परार्थ के अभिधान का नाम वृत्ति है।

"परार्थाभियानं वृत्तिः"

– *महाभाष्य*, २-१-१

पदार्थ या अन्तर्हित अर्थ को स्पष्ट करने या सामने लाने वाली विश्लेषणपद्धति को वृत्ति कहते हैं। अथवा "वृत्ति" एक ऐसी विशेष पद्धति है जिसके द्वारा विभिन्न पदों में युग्म-संपादकता संभव होती है। वृत्ति शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। जैसे–

परस्य = विग्रहवाक्यावयपदार्थेभ्योन्यस्य यस्य विशिष्टैकार्थे यस्याभिधानं यत्र भवति सा वृत्तिरिति कथ्यते। अर्थात् विग्रहावस्थायां येषां येषां स्वार्थपर्यवसायिपदानां परिनिष्ठितेषु सम्मिलितैकार्थो बोधो यया शक्त्या भवति सा वृत्तिरिति भावः। परस्य शब्दस्य योऽर्थास्याभिधानं शब्दान्तरेणयत्रसा वृत्तिरित्यर्थः यथा राजपुरुष इत्यत्र राजशब्देन वाक्यावस्थामनुक्तः पुरुषोऽर्थोऽभिधीयते।

– *महाभाष्य प्रदीप* (२/१/१)

वृत्ति-स्वरूप के सम्बन्ध में भी वैयाकरण कभी जहत्स्वार्थी और कभी अजहत् स्वार्थीवृत्ति स्वीकार करते हैं। जहत्सवार्था वृत्ति में पद अपने अपने अर्थ का परित्याग करके समुदाय-निष्ठ अर्थ ग्रहण करता है, जबकि अजहत्स्वार्था वृत्ति में पद अपने अपने अर्थ का बिना परित्याग किए हुए एकार्थीभाव को प्राप्त हो जाता है। समास में यदि अजहत्स्वार्था वृत्ति स्वीकार की जाय तो "राजपुरुष" कहने पर पुरुषमात्रस्यानयनं प्राप्नोति।

"औपवगमानय" कहने पर अपत्य मात्र का आनयन होगा। फिर यदि अजहत्स्वार्था वृत्ति मानी जाय तो "उभयो विद्यमानस्वार्थयोर्द्वयो द्विवचनमिति द्विवचनं प्राप्नोति।"

तब इसमें कौन सी वृत्ति मानी जाय यह प्रश्न है। भाष्यकार कहते हैं जहत्स्वार्था ही ठीक है क्योंकि "दृश्यते लोके पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रर्वतमानः स्वं कर्म जहाति। तद्यथा तथा राजकर्मणि प्रवर्तमानः एवं तक्षकर्म जहाति।"

-- (*महाभाष्य* २/१/१)

ऐसा यदि कहा जाय तो "राजपुरुषमानय" इत्यादि में जो दोष दिखलाया गया कि पुरुष मात्र का आनयन हो जायेगा, तो कहते हैं कि ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि "जहदप्यसौ स्वार्थं नात्यन्ताय जहाति, यः परार्थ विरोधी स्वार्थत्वं जहाति। तद्यथा - तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं तक्षकर्म जहाति न तु हिक्कितश्वसितहसित कण्डूयतानि। न चायमर्थ परार्थविरोधी विशेषणं नाम, तस्मात्तन्न हास्यति। (२/१/१)

अतः स्पष्ट है कि एकार्थीभावस्य वृत्ति में परार्थविरोधी स्वार्थ का ही त्याग होता है, सर्वार्थ का त्याग नहीं होता है। अतः राजपुरुष में पूर्व पद ही स्वार्थ का त्याग करता है, उत्तर पद नहीं करता है। भाष्यकार भी एकार्थीभाव को ही मानते हैं। अतः समासार्थ विशिष्टार्थ के कारण वाक्य है, नैयायिकों की तरह लक्ष्य नहीं है। इस तरह वैयाकरण एकार्थीभाव को और नैयायिक, मीमांसक व्यपेक्षा को सामर्थ्य मानते हैं। वे समुदाय की शक्ति नहीं मानते। वैयाकरण विशिष्ट शक्तिवादी हैं। क्योंकि यदि समास में शक्ति न मानी जाय तो उस समुदाय की अर्थवत्ता न होने पर, "अर्थवत्_" सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा समास को प्राप्त नहीं हो सकेगी। समास में शक्ति न मानने पर उस समुदाय का अर्थ न होने पर "शक्य सम्बन्ध रूप" लक्षणा भी नहीं हो सकती है। अतः लाक्षणिक अर्थवत्ता भी न होने से प्रातिपदिकत्व का उपपादन सर्वथा असंभव हो जाएगा। उस संज्ञा के न होने पर "सु" आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी और फलस्वरूप पदसंज्ञा नहीं हो सकेगी। अतः "अपदं न प्रयुज्येत्" इस नियम से उन समस्त पदों का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इसलिए प्रातिपदिक संज्ञारूप कार्य ही अर्थवान् है। यदि समुदाय में शक्ति स्वीकार नहीं की जायेगी, तो समास अर्थवान् नहीं हो सकेगा। फलतः प्रातिपदिक भी नहीं होगा। "कृत्तद्धितसमासश्चेति" इस सूत्र के अनुसार समास की प्रातिपादिक संज्ञा है, फलतः समास अर्थवान् है।

इसलिए "अर्थवत्" सूत्र पर भाष्य में "अर्थवद्" इस विशेषण की आवश्यकता पर बल दिया है। अर्थवानों का समुदाय अनर्थक होता है।

"दशदाडिम षडपूपा_" इत्यादि का समुदाय अर्थवान् नहीं है, इसकी व्यावृत्ति के लिए "अर्थवद्" विशेषण दिया है। "दशदाडिम_" इत्यादि में पृथक् पद अर्थवान् होने पर भी उनका समुदाय अनर्थक है, फलतः उसमें प्रातिपदिकत्व नहीं है। समास का अर्थवान् होना आवश्यक

है, इसलिए समास में विशिष्टशक्ति वैयाकरण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार समासार्थ वाक्य है, लक्ष्य नहीं है। यदि उसे लक्ष्य माना जाय तो उसे प्रातिपदिक संज्ञा नहीं कह सकेंगे। लाक्षणिक होने के लिए भी तो उसमें शक्य सम्बन्ध रूप लक्ष्यार्थ माना भी जा सकता है, किन्तु नैयायिक समस्त पद में तो वाक्यार्थ नाहीं मानते। अतः लक्ष्यार्थ भी नहीं मान सकते हैं। अतः वैयाकरणों के अनुसार समास प्रातिपदिक होने के कारण, वाक्य ही होगा।

यदि "राजपुरुष" पद में "राज" पद की "सम्बन्ध" में लक्षणा स्वीकार करेंगे तो "राज्ञः पुरुषः" इस विग्रह वाक्य में विरोध हो जायेगा, क्योंकि इस विग्रहवाक्य का "राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः" ऐसा अर्थ कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। "वृत्यर्थाबोधकं वाक्यं विग्रहः" ऐसा नियम है। समास विग्रह वाक्य है ऐसा सर्वत्र स्वीकृत है। यदि समासार्थ और विग्रह वाक्य के अर्थ में समन्वय नहीं होता है तो उसमें विग्रह नहीं माना जाना चाहिए। अतः "राज" पद में लक्षणा नहीं माननी चाहिए। "सम्बन्ध" में भी लक्षणा नहीं मानते हैं क्योंकि "राजसम्बन्ध्यरूपः पुरुषः" की प्रतीति होने लगेगी। अतः समास में शक्ति ही माननी चाहिए। वैयाकरण कहते हैं कि समुदाय में शक्ति है। इसका प्रमाण व्याकरण नहीं वरना लोकव्यवहार ही है। क्योंकि "राजपुरुषमानय" इसको सुन कर राजविशिष्ट पुरुष ही लाया जाता है, केवल राजा या केवल पुरुष नहीं।

"यैरपि व्याकरणं न श्रुतम्, तेऽपि "राजपुरुषमानय" इत्युक्ते राजविशिष्ट पुरुषामानयन्ति न राजानम्, नापि पुरुषमात्रम्"। – *काशिकावृति* (१२,५,५६)

वैयाकरणों के मत से प्रतीत होता है कि पद-स्वरूप की विवेचना वे आकार और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से करते हैं। "सुप्तिङ्क्त" और "समर्थः पदविधिः" सूत्रों में पदरचना और अर्थरचना दोनों पर ही जोर दिया गया है, यद्यपि वे समुदाय में एक शक्ति मानते हैं। अर्थवत् दोनों पर ही जोर दिया गया है, यद्यपि वे समुदाय में एक शक्ति मानते हैं। अर्थवत् होने पर ही साधु प्रयोग के लायक शब्द हो सकता है, जो कि विभक्तियुक्त होने पर ही होता है। विभक्तिरहित शब्द भी कभी कभी व्यवहृत होते हैं, पर वे प्रयोग के योग्य नहीं होते हैं, यद्यपि वे भी अर्थवान् होते हैं। "भू" सत्तायां अर्थ में असाधुत्त्व हो जायेगा क्योंकि यह अपरिनिष्ठित शब्द है। विभक्ति के अभाव में पदत्व नहीं है। और अपद का प्रयोग नहीं होता है। इसका उत्तर है कि पद का तात्पर्य परिनिष्ठित से है। परिनिष्ठित एवं साधु दोनों पर्याय होने के कारण अर्थवान् होंगे। "स्वं रूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा" (१/१/६८) इस सूत्र के द्वारा "शब्द" जब स्व अर्थ को ही प्रकाशित करता है तब भी उसे अर्थवान् कहा जाता है। जैसे -"अग्नेर्ढक्" इस सूत्र से "अग्नि" शब्द के साथ ढ़क् प्रत्यय प्रयुक्त होता है, बाह्य अग्नि के साथ नहीं। तब अग्नि शब्द मात्र शब्द के स्वरूप को ही प्रकाशित करता है, पर वह स्व-अर्थवान् कहा जा सकता है।

II

न्यायमतानुसार "पद" की सबसे प्राचीन परिभाषा *न्यायसूत्र* "ते विभक्त्यन्ताः पदम्" (२.२.५८) में मिलती है। अर्थात् विभक्ति-युक्त (वर्ण-समूह) पद कहा जाता है। भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं– "यथा दर्शनम् विकृतर्वणा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति। विभक्ति द्वयी नामिकी आख्यातिकी च। ब्राह्मणः पचति इत्युदाहरण्।" यहाँ पर भी वैयाकरणों की तरह विभक्ति दो प्रकार की ही मानी गई है। प्रातिपदिक के साथ युक्त विभक्ति नामिकी, यथा– सुप, तथा धातु के साथ युक्त विभक्ति आख्यातिकी कही जाती है। अतः पद दो ही हुए नाम और क्रिया। वैसे भाष्यकार इन दो पदों के अलावा निपात और उपसर्ग भी पद-रूप में स्वीकार करते हैं। यथा - नामाख्यातोपसर्गनिपाताः (५.२.७)। परन्तु उपसर्ग और निपात नाम के ही अन्तर्युक्त किये जाते हैं क्योंकि वहाँ पर व्याकरण के नियमानुसार विभक्ति-लोप का विधान है। अतएव यह कहना ठीक है कि विभक्त्यन्त पद को ही नाम और क्रिया कहा जाय।

"यदि द्वयी विभक्तिरुपसर्ग निपास्तर्हि न पदसंज्ञकाः? न, नाम्न्यन्तर्भावात् - उपसर्गनिपाता नाम्ना संगृहीताः, यस्मादाह अव्ययाल्लोप इति; ते सुबन्तत्वात्तेनैव संगृहीता इति"। – *न्यायवार्तिक* (२.२.५८)

भाष्यकार नाम के दो लक्षण देते हैं। पहला, वाच्य अर्थ का क्रियाविशेष के साथ सम्बन्धयुक्त "विशिष्यमाणरूप"; अर्थात् रूपभेद होता है ऐसा शब्द नाम कहा जाता है।

"अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो 'नाम' " (५.२.७)

तात्पर्य टीकाकार इसकी व्याख्या करते हैं–

"अभिधेयस्य" क्रियान्तरयोगात् = क्रियाविशेषस्य योगाद् विशिष्यमाणरूपो = भिद्यमानरूपः शब्दो नामेति, यथा-वृक्षंस्तिष्ठति, वृक्षं छिनन्ति, वृक्षेण चन्द्रमसं पश्यति, वृक्षायोदकमासिंचतीत्यादि।

दूसरा लक्षण करते हैं कि–

"अभिधेस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो 'नाम', यथा ब्राह्मण इति क्रियाकारकसमुदायः कारकसंख्याविशिष्टः।" – *न्यायवार्तिक* २.२.५८

अर्थात् कर्तृकर्मादिकारक एकत्वादि संख्या-विशिष्ट एवं जात्यादि और कारक ही नाम है।

वस्तुतः "नाम" पद प्रातिपदिक का ही बोधक है। *निरुक्त* में भी नाम को "सत्त्व प्रधानानि" कहा गया है। (१.१.९)। सत्त्व का अर्थ है लिंग और संख्या के द्वारा अन्वित द्रव्य। जैसे– "रामकृष्णादि शब्दाः सत्त्वाभिधायका नाम पदेन गृह्यन्ते।" लिंग और संख्या से शून्य होने के कारण च, ह, वा इत्यादि निपात कहे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि "यस्याभिधेयं

नियमेन क्रियाविशेषमाकांक्षति तन्नामलक्षणाच्चात्र क्रियापदं नास्ति तत्राप्यस्तीति क्रिया सत्तारूपेण वर्तत एव, ततश्च नामाख्यातयो विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः सुदृढः।"

प्राचीन नैयायिक जब पद का लक्षण विभक्त्यन्त.... कह कर करते हैं तो उनका उद्देश्य वैयाकरणों के स्फोटवाद का खण्डन भी करना है। स्फोटवादियों का कहना है कि पद के अन्तर्गत वर्ण भिन्न-भिन्न होने के कारण तथा उनका क्रम से उच्चारण होने के कारण एक साथ उपस्थि होना असंभव है। जब "क" का उच्चारण किया जाता है, तब "म" और "ल" नहीं होते हैं, तथा जब "ल" का उच्चारण किया जाता है, तो "क" और "म" नहीं रहते। इस तरह तीनों वर्णों का एक साथ प्राप्त होना संभव नहीं है। फलस्वरूप इन वर्णों से अतिरिक्त "स्फोट" की सत्ता मानी जानी चाहिए, जो अर्थ का वाचक होती है।

"अस्ति हि भिन्नेष्वपि वर्णेषु वाक्यमिदमेकं पदमिति वा सर्वजनीनोऽनुभवः। न चासौ भिन्नवर्णालम्बनो भवितुमर्हति, एकस्य नानात्व विरोधात्। तस्माद्वर्णातिरिक्तं पदं वाक्यं वा आलम्बते, तच्च प्रत्येकमेव ध्वनयोऽभिव्यञ्जयन्ति।

केवलं पूर्वे ध्वनयः स्वरूपमाभासयन्ते चरमस्तु व्यक्तम्। न चेयमर्थे विधा संभविनी प्रत्यक्षज्ञाननियतत्वात्। व्यक्ताव्यक्तावभासितायाः पदे प्रत्यक्षे उपपत्ति, अर्थस्य तु पदगम्यस्याप्रत्यक्षस्य मानान्तरेण ग्रहणमस्तीति; अग्रहण्यं वा न तु स्फुटास्फुटत्वाभ्यां योगः। अपि च यस्मिन्ननुवर्तमाने यद्व्यावर्तते तत् तस्माद्भिद्यते, यथा सुवर्णावयवेष्वनुवर्तमानेषु कटकमुकुटादयः। अनुवर्तमानेषु तु वर्णेषु व्यावर्तन्ते पदभेदाः तस्मात् तेऽपि वर्णेभ्यो भिन्ना इति तान् प्रत्याह– ते विभक्त्यन्ताः पदम् त एव वर्णा एव पदम, न तु तदतिरिक्तं स्फोटाख्यमित्यर्थः।

– *न्यायवार्तिकात्पर्यटीका (२.२.५८)*

नैयायिक वर्णों से अतिरिक्त स्फोट का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि वर्ण अनित्य है तथा उनका उच्चारण भी एक साथ नहीं हो सकता है, तथापि वर्णों के उच्चारण के क्रमानुसार संस्कार बुद्धि पर पड़ जाते हैं। फलस्वरूप अन्तिम अन्तिम वर्ण के उच्चारण के समय पूर्व के वर्ण भी स्मृति के द्वारा बुद्धि में आरूढ होकर एकार्थ का बोध कराने में सक्षम होते हैं।

"इदमत्राऽऽकूतम– न तावद्वर्णातिरिक्तः पदात्मा कश्चिदुपलभ्यते प्रत्यक्षेण, पदमिति तु व्यपदेशस्तानेव वर्णान् बहूनप्येकस्मृतिसमारोहितया वा एकार्थधीहेतुतया वा अभिन्नकारकावस्थात्वयावालम्बते भाक्तः। – **तदेव**

इस तरह विभक्त्यन्त वर्णों को ही पद संज्ञा देते हैं। अतः वर्णों को ही पद कहना पड़ेगा। अतः यही ध्वनित होता है कि वर्ण-समुदाय ही पद है। "वर्ण समूहो पदम्"– स्फोट नामक अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। पूरे समुदाय से एक ही अर्थ की प्रतीति होगी। इन विनाशी

वर्णों में उत्तरोत्तर अनुग्रहभाव होगा। एक वा दूसरे वर्ण की सहायता करता चला जायेगा और उस विद्यमान वर्णसमुदाय का एकात्मक अर्थ मान लेंगे। अतः समूह की कल्पना से ही पदबोध हो सकता है। इस पर यदि वैयाकरण कहें कि तब तो "सर" इस पद में जितने वर्ण हैं, उतने ही "रस" में भी हैं। इसी तरह "वन" और "नव", "नदी" और "दीन" इत्यादि में भी एक ही अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। नैयायिक कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है; वर्णों के क्रम में भेद होगा तो अर्थ में भी भेद पड़ेगा। अतः वर्ण ही वाचक है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि विभक्त्यन्त (वर्ण-समूह) को ही पद कहा जायेगा, तो उपसर्ग, निपात आदि पदसंज्ञा न हो सकेंगे। क्योंकि इनमें विभक्ति का लोप पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि नाम और धातु भी विभक्तिरहित होकर अर्थ-बोध कराने में सक्षम नहीं होते हैं। उन्हें अर्थ-बोध के लिए विभक्ति की आवश्यकता पड़ती है। विभक्ति-रहित होकर उनका कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता है। तीसरी बात है कि विभक्तियों को भी अर्थयुक्त होना चाहिए, क्योंकि विभक्तियुक्त होने से "प्रकृति" पद व्यवहार के योग्य समझा जाता है। इस सभी आशंकाओं को ध्यान में रख कर नव्य नैयायिक "वृत्तित्वं पदत्वं" या "शक्तं पदम्" पद का लक्षण करते हैं। अन्नंभट्ट *तर्कसंग्रह* में "शक्तं पदम्" कह कर पद का लक्षण करते हैं। अर्थात् पद में अर्थ-बोध कराने का सामर्थ्य ही शक्ति है।

"अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः (अन्नंभट्ट)। अर्थात् शक्ति पद और पदार्थ के बीच सम्बन्ध है जो अर्थ का स्मरण कराती है। जैसे– "घट" पद के द्वारा घट पदार्थ का ही बोध होता है पटादि का नहीं। *वैशेषिक सूत्र* २.२.९ *उपस्कार* भी कुछ इसी तरह का लक्षण करते हैं। "पदत्वं च संकेतवत् वर्णत्वम्" अर्थात् वर्णक्रम में निहित संकेत-विशिष्ट होना ही पद का लक्षण है। उपस्कार और अन्नंभट्ट दोनों ही शक्ति या संकेत के द्वारा ही पद का लक्षण करते हैं जबकि "वृत्तिमत्वं पदत्वं" कहने से शक्ति और लक्षणा इन दोनों का ही ग्रहण हो जाता है, क्योंकि जबतक पद में संकेत या शक्ति नहीं होगी उसमें लक्षण भी नहीं हो सकता है। लक्षणा को "शक्य सम्बन्ध" कहा गया है। पद पदार्थ के बीच के सम्बन्ध को शक्ति कहा गया है। यह सम्बन्ध ईश्वर-संकेत के द्वारा निर्धारित होता है। इसके दो आकार हो सकते हैं–

"अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः"
अथवा "इदम् पदमिमर्मथम् बोधयतु"।

दोनों ही प्रकार से पद का सम्बन्ध पदार्थ के साथ निश्चित होता है। पद अपने संकेत या शक्ति के द्वारा अर्थ को नियंत्रित करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नव्य-नैयायिक के अनुसार पद का स्वरूप सिर्फ व्याकरण-रचना पर ही निर्भर नहीं करता है, वरन्, इससे एक ही उल्लेखनीय तत्त्व को प्रधानता दी गई है। और वह है "पदार्थ" का बोध करवाना। प्राचीन नैयायिकों के लक्षण में पद की व्याकरणात्मक रचना पर जोर दिया गया था, पर नव्यों ने इसमें "अर्थवत्ता" को प्रधानता दी है। ऐसा कहने से "प्रत्यय" भी अर्थवत् शब्दसमूह की राशि के

अन्तर्गत स्थान पा जाते हैं क्योंकि प्रत्ययों की भी एक स्वतंत्र सत्ता कायम हो जाती है। वे भी शक्तियुक्त माने जाते हैं। उनके द्वारा भी एक विशिष्ट अर्थ का बोध स्वीकारना पड़ेगा। जिस तरह प्रकृति के बिना प्रत्यय का कोई मूल्य नहीं है, वैसे ही प्रत्यय के बिना प्रकृति का भी मूल्य नहीं है। फिर क्यों प्रकृति को ही प्रधानता दी जाय, प्रत्ययों की नहीं। नियम ही है कि "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्यय इति।" यथा महाभायकार पतंजलि भी कहते हैं कि "भवति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रातिपदिक संज्ञा इति।" दोनों ही एक दूसरे की जब अपेक्षा रखते हैं तो दोनों को ही शक्ति-युक्त कहना उचित है। इसलिए नव्य-नैयायिक "शक्तं पदम्" पद का लक्षण करके प्रत्यय को भी "पद" के आसन पर बैठने का गौरव प्रदान करते हैं।

प्राचीन और नव्य नैयायिकों के द्वारा दिए हुए "पद" के दो विपरीत लक्षणों के बीच की खाई को पाटने का काम न्यायसूत्र वृत्तिकार श्री विश्वनाथ ने किया है। उन्होंने एक नवीनतम व्याख्या के द्वारा प्राचीन मत की रक्षा करते हुए उसे नव्य मतानुसार मोड़ दिया है। वे कहते हैं कि "ते वर्ण विभक्तत्यन्ताः पदम्" इस सूत्र में विभक्ति का अर्थ वृत्तिः है, अन्त का अर्थ सम्बंध है। अतः सूत्र का तात्पर्य हुआ- तेन वृत्तिमत्वं पदत्वमिति (पृ. ६५९)। अर्थात् नव्य नैयायिकों की परिभाषा "शक्तं पदम्" के साथ प्राचीन नैयायिकों की परिभाषा में कोई विरोध नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्राचीन नैयायिक एक बारगी ही उपरोक्त समस्याओं से अनभिज्ञ थे, क्योंकि प्रत्ययों की निरर्थक सता प्राचीन नैयायिक भी मानने को तैयार नहीं हैं। इसका एक मनोरंजक उदाहरण उद्योतकर प्रस्तुत करते हैं–

"न हि भौतिकं मनो नाप्यभौतिकमिति। कार्यधर्मावितौ भौतिकत्वं भौतिकत्वं च, न च कार्यं मनः, तस्मान्न भौतिकं नाप्यभौतिकमिति। श्रोत्रे चासम्भवः यदि भौतिकत्वा-भौतिकत्वलक्षणाद्वैधर्म्यादपरिपाठः सूत्रे मनसः, श्रोत्रमपि सूत्रे न पठितव्यं तर्हि, न हि श्रोत्रं भौतिकं नाप्यभौतिकमिति। स्वार्थे प्रत्ययविधाननमिति चेत्, न। प्रत्ययवैयर्थ्यात्। स्यादेषा बुद्धिः स्वार्थिक एष प्रत्ययो भूतमेव भौतिकमिति। तच्च न। प्रत्ययवैयर्थ्यात। न हि भौतिकमित्यनेन कश्चित्ताद्धितार्थो लभ्यते, तस्माद् व्यर्थमेतत् स्वार्थे प्रत्ययविधानमिति"

– *न्यायवार्तिक* १-१-४ (पृष्ठ १२४)

शब्द कौस्तुभ में भी भट्टोजी दीक्षित कहते हैं कि "स्वार्थिका अपि प्रत्ययार्थेनार्थवन्तः"– २-१-१ -२

इस तरह यदि प्रत्ययों को भी अर्थवान् मान लिया जाय तो "विभक्त्यन्तं पदम्" इस पद के लक्षण को, नव्य नैयायिक एक सम्पूर्ण वाक्य ही मान लेते हैं जो सार्थक वर्ण-समुदाय शक्ति का लक्षण वृत्ति का आश्रय होता है वही पद हो जाता है। फलस्वरूप "नीलो घटः" यहाँ पर प्राचीनों के अनुसार दो पद हैं, किन्तु नव्यों के अनुसार चार पद हैं। यथा- "नील" पद, उकार पद, घट पद तथा विसर्ग पद। नील रूप अर्थ में "नील" पद की शक्ति है। उ-कार पद अभेदार्थ का बोधक है। "घट" पद घटत्वविशिष्ट का बोधक है, तथा विसर्ग एकत्व संख्या का बोधक

है। उपरोक्त दृष्टान्त वास्तव में दो खण्ड-वाक्यों से निष्पन्न एक अखंड वाक्य है। परस्पर आकांक्षा विशिष्ट बहुपद घटित वाक्य को न्याय मत में महावाक्य कहा जाता है। नीलो यहाँ प्रथमा विभक्ति का अर्थ तादात्म्य अभेद है। वह विशेष्य है, एवं उसका विशेषण नील पदार्थ है। अतः "नीलो" इस वाक्य का अर्थ है = तादात्म्य नीलीय इस प्रकार का अवान्तर वाक्यार्थ बोध पहले होता है, पश्चात् "नील तादाम्यवान् घट" ऐसा महावाक्यर्थ बोध होता है। नव्य-न्याय की भाषा में इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

"नीलत्वावच्छिन्न तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यताश्रयो घटः।"

पद के सम्बन्ध में एक बात पहले ही कही जा चुकी है कि "पदं पुनः वर्णसमूहः" (*न्यायवार्तिक* १.१.१ पृ.४) किन्तु जिस किसी प्रकार का वर्ण समूह पद नहीं कहला सकता है; वर्ण समूह को एक ज्ञान का विषय होना चाहिए। केशव मिश्र *तर्कभाषा* में कहते हैं कि–

"समूहश्चात्रैकज्ञानविषयीभावः।"

वर्णसमूह पद इस परिभाषा के अनुसार किसी एक ज्ञान में भासित होने वाले वर्णों का नाम होता है पद। इसलिए घ्, अ, ट और अः ये वर्ण क्रम से उच्चारित हो कर जब तक किसी एक व्यक्ति को एक साथ ज्ञात नहीं होते, तब तक वे "पद" नहीं कहे जाते; किन्तु जब वे किसी एक व्यक्ति को एक साथ ज्ञात होकर एक ज्ञान के विषय बन जाते हैं, तब वे "घट" पद कहे जाने लगते हैं। पद के लक्षण में समूह शब्द के सन्निवेश से यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि पद सदा अनेक वर्णात्मक ही होता है, किन्तु बहुत स्थलों में पद एक वर्णात्मक भी होता है, जैसे विष्णुवाची "अ", आकाशवाची "ख" इत्यादि।

प्रश्न है कि पद जब एक वर्णात्मक भी होगा, तब तो "घट" यह एक पद न होकर पदों का समूह हो जायेगा। उत्तर है कि "वर्ण-समूह" यह पद का पूरा लक्षण नहीं है, यह तो उसके सम्बन्ध में एक संकेत मात्र है। उसका उचित लक्षण तो "शक्तः साभिप्रायो वर्णो वर्ण-समूहो वा पदम् के रूप में किया जा सकता है। इसके अनुसार जो वर्ण या वर्ण-समूह किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय होता है वह पद होता है। पद के इस लक्षण के अनुसार घ्, अ, ट और अः इन चार वर्णों का समूह रूप होने पर भी "घट" पद एकवर्णात्मक पदों का समूह न होगा, क्योंकि उस पद के अंगभूत एक एक वर्ण किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय नहीं है अपितु वे सब सम्भूय "घडा" रूप अर्थ में शक्त हैं और उसी को बतलाने के अभिप्राय से उच्चारित हैं। यद्यपि वर्ण क्रम से ही उच्चारित होते हैं और अत्यन्त शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, अतः एक काल में अनेक वर्णों का श्रवण संभव नहीं हो सकता। तथापि किसी एक पद के अंश-भूत वर्ण जिस क्रम से अत्यन्त भिन्न होते हैं उसी क्रम से श्रोता के द्वारा उनका अनुभव होता है और उसी क्रम से अनुभवों द्वारा उनका संस्कार उत्पन्न होता है। इस क्रम से उस पद का अन्तिम वर्ण जब

कान में पहुँचता तब इस अन्तिम वर्ण से सम्बन्ध हुआ, श्रोत्र पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न हुए संस्कारों के सहयोग से एक साथ ही विनष्ट और विद्यमान सभी वर्णों को विषय करने वाले एक पद ज्ञान को उत्पन्न करता है। विनष्ट और विद्यमान वर्णों की ग्राहकता में केवल यही अन्तर है कि विद्यमान वर्णों के साथ श्रोत्र का साक्षात् सम्बन्ध होता है और विनष्ट वर्णों के साथ संस्कार द्वारा होता है।

एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशत्वेन एकदाऽनेक वर्णानुभावासंभवात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभय अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्त्य-वर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेण एकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते सहकारिदाढ्र्यात् प्रत्यभिज्ञावत्।

– *तर्कभाषा* (पृ. १४१)

इसी तरह की एक और परिभाषा *न्यायकोश* में मिलती है– अर्थबोधकम् पद्म (पृ. ४६१)। अर्थात् पद अर्थबोधक होना चाहिये। कहने का तात्पर्य है कि नव्यमत में पद की अर्थवत्ता को ज्यादा महत्त्व दिया गया है यद्यपि प्राचीन मत में पद में अर्थवता है ही नहीं, ऐसा हम नहीं कहते हैं किन्तु वहाँ पर व्याकरण की दृष्टि से पद-साधुत्व पर ज्यादा जोर दिया गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि जिस तरह वैयाकरणों के मत में दो प्रमुख धारायें के पद के लक्षण के सम्बन्ध में चल रही थीं, वैसे ही नैयायिक सम्प्रदाय में भी प्रचलित थीं क्योंकि मूलतः पद और अर्थ परस्पर इस तरह जुड़े हुए हैं कि अर्थ के अभाव में पद की कोई खास अहमियत नहीं रह जाती है, यह अर्थ चाहे बाह्यार्थ हो या बोधार्थ। इस विवाद में फिलहाल हम जाना पसन्द नहीं करेंगे।

III

प्राचीन और नव्यनैयायिकों के मतों का सुन्दर समन्वय हम जगदीश तर्कालंकार के द्वारा दिए हुए सार्थक शब्द के लक्षण के स्थल में पाते हैं। वास्तव में इस प्रबन्ध का उद्देश्य जगदीश के मत को ही प्रकाशित करना था, परन्तु बिना इतनी विस्तृत भूमिका के हम जगदीश के लक्षण के साथ शायद न्याय नहीं कर पाते, इसलिए इतना कहना अनिवार्य हो गया। जगदीश तर्कालंकार सार्थक शब्द का लक्षण इस प्रकार करते हैं–

"शब्दान्तरमपेक्ष्यैव सार्थकः स्वार्थबोधकृत्।
प्रकृतिः प्रत्ययश्चैव निपातश्चेति स त्रिधा॥"

– *श. श. प्र.* (का. ६)

इसका सरलार्थ है जो शब्द, शब्दान्तर की अपेक्षा से अपने अर्थ के बोध का जनक होता है वही सार्थक शब्द होता है। सार्थक शब्द तीन प्रकार के होते हैं– प्रकृति, प्रत्यय और

निपात। इसकी व्याख्या करते हुए जगदीश स्वंय कहतै हैं–

"यादृशः शब्दः शब्दान्तरं सहकृत्यैव स्वस्य स्वघटकस्य वा वृत्युपस्थाप्ययादृशार्थावगाहि बोधं प्रत्यनुकूलः, स तथाविधार्थे सार्थकः। पटपाचकाद्याः प्रकृतयः सुप्तिङाद्यः प्रत्ययाश्चादयो निपाताश्च स्वोपस्याप्यर्थस्य बोधं नियमतः शब्दान्तरं सहकृत्य जनयन्ति, वाक्यानि पुनरसहकृत्यापि। शशाविषाणादिकः शब्दोऽपि शशीयत्वादिना विषाणादेरन्वयबोधमादधानस्तादृशविषयताकबोधने सार्थक एव परन्त्वयोग्यः।" – **तदेव** - पृ. १३

साकांक्ष शब्द पदार्थ- उपस्थिति के द्वारा शाब्द-बोध करके शाब्दबोध का प्रयोजक होता है। साकांक्ष शब्द सार्थक होना चाहिये तभी शाब्दबोध का प्रयोजक होगा। जो शब्द अन्य शब्द की अपेक्षा करके शक्ति या लक्षणा वृत्ति द्वारा उपस्थापित स्व-अर्थ अथवा स्व-घटक अर्थ का बोध उत्पन्न करता है उसे सार्थक शब्द कहते हैं। सार्थक का अर्थ है– अर्थेनसह वर्तमानं सार्थकम्। *कृष्णकान्ती टीका* में "सार्थक" शब्द की व्याख्या करते हैं– "स्वविषयिताव्यापकविषयिताक शब्दस्य वृत्युपस्थाप्य परमिति भावः।" *रामभद्री टीका* में सार्थक शब्द की व्याख्या करते हैं– "स्वेतरशब्दानपेक्ष्य स्वार्थान्वयबोधजनक शब्दत्वमेव सार्थक शब्दत्वमिति भावः।" यथा पट, पाचक (प्रकृति) सुप्, तिङ् (प्रत्यय) तथा च, वा (निपात समूह) अपर एक शब्द को सहकारी रूप से ग्रहण करके ही सार्थक होता है। "गौरस्ति" यह वाक्य बिना किसी पदान्तर की अपेक्षा से वाक्यार्थ बोध का जनक होता है। अतः शब्द और वाक्य में पार्थक्य है। शशविषाणादि अनुपाख्य शब्द भी शशीयत्व रूप से विषाण के साथ अन्वय-बोध का उत्पादक होता है। अतः "शशविषाण" सार्थक शब्द रूप से परिगणित होता है। राजपुरुषः और शशिविषाण दोनों ही सार्थक शब्द हैं, पर "शशविषाण" अयोग्य शब्द है। जगदीश तर्कालंकार के द्वारा दिए हुए उपर्युक्त पद के लक्षण से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। प्रथमतः सार्थक शब्द शाब्दबोध के प्रसंग में ही सार्थक हो सकता है। जगदीश स्वयं कहते हैं–

वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।
सम्पद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः॥

– *श. श. प्र.* (का. १२)

अर्थात् वाक्यभाव को प्राप्त जो सार्थक शब्द है उसका ज्ञान ही अन्वय-बोध को उत्पन्न करता है, केवल (वाक्यभाव को प्राप्त न होकर) सार्थक शब्द के ज्ञान से अन्वय-बोध नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सार्थक शब्द दो तरह के होते हैं–

एक जो वाक्यभाव को प्राप्त होकर अन्वयबोध के जनक होते हैं जैसे-घटं। दूसरे वें जो बिना वाक्यभाव को प्राप्त हुए ही सार्थक शब्द रहता है जैसे- घट, भू इत्यादि।

इससे अच्छा होता यदि कहा जाता कि वाक्यभाव को प्राप्त सार्थक शब्द "पद" है और बिना वाक्यभाव को प्राप्त शब्द सार्थक शब्द है।

द्वितीयतः, सार्थक शब्द को शब्दान्तर की अपेक्षा रहती है, यानि प्रकृति को प्रत्यय की तथा प्रत्यय को प्रकृति की अपेक्षा रहती है। स्वतंत्र रूप से केवल मात्र प्रकृति, प्रत्यय और निपात अथवा निराकांक्ष पद के साथ मिलित सार्थक पद-समूह अन्वय बोध का जनक नहीं होता है। चूकिं पदार्थ में ही पदार्थ का अन्वय होता है, अतएव प्रकृत्यर्थ के साथ प्रत्ययार्थ का अन्वय होता है। प्रकृति, प्रत्यय और निपात स्व स्व वृत्ती के द्वारा अर्थ को उपस्थित अवश्य करते हैं, पर वे वाक्यभाव को प्राप्त होकर ही शब्दान्तर की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् "घट" यह वाक्यभाव को प्राप्त पद है। जबकि घट सार्थक शब्द है (यद्यपि न्याय मत में घट) सुबन्त पद वाक्य रूप में ही स्वीकृत है। "घट" यह वाक्य कभी आनय के साथ तो कभी "आनय" के बिना भी स्वोपस्थाप्यघटीयकर्मत्वबोध को उत्पन्न कर देता है।

तृतीयतः, हृद् पद "गौ", "घट" आदि स्व वृत्ति के द्वारा समुदित अर्थ का बोध कराता है, जबकि "पाचक" इत्यादि यौगिक पद के स्थल में पच + वुञ् (अक) में एकदेश शब्द के द्वारा वृत्ति उपस्थापित अर्थ का बोध कराने के लिए अन्य शब्द के सहयोग की अपेक्षा करके ही शाब्द- बोध का प्रयोजक होता है। "पाचक" में स्ववृत्ति के द्वारा अर्थबोध नहीं होता है, परन्तु स्वघटक प्रत्यय के द्वारा अर्थ-बोध होता है। जगदीश स्पष्ट रूप से यहाँ पर समुदाय शक्ति का समर्थन करते हैं, तथा "शक्तं पदम्" इस लक्षण को ही सार्थक शब्द के लक्षण रूप में ग्रहण करते हैं। क्योंकि प्रकृति, प्रत्यय और निपात तीनों ही उनके अनुसार सार्थक हैं, जो स्व स्व वृत्ति द्वारा अर्थ को उपस्थित करते हैं। उपसर्ग को अतिरिक्त पद नहीं मानते हैं। यदि कोई उपसर्ग सार्थक होता है तो वह निपात के ही अन्तर्युक्त हो जाता है।

प्रकृति, प्रत्यय का अपना अपना अर्थ भी है परन्तु वे विभक्ति के साथ प्रयुक्त होकर ही अन्वय बोध कराने में समर्थ होते हैं -यथा पटः, पट प्रकारक सु (विभक्ति) विशेष्यकः। इसका अन्वयबोध इस प्रकार होगा, एकत्ववान् घटः। इसी प्रकार पटम् = "पट" पद प्रकारक कर्म विशेष्यक शाब्दबोध "पट" पद की शक्ति द्वारा उपस्थित वसन् अर्थात वस्त्र रूप अर्थ प्रकारक, प्रत्ययार्थ कर्मत्व विशेष्यक, "कर्मत्वं पटीयम्" शाब्दबोध का जनक होगा। पट, भू, प्रभृति शब्द स्वोत्तरवर्ती (अम्, तिप् विभक्ति के अंश में अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध में निश्चित होकर ही) 'पट' पद के द्वारा उपस्थित वनस्, भू पद के द्वारा उपस्थापित "जनन" द्वितीयार्थ का कर्मत्व में, तिबर्थ का कर्तृत्व में अन्वय-बोध का जनक होगा। अन्य प्रकार से अन्वयबोध नहीं होगा।

चतुर्थतः, जगदीश जब "नाम" का लक्षण करते हैं तो वे "प्राचीन सम्मत" मत का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। वे कहते हैं–

"येन स्वीययदर्थस्य मुख्यतः प्रतिपादने ।
स्वोत्तरप्रथमापेक्ष्या तन्नाम स्यात्तदर्थकम् ॥"

– श. श. प्र.(का. १५)

अर्थात्, जो शब्द मुख्य विशेष्य रूप से प्रतिपादित होकर स्वोत्तरवर्ती प्रथमा विभक्ति की अपेक्षा करता है, वह शब्द उस अर्थ नाम का बोधक होता है, जैसे घटः, पटः आदि। यहाँ तक की "पीतपट" इस समास के स्थल में भी प्रथमा विभक्ति के स्मरणरूप प्रतिसन्धान के द्वारा ही प्रथमा विभक्त्यंश में पटादि प्रकारक ज्ञान होने पर पट मुख्य विशेष्यक अभेद सम्बन्ध से पीत प्रकारक अन्वय बोध होगा। प्रथमा विभक्ति का अनुसन्धान नहीं होने से अन्वय बोध नहीं होगा। निर्विभक्त्यन्त "पीतपट" समस्त पद ही नहीं होता है। अतएव शब्द विभक्त्यन्त न होने से पद नहीं होता है।

"पीतपट इत्यादिकः समासोऽपि स्वोत्तरं प्रथमाप्रतिसन्धान दशायामेव पटादिमुख्यधर्मिकस्य पीताद्यन्वयबोधस्य जनकः, अतएव 'नापदं प्रयुञ्जीत' इति वृद्धाः। पदं विभक्त्यन्तम्।"

– श. श. प्र.(तदैव)

अतएव पद का लक्षण विभक्त्यन्त ही होगा। "पीतपट" स्थल में लुप्त प्रथमा विभक्ति का अनुसन्धान करके ही पीत प्रकारक पट विशेष्यक अन्वयबोध संभव होता है। किन्तु पीतपटस्यरूपम् स्थल में लुप्त विभक्ति के अनुसन्धान का विषय षष्ठी विभक्ति होता है, प्रथमा नहीं। अतः वह पीत प्रकारक पट मुख्य विशेष्यक महावाक्यार्थ बोध के पूर्व कैसे होगा? (पटस्य पीतरूपम्)

महावाक्य = पीतपट वृत्तिरूपम्।

जगदीश कहते हैं कि उक्त महावाक्यार्थ बोध के प्रति अवान्तर वाक्य कारण नहीं है, क्योंकि उक्त समासबद्ध वाक्य में पट प्रथमा विभक्त्यन्त नहीं है। अतः अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ का कारण नहीं है। इस तरह से जगदीश सम्पूर्णतः प्राचीन मत का समर्थन करते हैं। तब नव्य मत का क्या होगा? ऐसा लगता है कि जगदीश प्राचीन और नव्य दोनों मतों का समन्वय करने का प्रयास करते हैं। इसलिए वे सार्थक शब्द और पद में भेद स्वीकार करते हैं। जब वे "शक्तं पदम्" लक्षण स्वीकार करते हैं तब वे उसे सार्थक शब्द कहते हैं तथा जब "पदं विभक्त्यन्तं" मानते हैं, तो शब्द को पद मानते हैं। सार्थक शब्द कहने से वे इतना ही मानते हैं कि जो अर्थवान् हो जैसे- प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ इत्यादि। लेकिन भाषा में प्रयुक्त शब्द कभी भी केवल प्रकृति, केवल प्रत्यय आदि नहीं होता है। टीकाकार कृष्णकान्त इसी तरह का प्रश्न शब्द *शक्तिप्रकाशिका* ग्रंथ में उठाते हैं–

"ननु पदत्वं यदि शक्तिमत्वं, तदा समासस्यातथात्वात् विभक्तिसहकारेणापि कथं तत्

प्रयोग इत्यत आह पदं विभक्त्यन्तं। तथाचापदं विभक्त्यन्तभिन्नमित्यर्थः।" *श. श. प्र. कृष्णकान्ती* (पृ.७०)

अर्थात् पद यदि शक्तियुक्त ही स्वीकृत है तो विभक्ति का प्रतिसन्धान समास स्थल में क्यों किया जाय ? इस पर कहते हैं कि समास पद ही नहीं कहा जा सकता है, जब तक वह विभक्त्यन्त नहीं होगा। क्योंकि जो विभक्ति-भिन्न है वे अपद ही कहे जाते हैं। इससे साफ जाहिर होता है कि "विभक्त्यन्तं पदम्" ही जगदीश को पद का लक्षण मान्य है।

वैयाकरणों के द्वारा जिस प्रकार "अर्थवत्" शब्द का लक्षण करने में शब्द का विभक्ति युक्त होना आवश्यक नहीं कहा गया है, परन्तु वे जब भाषा में प्रयुक्त होते है तो उन्हें विभक्ति युक्त होना चाहिए ऐसा वे मानते हैं और तभी उन्हें पद कहा जाता है जैसा कि प्रातिपदिक के लक्षण अर्थवद्— २-१-४५ में कहा गया है तथा इसी तरह *कातन्त्र व्याकरण* में "धातु विभक्तिवर्जनमर्थवल्लिगम्" कहा गया है। अर्थात् धातु, विभक्ति रहित लेकिन अर्थ विशेष का बोधक शब्द लिंग (नाम) कहा जाता है। जगदीश भी वैयाकरणों के इस मत के पोषक कहे जाते हैं। इसके अलावा "शशविषाण" जैसे शब्द को जगदीश जब सार्थक शब्द की कोटि में रखते हैं तो यह विचार भी पूर्णतः वैयाकरणों के ही मत के समर्थन में रखा गया है, क्योंकि ऐसे शब्दों के द्वारा वैयाकरण अर्थबोध बोद्धार्थ रूप में स्वीकार करते हैं। पुनः नैयायिकों के प्रभाव से वे इसे अयोग्य भी घोषित कर देते हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस संदर्भ में उठाया जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि जगदीश नव्य मत का समर्थन करते हुए "शक्तं पदम्" को ही पद का लक्षण मानते हैं, तो समास पद के स्थल में, जो कि न्याय मत में शक्ति रहित स्वीकारा गया है, कैसे पदार्थ उपस्थित होगा ? क्योंकि न्याय मतानुसार समास विग्रह वाक्य है और वाक्य में शक्ति नहीं होती है अतएव समास में भी शक्ति नहीं होनी चाहिए। लेकिन जगदीश सार्थक शब्द के विभाग में समास को भी यौगिक पदों के ही अन्तर्गत रखते हैं। यदि समास भी पद है तो उसमें शक्ति अवश्य माननी चाहिये। पुनः यह पद कहीं विग्रह-वाक्य, या जगदीश के मत में महावाक्य है, तो इसे पदों की श्रेणी में क्यों रखा गया है ?

"कृत्तद्धितसमासाश्च" (१-२-४६) इस सूत्र के द्वारा जिस तरह से वैयाकरण कृत्, तद्धित और समास तीनों को ही प्रातिपदिक की श्रेणी में रखते हैं, वैसे ही जगदीश भी कृत्, तद्धित और समास को नाम के अन्तर्गत रखते हैं। फिर उन्हें समुदाय शक्ति स्वीकारने में क्या आपत्ति है जो वे समास में शक्ति नहीं मानते हैं ? पाचक, पाठक स्थल में स्वधारक प्रत्यय के जोर से पकाने वाला, पढने वाला इत्यादि पदार्थ उपस्थित हो सकता है। सिर्फ "पच्", "पठ्" धातु के बल से पदार्थ पकाने वाला, पढ़ने वाला उपस्थित नहीं होता है।

समास के स्थल में ही उन्हें समुदायशक्ति स्वीकारने में हिचकिचाहट क्यों है ? ऐसा

लगता है कि वे पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर ही यह स्वीकार नहीं कर पाते कि समास भी एक पद है और उसमें एक शक्ति होनी चाहिये। "राजपुरुष" इस स्थल में वे दो पद क्यों देखते हैं? क्योंकि कभी कभी हम "राज" और "पुरुष" दो अलग-अलग पदों का भी व्यवहार करते हैं, इसलिए वे जब उन्हें एक साथ देखते हैं तो वे उन्हें उसी (पृथक् पृथक्) पूर्वाग्रह से ही देखते हैं। अन्यथा कोई कारण नहीं है कि वे समास में एक शक्ति स्वीकार न करें। जगदीश स्वयं एक वैयाकरण थे, अतएव उनका वैयाकरणों से प्रभावित होना ही स्वाभाविक है; किन्तु वे नैयायिक सम्प्रदायों के ही परिपालक थे अतएव वे नैयायिक सिद्धान्तों को भी सम्पूर्णतः छोड़ नहीं पाते हैं।

वैयाकरण जब कृत्, तद्धित, समास एक शेष और सनाद्यन्त धातु रूप में वृत्ति स्वीकार करते हैं तो "वृत्ति" से तात्पर्य समुदाय शक्ति से है, जिसका लक्षण पहले ही किया जा चुका है। "परार्थाभिधानं वृत्ति" अर्थात् परार्थ से अन्वित स्वार्थ का उपस्थापक होना। जगदीश सार्थक शब्द के लक्षण में" शब्दान्तरमपेक्ष्यैव– इत्यादि कह कर इसी वैयाकरणों के वृत्ति लक्षण को ही मानों उजागर करते हैं। क्या इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता है, कि वे भी समासादि में समुदाय शक्ति स्वीकारने का आग्रह रखते हैं? वैयाकरण वृत्ति के भी दो भेद करते हैं–

जहत्स्वार्थी और अजहत्स्वार्थी, ऐसा पहले से ही कहा जा चुका है। अवयववार्थ के प्रति निरपेक्ष होते हुए समुदायार्थ का बोधक होना जहत्स्वार्था है। अवयवार्थ संवलित समुदायार्थ का बोधक होना अजहत्स्वार्था है। वृत्ति कहने से वैयाकरण पदों के अन्वय में ही वृत्ति मानते हैं। जबकि नैयायिक वृत्ति कहने से शक्ति या लक्षण मानते हैं। फिर भी जहाँ पर समास एक अखंड पदों के रूप में स्वीकृत है वहाँ अन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता है, वे समस्त रूप से एक ही शक्ति के द्वारा अर्थ का बोध कराते हैं। जगदीश प्रदत्त सार्थक शब्द के लक्षण के प्रसंग़ में वैयाकरणों के उपरोक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

जगदीश के मत में एक और बात वैयाकरणों के प्रभाव की देखी जाती है, वह यह है कि उनके अनुसार वे ही शब्द सार्थक होते हैं जो वाक्य भाव को प्राप्त होते हैं। तो क्या बिना वाक्य भाव को प्राप्त शब्द का कोई अर्थ नहीं होता है? अर्थात् परोक्ष रूप से वे वाक्य की महत्ता ही सिद्ध करते हैं। पद तो वाक्य के अंग के रूप में ही महत्त्वपूर्ण होते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं। जैसे नगीने का स्वयं भी महत्त्व हो सकता है, पर उसका गौरव अंगूठी में जड़ कर ही सिद्ध होता है।

मधु कपूर
विवेकानन्द कालेज
ठाकूर पुकुर, कलकत्ता - ७०० ०६८

ग्रंथ - सूची

१. पाणिनीय व्याकरणमहाभाष्य — निर्णय सागर मुद्रित

२. पाणिनीयाष्टाध्यायी सूत्रवृत्ति — काशिका न्याय-पदमंजरी - पं. जयशंकर लाल त्रिपाठी और डॉ. सुधाकर मालवीय द्वारा सम्पादित (तारा बुक एजन्सी वाराणसी)

३. अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन — कपिलदेव द्विवेदी (हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद)

४. संस्कृत व्याकरण दर्शन — राम सुरेश त्रिपाठी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

५. व्याकरण की दार्शनिक भूमिका — डॉ. सत्यकाम वर्मा (मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली)

६. न्यायदर्शनम् (भाष्य-वार्तिक - तात्पर्य टीका - विश्वनाथ वृति सहित) सम्पादित तारानाथ न्याय तर्कतीर्थ और अमरेन्द्र मोहन तर्कतीर्थ (मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स, प्रा. लि.)

७. शब्द-शक्ति प्रकाशिका — जगदीश तर्कालङ्कार, चौखम्बा प्रकाशन

८. तर्क भाषा — केशव मिश्र — व्याख्याकर श्री. बदरीनाथ शुक्ल (मोतीलाल बनारसी दास)

९. तर्क संग्रह — दीपिका — अन्नं भट्ट सम्पादित श्री. गोपीनाथ भट्टाचार्य (प्रोग्रेसिव पब्लिशर, कलकत्ता)

१०. न्यायकोश — महामहोपध्याय भीमाचार्य झलकीकर (भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना)

११. पद पदार्थ विभाग परिशीलनम् — जगदीश चक्रवर्ती

१२. **Samarthahnik** – 2-1-1 – Dr. S. D. Joshi

१३. **Technical Terms and Techniques of Sanskrit Grammar** – Ksitish Chandra Chatterjee. (University of Calcutta)

१४. **The Philosophy of Sanskrit Grammar** – Dr. P. C. Chakravarty.

१५. **Linguistic Speculations of the Hindus.** – Dr. P. C. Chakravarty.

१६. **Proceedings of the Winter Institute on 'Ancient Indian Theories on Sentence Meaning.** (Held in March/1979) Edited by S. D. Joshi, University of Poona, Pune 1980.

♣ ♣ ♣

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (cds). Contemporary Philosophical **Problems** : Some Classical Indian Perspectives, Rs. 10/-

S. V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A.M. Ghose and P. K. Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M.P. Marathe, Meena A. Kelkar and P. P. Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part 1, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact : 'The Editor,
Indian Philosophical Quarterly,
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

सडक पर दिन : एक अनुबोध

यह डॉ. महेन्द्र कार्तिकेय का हाल ही में प्रकाशित हुआ एक नया काव्य है। कुछ अर्से से डॉ. कार्तिकेय जी निरन्तर लिख रहे हैं। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम प्रायः काव्य ही रहा है। लेकिन इस काव्य की एक विशेषता यह रही है कि उसमें चिंतनशीलता दिखाई पड़ती है। इस का कारण है कि उनकी काव्य-चेतना को दर्शन का स्पर्श हुआ है। प्रस्तुत काव्य तो समूचे जीवन को दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ही देखने का एक प्रयास है।

वाकई, हर आदमी कम से कम अपने साथ ही क्यों न हो, अपने जीवन पर किसी न किसी दार्शनिक अंग से अवश्य ही सोचता है। इस अर्थ में हर आदमी दार्शनिक है। लेकिन आम आदमी की तरह कवि अपनी दार्शनिकता के स्वयं के घेरे में अपने को बाँध नहीं रखता है। कवि की पहुँच हमेशा अपने से परे होती है और अपने चिंतन के दायरे में कवि आम आदमी की असलियत को समा कर समूची आदमियत की खोज प्रस्तुत करता है। इस बात का एक अच्छा सबूत हमें डॉ. कार्तिकेय जी का *सड़क पर दिन* काव्य पढ़ते हुए मिलता है।

सड़क पर दिन तो एक दिन की कहानी है। वैसे एक दिन तो बहुत छोटा ही। लेकिन क्या आदमी का अपना जीना एक दिन से कभी ज्यादा भी होता है। आदमी की केवल एक दिन की छोटी सी जिंदगी को हम एक अनूठी तरकीब से बड़ा बना लेते हैं। वह तरकीब है टुकड़े करने की। किसी भी चीज के टुकड़े करने से एक ही चीज बहु बन जाती है, उसमें विस्तृतता का आभास पैदा होता है। ठीक उसी तरह हम दिन को, जो असल में बहुत ही छोटा अवधि है, कुछ टुकड़ों में बाँट देते हैं और टुकड़ों में बांटा दिन हमें खींचे हुए रबड़ की तरह काफी लम्बा दिखाई देता है। सुबह से ले कर शाम तक, नहीं, रात्रि गुजरने तक हम दिन को अलग अलग रूप में देखते हैं और वही उसके टुकड़े बना देते हैं। उन टुकड़ों में भी अर्थ होता है। क्यों कि हमारी चेतना भी हमेशा एक जैसी नहीं होती है। वह अनेकों मुड़ाओं पर अपना रुख बदल बदल के हर क्षण किसी न किसी नये रूप में उभर आती रहती है। आंतरिक तथा बाह्य भी परिस्थितियों के कोने उसे चेतना को नये रूप में उभरने पर बाध्य करते हैं और इसी तरह चेतना के हर मोड़ एवं हर रूप में अर्थ भर आता है। दिन के हर टुकड़े में भी इसी तरह अर्थ भर जाता है। डॉ. कार्तिकेय जी की रचना में दिन के इन टुकड़ों को लेकर जीवन के विभिन्न रूपों को अपने अपने अभिभावों में व्यक्त कर दिया है। इस तरह इस में प्रवेश, भोर, दोपहर, सांज, रात, मध्यरात्रि और उषःकाल इन मोड़ों से गुजरता हुआ दिन अपने अलग अलग फिर भी एक दूसरे से जुड़े हुए अर्थ बना देता है।

एक ओर दिन को जीवन से जुड़ा लिया है और दूसरी ओर सड़क को जीवन से जुड़ा लिया है। जीवन को समझने के लिए डॉ. कार्तिकेय जी इन दो आयामों से प्रतीत होने वाला चित्र हमारे सामने रख देते हैं। काफी पुराने जमाने से जीने को रास्ता चलने के अर्थ में समझा है। मानव-जाति का यह शायद सबसे पुराना लेकिन आज भी उतना ही तरोताजा रूपक है। इसी मार्ग या सड़क के रूपक को ले कर यहाँ जीने का अर्थ पूरा कर दिया है। एक तरह से दिन प्रतिनिधित्व करता है काल का और सड़क प्रतिनिधित्व करती है दिक् कर। सड़क के इस रूपक में दिक् को गतिमान एवं परिवर्तनशिल रूप में लिया गया है। इस दिक् में जो वस्तुरूप प्रत्यक्ष मिलता है वह जीने की असलियत है। इसी असलियत को काल के माध्यम से जानने का प्रयास प्रस्तुत रचना में किया गया है। इस काव्य की शुरूवात ही होती है

"सड़क क्या है
मार्ग है
कारण है गति का

या हमारे प्राण के उन्मेष का है द्वार" (पृ.९) लेकिन दिन और सड़क इन दोनों उपमानों को कहीं न कहीं आपस में जुड़ जाना चाहिए। तभी तो अर्थ निकलेगा। कवि उसे अपनी रीति से जोड़ देता है।

"_उसी में एक है दिन।
एक है सड़क
या सड़क ही दिन है।" (पृ.९)

जीवन के बारे में सोचना जो है वह केवल आदमी को केन्द्र बना कर ही नहीं सोचना, बल्कि समूची सृष्टि को भी केंद्र बना कर जीने का अर्थ परखना है। यह द्विकेन्द्री अर्थान्वय है - एक केंद्र है आदमी और दूसरा सृष्टि। इन दोनों केंद्रों से जो परिघ बनता है वही जीवन है। उसी परिघ पर चलना है। उसे चलने का अर्थ समझना है। कवि यहाँ बड़ी खूबी के साथ दूसरे केन्द्र को स्पष्ट कर देता है।

"यह सृष्टि सड़क है
जिस पर चलते हैं मानव
पशु
पक्षी
मृत
अमृत।
_जड़ और चेतन।" (पृ.११)

भूमिति-शास्त्र हमें बताना है कि दो बिंदुओं के बीच के फासले को काटना ही रेखा बनाना है। अंतर की कल्पना का यह उद्गम है। यह अंतर दिक् में है और उसे हम काल पर भी

आरोपित करते हैं । दिन और काल के अपने अपने गुणों को एक दूसरे पर आरोपित करने के लिए दिन और सड़क को साथ लाया गया है ताकि जीवन का अर्थ सुचारु रूप से स्पष्ट हो सके । दिन को टुकड़ो में बाँट कर देखने से वह दो बिंदुओं के बीच का अंतर है यह बात स्पष्ट होती है । और सड़क भी क्या है ? वह भी तो दो बिंदुओं के बीच का अंतर ही तो है । इस अंतर को काटना यही आदमी के लिए जीना है । जीने का अर्थ आदमी के केंद्र से बनता है । सृष्टि के केंद्र से इसी जीने को समझने से जीने का जो अर्थ बनता है वह कुछ अलग ही है । इस केंद्र से देखने से यह बात तो स्पष्ट होती है कि टुकड़ो में अंशों को बाँट कर बनायी बहुत्व की निर्मिति मात्र कल्पना का विलास ही है । उसे अपना अस्तित्व नहीं है । सृष्टि के केंद्र से जीवन सिर्फ एक समूचा एवं अखंड क्षण है, जिस में न कोई छोर है न कोई अंतर । इसीलिए कहना पड़ता है,

> "लेकिन पता नहीं
> अन्तर क्या है
> किसी अन्त का । (पृ. १२)

फिर भी आदमी उस स्तर पर रहना पसंद नहीं करता क्योंकि उसकी प्रतिभा, उसकी कल्पनाशक्ति उसे सृष्टि के केंद्र पर कभी स्थिर नहीं होने देती । सृष्टि के केंद्र को पकड़ते हुए भी वहाँ कल्पना का जाल बिछा दिया जाता है । और उसी में जीने के अर्थ को पकड़ने की कोशिश होती है । इस कोशिश में दोनों केंद्रों को ऐसे कोण से देखा जाता है कि वे एक दूसरे पर चिपकाए से आरोपित नजर आएँ । प्रतिभा के इस आयोजन से कवि का अर्थग्रहण सुलभ एवं ठोस बनने लगना है ।

> "सड़क माध्यम है
> चेतना का
> जहाँ गुजरता रहता है
> समय" (पृ. १३)

इस तरह से जो जीवन का अर्थ बनता है उस पर कुछ अधिक सोचना जरूरी है । क्योंकि जैसे कि हम पहले ही बता चुके हैं कि आदमी जीता है केवल एक हि दिन । एक ही दिन के आवर्त वह पुनः पुनः अनुभव करता रहता है । उस की संवेदना इतनी सशक्त एवं सक्षम नहीं है कि अनुभव के परिणामों को वह हमेशा संचित रख सके । लेकिन उसकी संवेदना तो अवश्य ही इतनी सशक्त है कि बार बार वह अनुभूति से अभिभूत हो जाए और हरेक डुबकी में वही नया गीलापन भी पा सके । यही कारण है कि जिस दिन को अनेकों टुकड़ो में बाँटा जा सकता है उस एक ही दिनसे न केवल बहुत सारे महीने बनते हैं । बल्कि ढेर सारे साल भी बनते हैं और उन्हीं आवर्ती सालों में आदमी जीता है । बार बार डुबकी लगा कर अपने को गीला करते रहता है । उस का जीना तो एक ही दिन का जीना है - सुबह से शाम तक नहीं, बल्कि दिन और

रात से गुजर कर एक सुबह से चल कर दूसरी सुबह तक।

आदमी के केंद्र से एक दिन और सृष्टि के केंद्र से उसी दिन के अनेकों आवर्त। ऐसे बहुतेरे दिनों के जनम की कथा क्या बताना? क्योंकि बहुत्व है केवल कल्पना का संसार।

"दिन का नहीं है
कोई माँ-बाप
न कोई पत्नी-पुत्र..." (पृ.१४)

यह दिन जिसका किसी चीज से कोई अर्थपूर्ण ताल्लुक ही नहीं रहता। क्या क्या नहीं बनता इस एक दिन में? सभी बनता रहता है। इस एक दिन का आलेख ही तो मनुष्य के जीवन का इतिहास है। पुनः पुनः घटित होते रहते हुए उस का दिन इतना जटिल हो जाता है कि उसे पढ़ना मुश्किल-सा लगता है। एक ही शब्द को बार बार उसी के ऊपर लिखते रहने से शब्द मिट जाता है। लेकिन शब्द के आकार की गति उसके मुड़ाव के साथ हाथ का स्वभाव बन जाती है। हाथ का यही स्वभाव देख कर हम शब्द पढ़ते हैं, लेख को देख कर नहीं। जीवन का अर्थ लगाना होता है तो इसी तरीके से लगाना पड़ता है। पैदल चलते चलते पाँव किस तरह बढ़ते हैं यह देख कर ही यात्रा का पता लगता है। क्योंकि इतने सारे आदमी चल कर सड़क का पता क्या लगाया जाए? एक छोर है जन्म का और अंत का छोर है मृत्यु का। इस के बीच का फासला ही सड़क है और उसे चल कर कम करते रहना है।

"हर कण-कण में बसी है
एक यात्रा
जन्म से पुनर्जन्म तक की यात्रा
यानी सड़क
और हर यात्रा में है सुबह, दोपहर रात
यानी दिन।" (पृ.१६)

जीना क्या है? बस, चलना है। एक दिन में आदमी कितना चल पाता है?- खाली तीन कदम। तीन कदम चलने के बाद कुछ समय तो बच पाता है लेकिन कोई हौसला नहीं बचता; चौथा कदम चलने के बगैर आदमी सो जाता है। चौथे कदम का चलना तो वैसे सपने में ही पूरा हो जाता है। लेकिन उस चलने में सड़क वहीं की वहीं रह जाती है। आदमी भी वहीं का वहीं ठहर जाता है। रात के सारे व्यवहार भी उसके सपने में चौथा कदम चलना है। उस का विश्राम उसका चौथा कदम चलना है।

"मृत्यु घटना है
दुर्घटना है
भीर का ललौहा है
जहाँ से उगता है

नया सूरज..."

मृत्यु को जीना और पुनर्जन्म की ओर रुख लेकर जीना ही जीवन का चौथा कदम चलना है। मृत्यु को समझें बिना जीवन अधुरा है और जीवन के समझे बिना मृत्यु अधूरी है। यही मृत्यु नये जन्म का गर्भसंभव कराती है। नये सूरज को उगाने के लिए जगह बना देती है।

जब यह जीवन उभरता जाता है, जैसे, जैसे सड़क आगे बढती रहती है, उलझाव भी जटिल होते जाते हैं। इस जटिलता में कई गाँठें आ पड़ती हैं। उन्हीं में से एक गाँठ का नाम है इतिहास। जीवन का बढना एक संघर्ष है और वह कुटिल संघर्ष है। इसी से हर जगह कुरुक्षेत्र बनता है। गाँठें उलझती रहती है। इतिहास बनता है। यह इतिहास आदमी-आदमियों के बीच बनता रहता है। लेकिन आदमी के अंदर उस के मन में भी गाँठें उलझ जाती हैं। युद्ध छिड़ जाते हैं। संघर्ष अपनी कराल दाढ़ें खींचता रहता है।

"महाभारत
सिर्फ नहीं लड़ा जाता है, कुरुक्षेत्र में
मन के अंदर में भी
मचता है घमासान युद्ध
परकीया सौंदर्य
ललचाती है राक्षसी प्रवृत्तियों को।" (पृ. २०)

यह तो अपनेसे ही लड़ा अपना युद्ध है। मोहमाया के जाल में एक बार फँसने से गाँठें ही गाँठें उलझती रहती है और इतिहास बनता जाता है। लेकिन यह इतिहास पुरुषार्थ का नहीं होता। यह तो कामवासनादि विकारों की खातिर लड़ा आदमी का अपना इतिहास होता है। अपनी कमजोरियों के रास्ते पर अपने आप फिसल कर पड़ने का इतिहास होता है। अपने ही काम के आवर्त में आप ही धँस जाने का इतिहास है। यह इतिहास आत्मा की कसम का नहीं बल्कि बंधन का इतिहास है। क्या यही जीवन है? हर्गिज़ नहीं। इस नकार को सँजोए रखने वाली चेतना बंधन की विवशता को तोड़ कर आत्मा की उड़ान के लिए नये द्वार खोजती है। काम के कीचड़ में फँसी आत्मा का असली इतिहास वासना से लिप्त रहने में खत्म नहीं हो जाता, बल्कि मुक्ति का एक नया द्वार बनाने में वह शुरु हो जाता है। आदमी यह द्वार बना पाता है। यही है वह द्वार-कृष्ण। इस कृष्ण ने तो युद्ध लड़ना ही सिखाया है। लेकिन ऐसा युद्ध जो बंधन की विवशता नहीं, बल्कि मुक्ति का द्वार बनता है।

"कृष्ण ही परमात्मा है
जो शक्तिवान् करते हैं
इंद्रियों को
जिस से जीत सके युद्ध

मार सके
अपने ही भीतर की वासना। (पृ. २१)

डॉ. कार्तिकेय जी की विचार-धारा में आया यह मोड़ इस काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण मोड़ है। यह काव्य न केवल कल्पना का विलास है। बल्कि इस में विचार की गंभीरता भी है और उसी के आधार पर इस काव्य की गति अबाधित रहती है।

अपना जीवन जीते रहना याने अपने अस्तित्व को परखते रहना है। इस अस्तित्व पर जो विभिन्न तरंग से उठते रहते हैं, उनका विलोकन ही जीवन-पट को देखते रहना है। आदमी के केन्द्र से यह जीवन-पट चलता रहता है। लेकिन सृष्टि के केन्द्र से देखने पर इस में कुछ भी खासियत नज़र नहीं आती। वह एक बिन्दुमात्र रह जाता है।

"अस्तित्व तो रहता है,
ओझल हो सकता है
चमकता है, अपने केन्द्र में
नकारा नहीं जा सकता अस्तित्व_
हम ही डूब जाते हैं। अपनी उड़ान में
पकड़ में नहीं आता
कुछ भी
न ओर, न छोर। (पृ. २८)

इन दो केन्द्रों में जो मेल-जोल है या मेलजोल का अभाव है उसी के कारण जीवन को समझना या न-समझना बनता है। वैसे देखा जाए तो जीवन को समझना काफी मुश्किल है, शायद असंभव भी। लेकिन जीवन का सूत्र कहीं न कहीं अवश्य पाया जा सकता है। यही कारण है कि जीवन के दर्शन बनते जाते हैं; चलते जाते हैं। वे अनेक होते हैं, उन के बारे में सहमति एवं असहमति दोनों होती हैं। जीवन जीना याने मार्ग चलना, सड़क पर चलना। इस दृष्टि से भी समझा जाए तो एक बात स्पष्ट होती है कि चलने के दो अंश हैं-एक अचल सड़क और दूसरा गतिमान चलने वाला। सृष्टि के केन्द्र से देखने से इस सड़क की कोई लम्बाई नहीं होती है। फिर भी चलने वाले की गतिमानता तो रहती ही है। सड़क और पथिक इन दोनों के इस संघर्ष-सहयोग से यात्रा बनती जाती है। इस यात्रा में कुछ पड़ाव आते हैं। लेकिन क्या कभी इस यात्रा का कोई अंतिम पड़ाव होता है। यात्री की हैसियत से वह यात्रा का अंत है। लेकिन यात्रा का अपने में न कोई अंत है न आरंभ भी। इस बात को समझना जीवन को समझने का सबसे बड़ा सूत्र है। यात्रा है, यात्रा का आरंभ है, यात्रा में पड़ाव हैं और यात्रा का अंत है तथा यही यात्रा यात्री को कहीं ले भी जाती है। ये तो सभी मानने की बाते हैं। मानने से जो मिलता है क्या वह असल में कहीं होना (भी) है ?

"दिन-दिन ही होता है

सड़क-सड़क ही होती है
यात्राएँ
चाहे जहाँ से करें शुरू,
खतम होती ही है
किसी न किसी मुकाम पर
किसी न किसी हादसे के बाद ।" (पृ.४२)

लेकिन जवानी किसी इस बात को सोचती नहीं है । वह तो संघर्ष और युद्ध में ही रत रहती है । खून का खेलना सबसे खरतनाक होता है । वही आदमी के अहंकार को पुष्ट किये देता है, युद्ध छेडता है, पराजय की गर्त में पड़ जाता है और फिर भी मरता नहीं है

"जिन्दगी के इस मोड़ पर
आदमी चाहता है दौड़ना तेजी से
कि हरा दे समय को
और सूर्य के रथ को..." (पृ.४४)

ऐसे संघर्षों से धर्म बनता है । और धर्म से समाज का धारण होता है । फिर भी इस धर्म का आधार सत्य नहीं बल्कि संघर्ष ही होता है । इस युद्ध की कोई उपलब्धि नहीं होती है । इस दौरान और भी दिशाएँ आदमी को उकसाती हैं- अपनी-अपनी ओर यात्रा के रुख कर लेने के लिए । इस में एक दिशा है सत्य की, सद्गुरु की, ईश्वर की । इस दिशा में बढती यात्रा के पड़ाव कुछ और ही होते हैं ।

"सत्य गुरु है
जो अंगुली पकड़ कर
करता है पथप्रदर्शन....

सद्गुरु हो तो असफलताएँ नहीं आती हैं पास क्योंकि वह जानता है

काल के भाल पर लिखि बात
कि क्या होगा क्रमवार ।" (पृ.३५)

यह भी अपने में एक यात्रा है । यात्रा गुजरती है सड़क से और समय से । क्या संबंध है इन दोनों में ? यह सवाल तो हर मोड़ पर उठता है और जवाब के तौर पर अपना नया मुख दिखा कर लुप्त भी हो जाता है । सड़क और दिन साथ है । और उन के बीच आदमी है अपना जीवन गुजारता हुआ । उस के पाँवों तले है सड़क और संवेदना को गुजरने के लिए समय याने दिन । इन दोनों के बीच गुजरते हुए जो होता है वही जीवन है, उसी को समझना है, उसी को चित्रित करना है । सड़क और समय इन दोनों को बाँधता है आदमी याने उसका जीवन, सड़क और समय में यही संबंध है । फिर भी वे दोनों हमेशा एक दूसरे के साथ हैं । आदमी के कारण ही एक का दूसरे के लिए मतलब हो पाता है, अन्यथा एक दूसरे के संवेदन के बिना ही वे एक

दूसरे के साथ हैं । जीवन में भी यही बात होती है । बहुत सी चीजें एक दूसरे के साथ होती हैं। लेकिन उनको जोड़ने वाले किसी पुर्जे के बिना उन दोनों में संवाद नहीं हो पाता है । एक का दूसरे के लिए अर्थ होने के लिए उन दोनों को दो छोरों से एक साथ पकड़ कर रखने वाला कोई चाहिए । दिन के जो टुकड़े अलग अलग बँटते हैं उन को भी एक साथ जोड़ा जाता है । दिन के दो महत्त्वपूर्ण पहलू उस के दो टुकड़े हैं- दिन और रात । उन के छोरों को एक साथ पकड़ रखने वाली सँधिवेला है साँझ । इस साँझ को समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है । यही साँझ दिन और रात इन विभिन्न पहलुओं को एक दूसरे के लिए मतलब जता देती है ।

साँझ के समय दिन की रोशनी मिटती जाती है और रात का अँधेरा बढ़ता जाता है। बिना कोई दीप जलाए इस साँझ को देखा नहीं जाता, चाहे बाहर देखना हो या अंदर ।

"दीपावली के दीपक जलते हैं,
उसी में है देवता की चेतना
वही है समय ।" (पृ.५२)

डॉ.कार्तिकेय जी की ये पंक्तियाँ अंदर और बाहर दोनों ओर प्रकाश देने वाले देहली पर रखे दीप का संकेत कर जाती हैं ।

"चाहे कोई भी रहा हो
युगपुरुष
कोई भी क्या बाँध पाया समय
रोक पाया सूर्य का रथ," (पृ.५३)

क्यों कि इसी साँझ की वेला में दिन अपना एक रूप बदल कर दूसरे पहलू में उभर आता है ।

"साँझ
जीवन के एक दौर के बाद
विश्राम की घंटी है,
ऊर्जा विस्तार के बाद
उर्जरित होने का क्षण ।" (पृ.५३)

इसी साँझ के कर्तृत्व को कवि यहाँ बहुत ही काव्यपूर्ण रूप में पुनः एक बार प्रस्तुत करता है-

"साँझ सुन्दरी है
जो आकाश से मेनका की तरह
उतरती है
धीरे धीरे
और बूढ़े तपस्वियों को

अपने सौंदर्य की लौ में बाँध
बना देती है गृहस्थ।" (पृ.५४)

फिर भी इस साँझ पर नियंत्रण पाना बहुत ही मुश्किल है।

"साँझ एक सुनहरी मछली सी
हाथ में आ फिसलती है" (पृ.५५)

पकड़ में आते आते हाथ से चली जाने वाली साँझ होती है बहुत गहरी, फिर भी उतनी ही सँकरी। उसे देखते देखते ही वह निकल जाती है और दिन के दूसरे गाढ़े पहलू के अमल में हम चले जाते हैं। दिन की अपेक्षा रात्रि निश्चल मानी जाती है। लेकिन असल में बात कुछ और ही होती है। रात्रि के काले और विपरीत बर्ताव जीवन के काले पहलू दिखा जाते हैं। वे कितने ही काले क्यों न हों। वह भी दिन की सच्चाई है। जो कुछ उथल-पुथल जीवन में मचली है उस के सारे कारोबार रात ही के तो होते हैं।

रात के हृदय में चलते रहते हैं ऊहापोह
मूल्यों का संकट
मूल्य ही बनाते हैं
राम को पुरुषोत्तम
कृष्ण को प्रभु
मूल्य ही बनाते हैं (पृ.५९)

इस रात्रि में बहुत कुछ बनता है और बहुत कुछ बिगड़ता भी। अंधकार की अपनी आँखें होती हैं जो दिन को नहीं देख पाती, बल्कि उगते दिन को बनाती वही हैं। उसी समय नये बीज बोये जाते हैं। दिन में होता है शब्दों का व्यवहार। लेकिन थक कर वह विश्राम कर लेता है रात्रि में। विश्राम का अर्थ गति की कुंठा नहीं, गति का परिवर्तन है। थका हुआ शब्द-संसार रात में जब विश्राम करता है तब काया की अपनी भाषा अपना संसार रचने लगती है। रात्रिकाल न केवल विश्राम के लिए अवधि है बल्कि वह क्रीड़ा की बेला है और उस क्रीड़ा का फल केवल आनंद ही नहीं, बल्कि सृजन एवं नवनिर्मिति के बीज बोने का अवसर भी है। क्यों कि उस क्रीड़ा का माध्यम है काया। मध्यरात्रि यात्री के लिए अपना समय है जब यात्री अपनेपन से प्रेरित होकर क्रीड़ा में शरीफ होता है और अन्ततः अपनेपन को क्रीड़ा में समर्पित करके आनंद पाता है। उस के समर्पण का ही फल है सृजन एवं नवनिर्मिति के अंकुरों के उन्मेष के लिए बीजारोपण।

रात को तय होता है
हर कारखाने का संतति विस्तार
या विग्रह
निर्माण में नियंत्रण है मूल्य का,

उत्पादन में नियंत्रण है माँग का,
जन्म में नियंत्रण है चाह का (पृ.६३)

जो कुछ जुटाया जाता है, समाया जाता है वह रात्रि में ही हो जाता है। और दिन उभरते उभरते उन्मेष फूटने लगते हैं। कलियाँ खिलने लगती हैं और अभिव्यक्ति साकार होने लगती है। उषःकाल उन फूटते हुए अंकुरों का दर्शन है।

लेकिन यहाँ कवि रात्रि के बाद उषःकाल की ओर नहीं बढता है। वह जाता है एक दूसरी ही संधिवेला की खोज में। यह संधिवेला साधारण रूप में प्राप्त नहीं है। लेकिन कवि की प्रतिभा इसे पकड़ कर ही रहती है। यह संधिवेला है मध्यरात्रि। दिन के इस टुकड़े के निमित्त कवि ने यहाँ कुछ गूढ संकेतों के सहारे जीवन के रहस्यमय अर्थ को भी हमारे सामने प्रस्तुत किया है। आदमी का जीवन केवल शब्द और काया के स्तर पर किया व्यवहार नहीं है। उसी आत्मा का भी कोई मापन होता है और उसी मापन को यहाँ लिया गया है। आदमी के अंदर सुप्त चेतनाशक्ति की जागृति और उस की यात्रा यह अनंत की यात्रा है। वह आदमी के जीवन का मुख्य अर्थ है। कुंडलिनी शक्ति का जग जाना, सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में अपने को विलीन कर लेना यही जीवन है। इस जीवन का दूसरा रूप है शिव और शक्ति के द्वन्द्व-एकात्म में। असल में मनुष्य का जीवन और सारी सृष्टि इसी शक्ति की यात्रा से बनते हैं। यह ईश्वर के लिए तो क्रीड़ा ही है। क्रीड़ा और उन्मेषों में है साधना का अवकाश। इस अवकाश में जो घटता है उस के बारे में तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यह क्रीड़ा-रात्रिक्रीड़ा तो यात्री का निजी जीवन है। फिर भी उस के रंग उठते हैं, कहे जा सकते हैं। क्रीड़ा के बाद घटने वाली साधना किसी भी शब्दों के परे ही होती है। उस साधना के क्षण सरस्वति जैसे गुप्तरूपेण प्रवाहित होते हैं।

शक्ति की सीमा है प्रकृति_
वही तो नचाती है_
वही तो बहाती है_
उसी के अधरों पर आनंद है
सृष्टि है_(पृ.७४)

तब आता है उषःकाल, उगता है नया दिन यहाँ एक दिन की परिक्रमा पूरी होती है।

"उषा जन्मान्तरण है
दिन का जन्मान्तरण
सडक का जन्मान्तरण" (पृ.७७)

इसी तरह एक के बाद एक दिन और एक के बाद एक जीवन बनता जाता है। संधिवेला में मिट कर, रात्रि में बीज सँजोए उषःकाल में वह फिर उभर आता है। यह भी यात्रा है समय की। इस यात्रा का कोई अन्त नहीं

"खतम नहीं होती
कभी
यह अनवरत प्रवाही यात्रा।" (पृ.७८)

जीवन का अर्थ समझते समझते हम यहाँ विराम कर लेते हैं। दो आवर्तों के बीच यह संधिवेला है जहाँ विराम लेकर हम आवर्त को समझ लेते हैं। और जीवन को इस काव्य के प्रारूप से, काव्य की भाषा से और काव्य की शैली से समझने का एक बहुत ही अच्छा प्रयास डॉ. महेन्द्र कार्तिकेय जी ने यहाँ यशस्वी रूप से कर के दिखाया है। इस प्रयास में काव्य की सहजता होने के कारण उनका पारदर्शी दर्शन समझना पाठक के लिए आसान बनता है। गहन विचारों के गर्त में उलझे बिना काव्य की कोमलता को कायम रख कर कार्तिकेय जी अपने काव्य-प्रयास में सफल हुए हैं। यही प्रस्तुत काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। *

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७

सुरेन्द्र बारलिंगे
सुभाषचन्द्र भेलके

* कार्तिकेय, (डॉ.) महेन्द्र;
सड़क पर दिन,

♣ ♣ ♣

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२२६. **डॉ. र. ना. वरखेडे**
संचालक,
का. स. वाणी मराठी प्रगत
अध्ययन संस्था
उन्नतिनगर
देवपुर
धुळे - ४२४००२

२२७. **साध्वी डॉ. ज्ञानप्रभा**
द्वारा, जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
आनन्द ऋषिजी मार्ग
अहमदनगर - ४१४००१

२२८. **डॉ. सुधा सोनी**
प्रवक्ती, दर्शनशास्त्र विभाग
क्वार्टर नं. A/२
जैन विश्वभारती
लाडनूं - ३४१ ३०६
(राजस्थान)

२२९. **डॉ. मुकुल राज मेहता**
'संकल्प'
महामनापुरी
वाराणसी - २२१ ००५
(उ. प्र.)

२३०. **मुनि श्री. नवीनचन्द्र**
द्वारा, देविन्दर कुमार
घर क्रमांक B/IV । ९०३
वेत गंज, लाल मसजिद
लुधियाना - १४१ ००८
(पंजाब)

♣ ♣ ♣

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२२)

विषयिता

पिछले लेख में विषयिता की चर्चा की गयी थी और कहा गया था कि विषयिता प्रकारिता, संसर्गिता तथा विशेष्यिता भेद से तीन प्रकार की होती है। जिस प्रकार विषयिता विषयता से निरूपित होती है उसी प्रकार प्रकारिता भी प्रकारता से निरूपित होती है। प्रकारिता प्रकारी में रहने वाला सम्बन्धात्मक धर्म है। ज्ञान, इच्छा आदि सप्रकारक होते हैं। अतः उन्हें प्रकारी कहा जाता है। प्रकार और प्रकारी इन में होने वाला सम्बन्ध प्रकारिता है।[१]

"पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान में पर्वत विशेष्य, और अग्नि प्रकार होता है, तथा उक्त ज्ञान प्रकारी होता है। अतः उसमें प्रकारिता रहती है। अतः 'प्रकार'-रूप विषय का ज्ञान के साथ होने वाला सम्बन्ध प्रकारिता कहलाता है।

नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान जैसे विषय से सम्बन्धित होता है वैसे विषय भी ज्ञान से सम्वन्धित होता है। अतः ज्ञान का सम्बन्ध विषय में विषयता-रूप होता है, तो विषय का सम्बन्ध ज्ञान के साथ विषयिता-रूप होता है। अतः एक ही ज्ञान में प्रकारिता, विशेष्यिता तथा संसर्गिता तीनों भी होती हैं। जैसे, "पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान के तीन विषय होते हैं-पर्वत, अग्नि तथा उन दोनों का सम्बन्ध। पर्वत में जो विषयता है वह विशेष्यता-रूप है, अग्नि में जो विषयता है वह प्रकारता-रूप है, तथा अग्नि और पर्वत के बीच में होने वाले सम्बन्ध की जो विषयता है वह संसर्गता-रूप है। परन्तु उक्त तीन ही विषयताओं से निरूपित तीन अलग-अलग विषयितायें उक्त एक ही ज्ञान में हैं। "पर्वत अग्निमान् है" इस ज्ञान में अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित प्रकारिता है, पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता है, तथा पर्वत और अग्नि के बीच में होने वाले संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता से निरूपित संसर्गिता भी है।

न्यायसिद्धान्तमञ्जरी के टीकाकार ने "अयं घटः" यह ज्ञान होने पर घटत्व में रहने वाली प्रकारता को ही ज्ञाननिष्ठ प्रकारिता कहा है।[२] वे ज्ञान में रहने वाली विषयिता को ही प्रकारिता मानते हैं तथा प्रकारिता को विषयिता का एक भेद भी मानते हैं। उनके मत से घट-ज्ञान में रहने वाली प्रकारता घट-ज्ञान का विषय घटत्व आदि से निरूपित होती है।

ज्ञान में रहने वाली विषयिता सर्वदा प्रकारिता-रूप नहीं होती है यह हम पूर्व में बतला चुके हैं। ज्ञान में विशेष्यिता और संसर्गिता भी होती है जो प्रकारिता-रूप नहीं होती। अतः यादवाचार्य का यह कथन कि ज्ञान-निष्ठ प्रकारिता ही विषयिता है समीचीन नहीं है।

यादवाचार्य ने जो यह कहा कि घटत्व में रहने वाली प्रकारता ही ज्ञान-निष्ठ प्रकारिता है इसमें उनका अभिप्राय यह लगता है कि प्रकारता जो कि घटत्व में स्वरूप सम्बन्ध से रहती है वही प्रकारता ज्ञान में निरूपकत्व सम्बन्ध से रहती है। घट-ज्ञान घटत्व में रहने वाली प्रकारता का निरूपक होता है। अतः घटत्व में रहने वाली प्रकारता का और घट-ज्ञान का निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है और इसलिये घटत्व में रहने वाली प्रकारता निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहती है तो उसे ही प्रकारिता कहा जाता है। यद्यपि यादवाचार्य ने प्रकारिता को ज्ञान-निष्ठ कहा है, तथापि ज्ञान यह पद उपलक्षण है। ज्ञान पद से इच्छा, कृति द्वेष इत्यादि सभी सविषयक गुण ग्रहण करने चाहिये। घट-ज्ञान में ज्ञान प्रकारी है तथा घटेच्छा में इच्छा प्रकारी है। उसी प्रकार शत्रु-विषयक द्वेष में द्वेष प्रकारी है।

ज्ञान, इच्छा आदि उस ज्ञान के विषय में रहने वाली विषयता के निरूपक होने से विषयता (प्रकारता) में निरूप्यता आती है, तथा ज्ञान, इच्छा आदि में निरूपकता आती है। प्रकारता चूंकि प्रकार के ज्ञान से निरूपित होती है इसलिये ज्ञान प्रकारता का निरूपक होता है। अतः प्रकार में रहने वाली प्रकारता निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहती है। निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहने वाली उक्त प्रकारता को प्रकारिता कहा जाता है ऐसा यादवाचार्य का मत है। परन्तु अन्य नैयायिक प्रकारता और प्रकारिता में निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार करने पर भी प्रकारता से निरूपित प्रकारिता को प्रकारता से भिन्न पदार्थ ही स्वीकार करते हैं। निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में रहने वाली प्रकारता उसी ज्ञान में स्वरूप सम्बन्ध से रहने वाली प्रकारिता से भिन्न है। स्वरूप सम्बन्ध से प्रकार में रहने वाली प्रकारता से भिन्न सिद्ध करने के लिये ही उसे प्रकारिता यह संज्ञा दी गयी है। प्रकारिता भी प्रकारता, प्रतियोगिता आदि के समान स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष ही है। कुछ लोग प्रकारता की तरह ही प्रकारिता को भी स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। [३]

जो लोग प्रकारिता को स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष ही मानते हैं उनके अनुसार प्रकारिता ज्ञान, इच्छा, कृति इत्यादि-स्वरूप ही है, जो कि स्वरूप-सम्बन्ध से उनमें रहती है।

यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि प्रकारिता अपने आश्रय ज्ञान, इच्छा, कृति आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रहती है तो वह स्वरूप-सम्बन्ध कैसे हो सकती है ? कोई भी वस्तु उसी सम्बन्ध-रूप हो कर उसी सम्बन्ध से किसी भी स्थान में कैसे रह सकती है ? जो लोग प्रकारिता को अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार करते हैं उनके मत में यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता है, क्योंकि प्रकारिता जो कि अतिरिक्त पदार्थ है वह अपने आश्रय ज्ञान, इच्छा आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रह सकती है। जैसे, घटाभाव भूतल पर स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, या समवाय सम्बन्ध अपने आश्रय द्रव्य, गुण आदि में स्वरूप-सम्बन्ध से रहता है। परन्तु प्रकारिता को स्वरूप-सम्बन्ध मानने वालों के मत में यह प्रश्न रहता ही है। क्योंकि कोई भी वस्तु, जो कि विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, उसी सम्बन्ध से अपने आश्रय में नहीं रहती है यह बात

अनुभव-सिद्ध है। जैसे, अग्नि का पर्वत के साथ होने वाला संयोग संयोग सम्बन्ध से नहीं होता, या घटत्व का घट के साथ होने वाला समवाय उसी समवाय सम्बन्ध से नहीं होता है; वह स्वरूप-सम्बन्ध से ही होता है।

यहाँ नैयायिकों का यह कथन है कि संयोग या समवाय के विषय में भले ही यह हो कि संयोग या समवाय उसी सम्बन्ध से अपने आश्रय में नहीं रहते हैं। परन्तु स्वरूप सम्बन्ध के विषय में यह नियम लागू नहीं है। स्वरूप-सम्बन्ध का अलग स्वरूप-सम्बन्ध या अन्य कोई सम्वन्ध मानने से अनवस्था उत्पन्न होगी। प्रथम स्वरूप-सम्बन्ध का द्वितीय स्वरूप-सम्बन्ध, उसका फिर तृतीय इस प्रकार अनवस्था होगी। उसी अनवस्था दोष से बचने के लिये नैयायिक स्वरूप-सम्बन्ध का कोई दूसरा स्वरूप-सम्बन्ध नहीं मानते। प्रथम स्वरूप-सम्बन्ध प्रथम ही स्वरूप-सम्बन्ध से अपने आश्रय में रहता है ऐसा स्वीकार करते हैं।

जानकीनाथ भट्टाचार्य का मत है कि पदार्थों में अभेद होने पर भी आधार-आधेय-भाव होता है। जैसे, घटाभाव की स्थिति में 'घटो नास्ति' यह प्रतिति होती है। यह घटाभाव आधार-रूप और 'घटो नास्ति' इस प्रतीति से सिद्ध घटाभाव एक ही है। [४] इसका अर्थ यह है कि आधार-आधेय-भाव होने में आधार और आधेय का ऐक्य बाधक नहीं है। यादवाचार्य ने भी अन्य उदाहरण के द्वारा भट्टाचार्य जी के ही मत का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि घटाभावे घटाभावः यह एक उपलक्षण है। ऐसे कई उदाहरण हो सकते हैं, जैसे-प्रमेयत्वे प्रमेयत्वम्। प्रमेयत्व पदार्थ भी प्रमेय है, क्योंकि वस्तुमात्र ही प्रमेय है। अतः प्रमेयत्वरूप प्रमेय में प्रमेयत्व होने में कोई बाधा नहीं है। प्रमेयत्वरूप प्रमेय में रहनेवाला प्रमेयत्व, आश्रय-रूप प्रमेयत्व से भिन्न नहीं है। [५]

उसी प्रकार प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध में प्रकारिताप्रतियोगिकत्व और ज्ञानानुयोगिकत्व रह सकता है। कोई भी सम्बन्ध द्विष्ठ होने से उसका एक सम्बन्धी प्रतियोगी और दूसरा सम्बन्धी अनुयोगी होता है यह बात पहले ही कई बार बतलायी जा चुकी है। प्रतियोगिकत्व का अर्थ है प्रतियोगिवृत्तित्व, और अनुयोगिकत्व का अर्थ है अनुयोगिवृत्तित्व। इस प्रकार प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध स्वरूप प्रतियोगि में वृत्ति होने में तथा अनुयोगि में वृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है। जब पदार्थों में ऐक्य होने पर भी आधार-आधेय-भाव में कोई वाधा नहीं है तो सम्बन्ध और सम्बन्धी में भी अभेद होने पर सम्बन्ध-सम्बधिभाव होने में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। प्रकारिता-रूप स्वरूप-सम्बन्ध-रूप सम्वन्धी और उसका स्वरूप-सम्बन्ध एक ही होने पर भी उनमें सम्बन्ध-सम्बन्धि-भाव माना जा सकता है।

कुछ नैयायिक प्रकार-रूप विषय का ज्ञान के साथ होने वाले सम्बन्ध को प्रकारिता कहते हैं। परन्तु कुछ प्राचीन नव्य-नैयायिक प्रकारिता को सम्बन्ध नहीं मानते हैं। उनके अनुसार विशिष्ट-बुद्धि का नियामक जो हो वही सम्बन्ध है। जिस सम्बन्ध से विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं

होता है वह सम्बन्ध ही नहीं है।[६] उनका मत है कि जहाँ सम्बन्धत्व हो वहाँ उससे विशिष्ट-बुद्धि अवश्य उत्पन्न होती है और वह 'मत्वर्थक' शब्द से द्योतित होती है। जैसे, रूपवान् घटः, वह्निमान् पर्वतः इत्यादि। वह्निमान् ज्ञान है, या वह्निमान् अभाव है ऐसा प्रामाणिक अभिलाप नहीं है। अतः विषयिता (प्रकारिता), प्रतियोगिता आदि सम्बन्ध नहीं हैं। 'वह्निं जानामि' (अग्नि को जानता हूँ), वह्निर्नास्ति (अग्नि नहीं है) इस प्रकार के अभिलाप सर्वजन विश्रुत हैं। इससे विषयिता और प्रतियोगिता का सम्बन्ध तथा 'घटो नास्ति' यहाँ पर घट पद के बाद प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति का अर्थ सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान और अभाव के प्रत्यक्ष में ज्ञान में रहने वाली विषयिता (प्रकारिता) तथा अभाव की प्रतियोगिता प्रकार के रूप में ही प्रतीत होती है, सम्बन्ध के रूप में नहीं।

परन्तु यह मत सभी नैयायिकों को मान्य नहीं है। इसीलिये आचार्य जगदीश ने 'प्राचां' पद के द्वारा उसकी अनवसरता प्रदर्शित की है। उनका आशय यह है कि विषयित्व और प्रतियोगित्व के प्रकार के रूप में उपस्थिति (ज्ञान) न होने से विषय-विशिष्ट-ज्ञान (जैसे-घट-ज्ञान) से प्रतियोगि-विशिष्ट-अभावप्रत्यक्ष (जैसे-घटो नास्ति) नहीं उत्पन्न होना चाहिये, जबकि प्रामाणिक अनुभव है कि प्रतियोगित्व और विषयत्व के प्रकार के रूप में ज्ञान न होने पर भी विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है।

प्रकारिता यह सम्बन्ध अन्य संयोग, समवायादि सम्बन्धों से विलक्षण सम्बन्ध है। संयोग आदि सम्बन्धों में एक प्रतियोगिकत्व और अपरानुयोगिकत्व रहता है। यही कारण है कि पर्वत और अग्नि तथा पर्वत और धूम इन दोनों का संयोग होने पर भी वह संयोग एक नहीं है। अग्नि-प्रतियोगिक संयोग अलग है, और धूम-प्रतियोगिक संयोग अलग है। एक ही संयोग में उभय प्रतियोगिकत्व नहीं रहता है। परन्तु यह बात प्रकारिता सम्बन्ध के साथ नहीं लागू होती है। प्रकारिता सम्बन्ध अग्नि और धूम का एक ही हो सकता है। अतः अग्नि और धूम उभयत्व से अवच्छिन्न-प्रतियोगिक सम्बन्धत्व प्रकारिता-रूप सम्बन्ध में होने में कोई बाधा नहीं है।[७]

अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता, संसर्गता तथा विशेष्यिता में परस्पर क्या सम्बन्ध है? इस विषय में नैयायिकों में परस्पर मतभेद है। इस विषय में कई मत उपलब्ध होते हैं। जगदीश आदि कुछ नैयायिक जिस प्रकार एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता-रूप विषयताओं में अभेद मानते हैं,[८] उसी प्रकार एक ही ज्ञान में रहनेवाली विशेष्यिता, प्रकारितादि-रूप विषयिताओं में भी अभेद मानते हैं। उनके मतानुसार ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता उसी में रहने वाली विशेष्यिता से भिन्न नहीं है। प्रकारिता को विशेष्यिता से भिन्न या विशेष्यिता को प्रकारिता से भिन्न मानने में कोई प्रमाण नहीं है, तथा एक ही स्थान में रहने वाली समानाधिकरण विषयिताओं को एक मानने में कल्पना-लाघव भी है।

दूसरा मत गदाधर भट्टाचार्यादि नैयायिकों का है। उनके मतानुसार एक ही वस्तु में रहने वाली विषयता और प्रकारता, विशेष्यता आदि में जिस प्रकार अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है, उसी प्रकार एक ही ज्ञान में रहने वाली विषयिताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है।[९] अर्थात्, 'पर्वतो वह्निमान्' इस ज्ञान में रहने वाली विशेष्यिता अवच्छिन्न होती है। अतः विशेष्यिता में अवच्छेद्यता तथा प्रकारिता में अवच्छेदकता होती है। जिन विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उन विषयताओं से भिन्न विषयिताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव का नियम है। 'पर्वत अग्निमान् है, इस ज्ञान की पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से, निरूपित अग्नि में रहने वाली प्रकारता होती है। अतः अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता, तथा पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव है। प्रकारिता से अवच्छिन्न विशेष्यिता तथा विशेष्यिता से अवच्छिन्न प्रकारिता होती है।

तृतीय मत के अनुसार विशेष्यता और प्रकारता में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।[१०] ये लोग जिस प्रकार एक वस्तु में रहने वाली प्रकारता को विशेष्यता से भिन्न मानते हैं, वैसे ही एक ही ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता और विशेष्यिता भी भिन्न हैं तथा उनमें भी प्रकारता और विशेष्यता के समान परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है ऐसा स्वीकार करते हैं। 'पर्वत अग्निमान् है' इस ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता जैसे अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, उसी प्रकार पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता से भी निरूपित होती है।

अन्य कुछ नैयायिक प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार कर के भी उन विषयताओं (प्रकारता, विशेष्यता) से निरूपित विषयिताओं (प्रकारिता और विशेष्यिता) में नियम से अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव ही स्वीकार करते हैं।[११] अर्थात्, जिस तरह प्रकारता से निरूपित प्रकारिता से उसी ज्ञान में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता अवच्छिन्न होती है, उसी तरह विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता से उक्त ज्ञान में रहने वाली प्रकारिता भी अवच्छिन्न होती है।

उपर्युक्त मतों को निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है–

'पर्वत अग्निमान है'

अग्नि – प्रकारता → निरूपित प्रकारिता
संयोग – संसर्गता → निरूपित संसर्गिता
– विशेष्यता → निरूपित विशेष्यिता
पर्वत ज्ञान

(आकृति - १)

अग्नि	प्रकारता	निरूप्यता	निरूपकता
संयोग	संसर्गता	निरूप्यता	निरूपकता
पर्वत	विशेष्यता	निरूप्यता	निरूपकता

ज्ञान

(आकृति - २)

प्रकारिता = संसर्गिता = विशेष्यिता

अभेद | अभेद (ऐक्य)

ज्ञान

(आकृति - ३) (जगदीश मत)

प्रकारिता संसर्गिता विशेष्यिता

ज्ञान

प्रकारिता → अवच्छिन्न → विशेष्यिता

विशेष्यिता → अवच्छिन्न → प्रकारिता

प्रकारिता → अवच्छिन्न → संसर्गिता

विशेष्यता ← अवच्छिन्न ← संसर्गिता

(आकृति - ४) (गदाधर मत)

प्रकारिता संसर्गता विशेष्यिता

ज्ञान

विशेष्यिता → निरूपित → प्रकारिता

विशेष्यिता → निरूपित → संसर्गिता
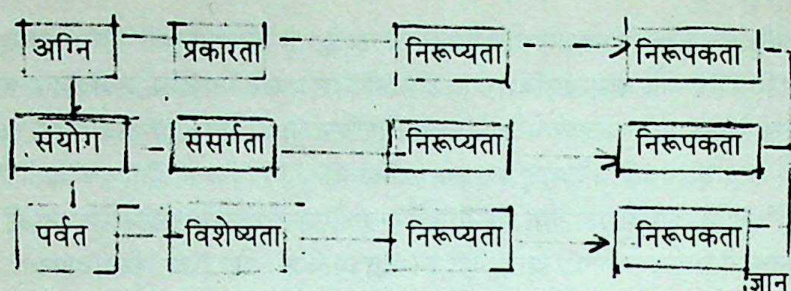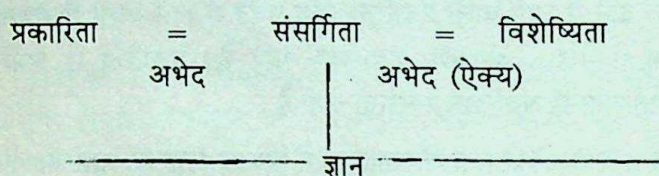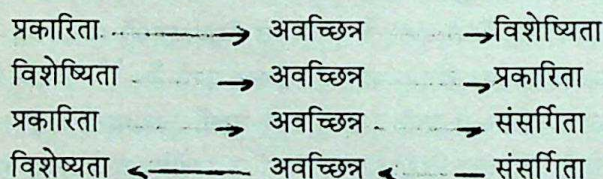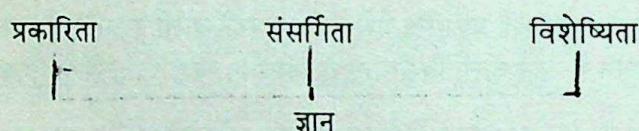
प्रकारिता ← निरूपित ←
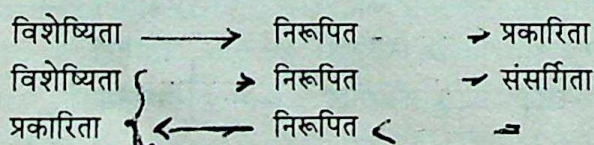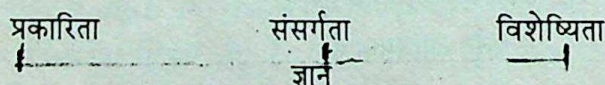
(आकृति - ५) (अन्य मत)

इसके पश्चात् अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस प्रकार प्रकारता धर्म और सम्बन्ध से नियमित होती है, तो क्या उसी प्रकार प्रकारिता आदि भी सम्बन्ध और धर्म से नियमित होती हैं ? इसके विषय में अग्रिम लेख में विचार किया जायगा ।

दर्शन विभाग **बलिराम शुक्ल**
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११ ००७

टिप्पणियाँ

१) उमानाथ उपाध्याय; प्रकाराख्य विषयस्य ज्ञाने सम्बन्धः । व्याप्तिपञ्चकमाथुरी, प्रकारिता टिप्पणी ।

२) यादवाचार्य; या घटत्वनिष्ठा प्रकारता सा ज्ञाननिष्ठा प्रकारिता । न्यायसिद्धान्तमञ्जरी व्याख्या ।

३) (अ) रघुनाथ; विषयतातत्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्वतत्त्व सम्बन्धत्वादयोऽप्यतिरिक्ता एव पदार्था इत्येकदेशिनः । दीधिती, सिद्धान्तलक्षणे ।

(ब) जगदीश; आदिना प्रकारित्व परिग्रहः । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे ।

४) जानकीनाथ; घटाभावे घटो नास्तीति प्रतीतिरभेदेऽपि त्वयाङ्गीकारात् । न्यायसिद्धान्तमञ्जर्या ।

५) यादवाचार्य; इदमुपलक्षणं प्रमेयत्वे प्रमेयत्वम् । न्यायसिद्धान्तमञ्जरी व्याख्यायाम् ।

६) जगदीश; प्राचांमते प्रकारित्वादौ सम्बन्धत्वाभावात्, विशिष्टधीनियामकस्यैव तथात्वादिति । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे ।

७) न च वह्निधूमोभयत्वावच्छिन्नप्रकारित्वादावेव तादृशोभयावच्छिन्न प्रतियोगिसम्बन्धत्वसिद्धिसम्भवः । **वहीं** ।

८) गदाधर; केचित्तु एकविशेष्यतापन्नस्य यत्रापरांशे प्रकारता तन्निरूपित प्रकारताविशेष्यतयोरभेदः । गादाधरी, अनुमितिप्रकरणे ।

९) भट्टाचार्यमते समानाधिकरणविषयतोर्नाभेदः, किन्तु अवच्छेद्यावच्छेदकभाव इति । **वहीं** ।

१०) रामरुद्र; एकनिष्ठैकज्ञानीय प्रकारताविशेष्यतयोर्भेदवादिमते निरूप्यनिरूपकभाववत् । रामरुद्री, हेत्वाभासप्रकरणे ।

११) शिवदत्त मिश्र; यादृश विषयतयोर्निरूप्यनिरूपकभावः तादृश विषयतानिरूपित विषयितयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावनियमेन_ । सामान्यनिरुक्तिटिप्पण्याम् ।

♣ ♣ ♣

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (cds) Contemporary Philosophical **Problems** : Some Classical Indian Perspectives, Rs. 10/-

S. V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A.M. Ghose and P. K. Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M.P. Marathe, Meena A. Kelkar and P. P. Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact : 'The Editor,
Indian Philosophical Quarterly,
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

चित्रकला की कुछ चुनौतियाँ

किसी भी चित्र का स्वरूप कैसा हो इसके बारे में हमारी कुछ साधारण-सी धारणाएँ हैं और अनेकों पीढियों से ऐसी धारणाएँ हम सँजोते आये हैं। इन धारणाओं में प्रायः भोलापन ही दिखाई देता रहा है। इसमें एक धारणा यह भी है कि किसी भी चित्र का विषय सुंदर या आँखों के लिए सुहावना होना चाहिए। इसलिए सुंदर स्त्री, जलप्रपात, हरे वृक्ष, रंगीन सूर्यास्त ऐसे दृश्यों के चित्रों का बोलबाला रहता है। चित्र उतारने के विषय में सामान्य आदमी इस से अधिक गंभीरता से सोचना भी नहीं चाहता है। असल में किसी भी कला के संदर्भ में हमारा ध्यान आकृष्ट करने वाले कुछ मौलिक एवं दार्शनिक प्रश्न होते हैं। उन प्रश्नों पर सोचने से उस कला को समझने में कुछ अलग ही भूमिका भी हमें प्राप्त हो जाती है। चित्र कैसा हो? अच्छा चित्र कौन सा होता है? बिगड़ा हुआ चित्र कौन सा है और सफल चित्र कौन सा है? चित्र किस तरह पूरा होता है? और किस तरह कोई चित्र बिगड़ जाता है? इस तरह के सवाल सौंदर्यशास्त्र में उठते रहते हैं। पश्चिमी दार्शनिक परंपरा के मुताबिक सौंदर्यशास्त्र यह दर्शनशास्त्र का एक विभाग बनता है। और दर्शनशास्त्र में उठने वाले प्रश्नों की तुलना तो विक्रम और बेताल की कथाओं से ही की जा सकती है। क्योंकि दर्शनशास्त्र में किसी एक समस्या का हल निकालने से वह समस्या सुलझती नहीं है, बल्कि उस से निकलने वाला और कोई सवाल भूत बन कर हम पर सवार हो जाता है। विक्रम और बेताल की कहानियाँ जेसे मन लुभा लेने वाली हैं, ठीक उसी तरह दर्शनशास्त्र में शुरू होने वाली अंतहीन प्रश्नमाला हमें मोह लेती है। फिर क्यों न हम सौंदर्यशास्त्र से कुछ ऐसे प्रश्न उठाएँ जिन से सौंदर्य के बारे में हम कुछ और जान सकें?

हम पहला सवाल यही उठाते हैं कि चित्र कैसा हो? प्रायः इस सवाल पर कोई सोचता ही नही हैं। क्या मतलब है इस सवाल का? जिस वस्तु का चित्र है, ठीक उसी वस्तु के मुताबिक वह चित्र होना चाहिए। इस के सिवा चित्रकला और होती भी क्या है। जिसे हम देखते हैं ठीक उसी तरह कागज़ पर उतार लेना यही चित्रकला है। जिस नज़ारे को हम देखते हैं, ठीक उसी तरह चित्र होना चाहिए। याने वह एक प्रतिकृति है। अगर किसी फूल का चित्र है तो वह ठीक-ठीक इस तरह फूल जैसा हो कि तितली भी गलती कर ले और समझे कि यह असल में फूल ही है। ऐसा होने से मानते हैं कि चित्र पूरा हो गया। इस सिद्धांत को न केवल सामान्य जनों ने ही स्वीकृति दे रखी थी बल्कि बहुतेरे प्राचीन दार्शनिकों ने भी इस सिद्धान्त की अगुवाई की थी। यह सिद्धान्त उतना सरल नहीं है जितना की वह आपाततः लगता है। यह सिद्धांत मानना याने फिसलभरी राह से चलना है, क्यों कि इस सिद्धान्त के पीछे एक मौलिक सवाल

है– जिसे हम विश्व कह कर पुकारते हैं वह वास्तव में है किस तरह का ? शायद आप समझेंगे कि इस सीधे-सादे सवाल का जवाब है 'जैसा दिखाई देता है, बस, वैसा ही यह विश्व होता है'। और ऐसा जवाब देते ही हम फिसल पड़ते हैं। क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है जिसे हम अपने अनुभव से मान भी लेते हैं कि हर कोई आदमी इस विश्व को अपने-अपने ढंग से देखता है। हरेक को यह विश्व अलग-अलग सा दिखाई देता है। हमारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ तथा पूर्वानुभव आदि अनेकों चीजों पर हमारा देखना निर्भर करता है। दिखाई देने वाली बहुतेरी वस्तुओं से यह विश्व कितना भी भरा क्यों न हो, हरकोई उस में वही देखता है जो वह खुद देखना चाहता है। अतः एक ही वस्तु या घटना का अनुभव हरेक के लिए भिन्न हो सकता है। नानी और पोती का मंदिर को देखना अवश्य ही भिन्न होगा। उन की आयु और आयु से आने वाले अनुभव के कारण यह फर्क होगा। फर्क होगा उनके अपने व्यक्तित्व के विशिष्ट इतिहास के कारण। हरेक की संवेदना-क्षमता भिन्न होने के कारण भी यह फर्क हो सकता है। यह फर्क व्यक्तिनिष्ठ है।

लेकिन कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक ही वस्तु अलग प्रसंगों पर अलग समय पर अलग-अलग सी दिखाई देती है। वह इतनी अलग दिखने लगती है कि अंततः देखने वाले को भ्रम-सा हो जाता है कि असल में उस वस्तु का रूप ही क्या है। समुद्र भी हर ऋतु में हर समय कुछ अलग ही दिखाई देता है। वही बात है शिल्प-कला के बारे में। कुहरे के धुँधलके से उजलने वाला ताज़महल और पूर्णिमा के प्रकाश में शराबोर ताज़महल दोनों भिन्न दिखाई देने पर भी उतने ही सच होते हैं। ताज़महल मशहूर होने के नाते उस का हरकोई मूड़ या नज़ाकत को पकड़ने की एक दूसरे से होड़ लगी हुई रहती है। वैसे देखा जाए तो हमारे ही ईर्द-गिर्द की बहुत सी वस्तुओं के रूप इस तरह हमेशा बदलते रहते हैं। घाँस के झोपडे भी अपने रूप बदलते रहते हैं। लेकिन इस को महसूस करने के लिए आदमी में तरल एवं समर्थ संवेदनाक्षमता होना ज़रूरी है जैसी कि क्लॉद मोने की थी। मोने ने झोपडे के दिन के अलग-अलग समय पर दिखाई देने वाले चित्रों के रूप आँक दिये थे। झोपडे के सभी मूड उसकी चित्तवृत्तियों पर छाए रहे और उस ने उन को चित्रित कर के अमर कर दिया। उसके मन पर जो प्रतिमाएँ उठ आयी थीं उन को उस ने साकार कर के दिखाया। लेकिन क्या असली झोपडे को साकार करने में वह सफल रहा या नहीं इस प्रश्न का उत्तर मिलना तो अभी भी बाकी है।

इस संदर्भ में 'देखना' इस क्रियापद पर सोच-विचार होना आवश्यक है। हम ऐसा मान कर चलते हैं कि वस्तु जिस तरह होती है उसी रूप में हम उसे देख लेते हैं। लेकिन असल में, क्या यह सच है ? मृगमरीचिका जैसे उदाहरणों से तो यह बात स्पष्ट होती है कि किसी वस्तु का होना और दिखाई देना एक नहीं है। प्रायः वस्तु जैसी असल में होती है वैसी हमें दिखाई नहीं देती है। यहाँ दिखाई देना और देखना इन में होने वाले फर्क को समझना चाहिए। जब

कोई वस्तु दिखाई देती है तब देखने वाला याने कर्ता अपने आप सोद्देश्य एवं हेतुतः किसी प्रवृत्तिरूप क्रिया का आचरण नहीं करता है। अपनी ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त संवेदनाओं का ही वह केवल ग्रहण करता रहता है। लेकिन देखने की क्रिया सोद्देश्य एवं प्रवृत्तिरूप होती है। यहाँ मनुष्य अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग करता है। इस कल्पनाशक्ति के सहारे भूतकालीन अनुभवों को इकठ्ठे लाना, प्राप्त संवेदनाओं को विरोध में या संगति में अनुभव करना, उनका विश्लेषण करना, विभिन्न संभावनाओं के माध्यम से उन को निरखना आदि क्रियाएँ की जाती है। इसलिए देखने की क्रिया व्यामिश्र एवं पद्मबंधात्मक होती है। कला के बारे में तो इस देखना क्रिया का चोली दामन का साथ होता है। क्यों कि यहाँ समूची कलावस्तु एक ही ज्ञानेंद्रिय के लिए प्रस्तुत संभावना होती है। जैसे चित्र केवल आँखो का विषय होता है। चित्र को हम ना सुनते हैं ना सूँघते हैं; उसे केवल देखते ही हैं। इसीलिए कलाकृति अपनी ज्ञानेंद्रिय को कितना मोहित करती है, कितना आनंद देती है और किस तरह विविध भावनाओं एवं अनुभवों को परावर्तित करती है इस पर उस कलाकृति का बल निर्भर करता है। कलाकृति का आस्वाद तो मनुष्य को उस के देखने के लिए चुनौती होता है। क्योंकि देखने से कोई व्यावहारिक रूप का फायदा मिलता नहीं है। लेकिन इस देखने की क्रिया में कल्पनाशक्ति को अपनी करतूत दिखाने का बड़ा मौका मिलता है। कलावस्तु के विभिन्न घटकों का आपसी संबंध एवं उन संबंधों से प्रतीत होने वाला अनुभव हम कल्पनाशक्ति के जरिये ही कर सकते हैं। अतः कल्पनाशक्ति की प्रगल्भता के माफिक कलावस्तु के आस्वाद की क्षमता विभिन्न रहती है, और आस्वाद की प्रक्रिया में वह कल्पनाशक्ति काफी सहयोग देती है।

यह बात हुई देखने की। लेकिन कोई भी वस्तु जब दिखाई देती है तब कुछ ऐसे घटक होते हैं जिनकी वजह से वह दिखाई देती है और उन्हीं घटकों के कारण वह वस्तु अलग-अलग तरीके से दिखाई देती है। प्रकाश के बिना आदमी देख भी नहीं पाता। चित्रकला में प्रकाश का महत्त्व अनूठा है। कभी कभी तो चित्र बनता है केवल प्रकाश की विभिन्न छटाओं के खेल से। लेकिन यही प्रकाश बाह्य जगत् का चित्रण करने में एक रुकावट भी बन बैठता है। वैसे देखा जाए तो प्रकाश याने तेज महाभूत का ही तो आविष्कार है। 'प्रकाश' की इस संकल्पना ने कवियों तथा दार्शनिकों से ले कर वैज्ञानिकों तक सभी लोंगों को अचंभे में ड़ाल दिया है। इस प्रकाश ने मशहूर चित्रकारों को भी चुनौतियाँ दी हैं। उन चुनौतियों को देखना भी काफी दिल बहला देता है। क्योंकि किसी भी वस्तु को हम तभी पहचान पाते हैं जब वह प्रकाशित हो उठती है। ओले बरसाने वाली बरसात, बादलों से धुँधला बना आसमान, खाइयों से ऊपर उठने वाला घना कुहरा, जहाँ तक नज़र टिके वहाँ तक फैली हरियाली ये सभी नज़ारे तो प्रकाश के कारण ही दिखाई देते हैं। वस्तुतः हम प्रकाश को गृहीत मान कर ही चलते हैं। उसके मिटने के बगैर उस के अस्तित्व का हमें अंदाज़ा तक नहीं लगता है। लेकिन प्रकृति या व्यक्तियों के चित्र उतारने वाले चित्रकारों का सब से पहला ताल्लुक हो आता है इस प्रकाश से। यह रोशनी

ही उन के चित्रों में जान भर देती है। इस तंत्र के संबंध में रेम्ब्रा नामक चित्रकार ने काफी प्रयोग किये। उन के प्रयोगों से उनके समकालीन चित्रकारों और कला-आस्वाद कों में बड़ी खलबली मची थी। रेम्ब्रा के चित्रों से लोगों ने महसूस करना शुरू किया कि प्रकाश यह चित्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण घटक है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदियों में चित्रकार मानों एक कोशिश में लगे रहे। वह कोशिश थी प्रकाश को रँगों में पकड़ने की। जैसे कवि अपने अनुभवों को शब्दों में जकड़ना चाहता है ठीक उसी तरह वह कोशिश रही। चमचमाती किरणें, वृक्षों के साये, धूप से चमकने वाला हिलता हुआ पानी, अंधेरे कमरे को किसी नाटकीय ढंग से उजाले में बदल देने वाली धूप ये तो प्रकाश के सीदे-सादे रूप हैं। लेकिन ताँबे तथा पीतल के बर्तनों की चमचमाहट, आईने की ज़गमग, फूलों-पत्तों का पारदर्शी रूप, रेशम के कपड़ों की दमक, बालों का तज़ेलापन, नगीनों की झगमगाहट ये सभी उसी प्रकाश के रूप हुये। प्रकाश के इन विविध रूपों को अपने कॅनवास पर उतारने की कोशिश अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी के बहुतेरे चित्रकारोंने की। वाकई सवाल है प्रकाश का रँग कौनसा है? यह सवाल तो उसी प्रश्न जैसा है जो पूछता है, 'पानी तेरा रँग कैसा?' लेकिन कॉन्स्टेबल, टर्नर, मोने, दगा, पिसारों, रन्वा आदि महान् चित्रकारों ने अपनी अपनी शैली के मुताबिक बड़ी ताकत से इस सवाल का उत्तर किया। इनके बहुत-से चित्र तो मानों आँखों के लिए उत्सव ही हैं। फिर भी ये चित्रकार प्रकाश को जकड़ने में कितने सफल रह चुके हैं यह सवाल दार्शनिक को जरूर सताए रहता है। इस का सीधा-सादा कारण है, बड़े हौसले से विश्व को चित्रित करने की ठान लेने वाले चित्रकार नामक मुमुक्षु आदमी की मर्यादाएँ। इस समय याद आती है इम्यॅन्युएल कांट की जिसने मनुष्य के ज्ञान की मर्यादाओं पर जोर दिया था। उसकी राय में मनुष्य का ज्ञान सीमित होता है क्योंकि मनुष्य की ज्ञान-ग्राहक यंत्रणा को मौलिक मर्यादा होती है। कांट की राय को पूरे तौर पर स्वीकार करना चाहे जरूरी भी न हो, फिर भी उस ने सोचने के लिए जो दिशा दिखाई है वह महत्त्वपूर्ण है। करीबन सभी के सभी चित्रकार दाहिने हाथ से चित्र बनाने वाले थे। इसलिए उनके चित्रों में प्रकाश का स्रोत बायी तरफ हो कर हलके से वह दाहिनी तरफ फैलता जाता था। अतः प्रकाश को जकड़ने वाले बहुत-से चित्रों में प्रकाश बायी तरफ से आ कर दाहिनी तरफ फैलता जाता दिखाई देता है। वरमीर जैसे सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के चित्रकार के बारे में यह बात तो बहुत ही स्पष्ट है। इस का मतलब यह हुआ कि मनुष्य का ज्ञान और उस ज्ञान की अभिव्यक्ति ये दोनों मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक रचना से निर्धारित होती हैं। अतः विश्व जैसा है ठीक उसी रूप में कॅनव्हास पर उसे उतारना इन कल्पना में ही कुछ बुनियादी भ्रम नजर आता है। और एक बात है कि विश्व त्रि-परिमापक होता है और उस का चित्रण जिस कॅनव्हास पर होता है वह द्वि-परिमापक ही होता है; उस पर तीसरे परिमापक का आभास पैदा करने की कितनी भी कोशिश करने पर वह अपनी प्राकृतिक मर्यादा तो लाँघ नहीं सकती है। इसका सीधा मतलब यह हुआ कि चित्र तो चित्र ही है, वह वस्तु, व्यक्ति या विश्व नहीं है। चित्र को 'नकल' समझने वालों के लिए यह बात काफी महत्त्वपूर्ण है।

सौंदर्यशास्त्र का विवेचन करने वाले तत्त्वचिंतक सिर्फ इसी आलोचना से संतुष्ट नहीं हैं। उन के पास कुछ और भी खास आलोचनाएँ हैं। उनकी राय में जब चित्रकार चित्र उतारता है तब उस का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होता है। दृष्टिकोन याने कि किसी एक पहलू पर जोर देना। चित्रकार या तो वस्तु के सामान्य पर जोर देता है या उस के विशेष पर। दार्शनिक तो सामान्य की खोज में काफी रुचि लेते रहते हैं। विश्व की अनेकों वस्तुओं में समानरूप से रहने वाले किसी एक सूत्र को खोजने की कोशिश ग्रीक एवं भारतीय दार्शनिकों में हमेशा के लिए रही है। स्वर्ण के आभूषणों में सोना, तो मनुष्यों के समुदाय में मनुष्यता ये सामान्य हैं और आसमान तथा समंदर में नीलापन समान है। इन सभी सामान्यों को समेटने वाला सब से ऊँचा सामान्य खोजने में दार्शनिकों ने खूब समय गवाया है। कुछ पैमाने पर चित्रकला में भी यही कोशिश दिखाई देती है। किसी भी चित्र को उतारने के पहले उसके आकृतिबंध को ठीक तरह से समझ लेना यह मौलिक सूत्र है। अगर किसी पंछी का चित्र उतारना है तो जिस रेखाबंध में पंछीपन समाए बैठता है उस पर नियन्त्रण पाना चाहिए। चित्रकला सिखाने वाली किसी भी किताब में इस तरह रेखाबंध की जानकारी दी जाती है। अगर पंछी का चित्र उतारना है तो पहले दो अंडों का चित्र उतारें, एक बड़ा व दूसरा तिरछा और छोटा। अगर आप इस तरह चित्र बना पाएँ तो आप बड़ी सुलभता से पंछी का चित्र बना सकते हैं। क्योंकि यह पंछी का रचनाबंध है, उसका फॉर्म्युला है। लिओनार्दो, मायकेल एंजेलो जैसे चित्रकारों की ऐसे फॉर्म्युलों पर प्रभुता थी। उस जमाने की चित्रकला में यह बात संमत भी थी। लेकिन धीरे धीरे इस स्थिति में परिवर्तन होता गया। सामान्य के बजाय विशेष पर अधिक ध्यान देना चित्रकार पसंद करने लगे। वस्तुतः हरेक चीज अपने में कुछ अलग तथा अनूठी होती है और इस अनूठेपन को उतारने की जरूरत चित्रकार महसूस करने लगे। उनको लगा कि किसी भी चीज का अनूठापन उस के सामान्य के बोझ के नीचे दबता जा रहा है। अतः किसी भी वस्तु का एकमेवाद्वितीयत्व दिखाने में उनमें अधिक रुचि पैदा हुई। दर्शन की यात्रा ने भी धीरे धीरे वही रुख लिया। और सामान्य के आधार पर बनने वाला चिंतन पिछड़ता चला गया।

वस्तु जैसी है ठीक उसी तरह उसे कागज़ पर उतारने में जो कठिनाई है वह अब तक स्पष्ट हुई होगी। इस के साथ कुछ और भी बन्दुओं पर ध्यान देना जरूरी है। उन में सब से महत्त्वपूर्ण बात है मनुष्य की भावप्रवणता। अरस्तू ने आदमी का लक्षण रॅशनल के आधार पर ही क्यों न किया हो, आदमी के जीवन में भावों का बहुत ही बड़ा महत्त्व रहा है। आदमी यंत्र जैसा काम कर भी सकता है, फिर भी वह यंत्र नहीं है। आदमी की आँख और कॅमेरा की लैन्स में भी तो फर्क है। अतः चित्रकार जिस वस्तु या स्थिति को अंकित करता है, वह भावपूर्ण हो सकता है, चाहे चित्र का विषय परिचित न भी हो। रंग तथा रेखाओं के संचलन के जरिये चित्रकार यह जरूर कर पाता है क्यों कि उस में उस के अंतस् का प्रतिबिंब होता है।

व्यक्तिवाद के पुरस्कर्ताओं ने इस तरह के चित्र उतारे हैं। उन्होंने विश्व को चित्रांकित

करते हुए पूर्णतया वस्तुनिष्ठ न रह कर उसमें अपने मन के भावों की मिलावट कर दी है। अतः जिन रंगों का उन्होंने इस्तेमाल किया वे रंग आँखों को दिखाई देने वाले रंग नहीं थे, बल्कि मन को सूझने वाले, भाने वाले प्रतीकात्मक रंग थे। उनके लिए चित्र भावों की उत्कट अभिव्यक्ति का साधन बन गया। व्हिन्सेंट व्हान गॉग यह चित्रकार ऐसे चित्रों के लिए मशहूर था। उस पर पागलपन के दौरे पड़ते थे। उस के चित्र भावों की तीव्रता के सर्वोच्च बिंदु तक पहुँचते हैं। उस के चित्रों के रंग भी बेचैन करनेवाले हैं। उस के समूचे चित्र से भावों की छटपटाहट मानों टपकती रहती है।

इस अभिव्यक्ति के साथ-साथ ही प्रतीकात्मक चित्रण की शैली का पदार्पण हुआ। इस शैली में चित्र के रंग तथा रेखाएँ नकल न हो कर प्रतीक हुआ करते थे। इन प्रतीकों से उत्कट भावनाएँ, विचार, कल्पनाएँ बड़े जोर से फूट निकलती थीं। अतः इन चित्रों का आस्वाद कुछ अलग ही अनुभव रहा करता था। एमिल बर्नार्ड, पॉल गोग इन्हों ने इस शैली में चित्र बनाए। इस से चित्रकला में नई धारा प्रवाहित हुई। अभिव्यक्तिवाद, प्रतीकात्मक शैली और भौमितिक चित्रण इन का प्रभाव वीसवीं सदी की आधुनिक चित्रकला पर काफ़ी रहा।

चित्रकला का इतिहास मनुष्य के विश्व से बदलते रिश्तों का आलेख ही है। इस प्राचीन रिश्ते के संबंध में उठने वाले विविध दार्शनिक प्रश्नों का एक सिलसिला है। लेकिन आज भी यह सिलसिला अधूरा है और उन्हीं पुरानी चुनौतियों को लेकर आज भी जारी है।

दर्शन-विभाग
पूना विश्वविद्यालय,
पुणे - ४११ ००७

अर्चना देगांवकर

संदर्भ

Gombrich E. H., *Art and Illusion : A study in the Psychology of Pictorial Representation;* Phaiden Press, London 1960.

* * *

ज्ञान की स्वयंप्रकाशता

- १ -

'आत्मदीपो भव' की आध्यात्मिक निष्ठा में अद्यतन चेतन तत्त्व की प्रधानता भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है । इस विशेषता की तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय पृष्ठभूमि में 'ज्ञान की स्वयंप्रकाशता' या 'स्वसंवित्ति' एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अभ्युपगम के रूप में प्रस्तुत होता है । यद्यपि निर्विवाद रूप से इसका उत्स औपनिषदिक है तथापि संसदीय भारतीय दर्शान के इतिहास में यह विज्ञानवादी बौध्द आचार्य प्रभाकर मीमांसक और वेदान्तियों की मेधा का सहयोग पाकर सम्यक् रूपेण विकसित हुआ है । नैय्यायिकों और कुमारिल भट्ट के द्वारा प्रस्तुत किया गया इस सिद्दान्त का प्रतिपक्ष न केवल इसके तार्किक स्वरूप को प्रखरता प्रदान करता है, बल्कि इसे भारतीय प्रत्ययवाद के पोषक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करता है ।

यह ज्ञानर्मामांसीय दृष्टि से ज्ञान की उस अवस्था की खोज है, जहाँ ज्ञान का सत् उसके अन्तर्वस्तु के रूप में प्राप्त होता है और उसके स्वरूप की भावपरकता स्वतः प्रमाणित होती है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यह ज्ञान में आचरित एक ऐसा सन्दर्भ है, जो हमें बाह्य संसार के बन्धन से सर्वथा मुक्त ही नहीं करता बल्कि उसकी आद्यनियामकता स्वयं ज्ञान में है, इसे अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में तात्त्विक स्थिति प्रदान करता है ।

भारतीय दर्शन में "ज्ञान की स्वयंप्रकाशता" एवं उसकी तात्त्विक परिणति के विषय में पर्याप्त मतवैभिन्न्य है । यह मतवैभिन्न्य अन्ततः चेतना के स्वरूप विषयक मतभेद में परिलक्षित या पर्यवसित होता है। क्या "ज्ञान की स्वयंप्रकाशता" या "स्वसंवित्ति" इस विषयक मतभेद को एक निश्चित दिशा प्रदान कर सकती है ; या यह स्वयं चेतना के तात्त्विक स्वरूप विषयक मतभेद की पृष्ठभूमि में अपनी संज्ञानात्मक भूमिका को प्राप्त करती है ? वस्तुतः सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है । हम इसी से प्रारम्भ करते हैं और अन्ततः हमें इसी में लौटना होता है।

परामर्श (हिन्दी) खण्ड १३, अंक ३, जून, १९९२

यदि मनुष्य इस संसार का अंग है या यह संसार स्वयं मानव मन की होई प्रागनुभविक संरचना है, तो दोनों ही स्थितियों में मानवीय संज्ञानात्मक प्रक्रिया में जाने-अनजाने तात्त्विक पूर्व कल्पना का पूर्वगामी होना "संसार में मनुष्य " होने की बाध्यता है। यह बाध्यता किसी विशेष तत्त्वमीमांसा का उद्‌घाटक है या तत्त्वमीमांसा सामान्य ही उपर्युक्त बाध्यता से विवक्षित है? ऐसे प्रश्न दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में अद्यतन विवादास्पद रहे हैं। तथापि, किसी भी दर्शन की ज्ञानमीमांसीय भूमि पर कुछ ऐसे सन्दर्भों को अवश्य प्राप्त होना चाहिए जो उस दर्शन की तत्त्वमीमांसा से संवाद या संसक्तता रखते हों। ऐसे संवाद या संसक्तता के अभाव में किसी दार्शनिक की वैचारिक योजना में स्ववचन व्याघात, स्वज्ञान व्याघात और स्वक्रिया व्याघात [1] की सम्भावना सदैव बनी रहेगी। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति ज्ञान में आचरित एक ऐसा ही सन्दर्भ है। यह चेतना के किस तात्त्विक स्थिति को प्रस्तावित करता है; या इसकी तात्त्विक परिणति ज्ञानमीमांसा का अतार्किक विस्तार है अथवा जिसे हम तात्त्विक परिणति समझते हैं वह मात्र "लॉजिकल प्रीसपोजिशन् ऑफ नॉलेज" है? ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति के सन्दर्भ में इन्हीं समस्याओं का विज्ञानवादी बौध्द विश्लेषण और समीक्षा प्रस्तुत निबन्ध का विचार्य विषय है। इसे स्पष्ट करने के लिए स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को सम्यक् रूपेण उद्‌घाटित करना होगा, अन्यथा इसके महत्त्व और मर्म को नहीं समझा जा सकता है।

- २ -

स्वयंप्रकाश ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका का समारम्भ इस सामान्य प्रश्न से होता है कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञान से प्रकाशित है। ज्ञान प्रकाश-मौलिक है। यह "प्रकाशों का प्रकाश" स्वयंप्रकाश है। इसे ज्ञात होने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। जानना और इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ रहना, कुछ भी नहीं जानना है। अज्ञात ज्ञात तो वदतो व्याघात है। इसलिये प्रत्येक ज्ञान का स्वज्ञान होना या प्रत्येक चेतना का स्वचेतन होना परिनिष्ठित है। यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, इसे एक सीमा तक सभी दार्शनिकों की सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, तथापि यह कैसे होता है इसके बारे में दार्शनिकों के मध्य पारस्परिक मतभेद है। भारतीय दर्शन में इतिविषयक नैय्यायिकों का "अनुव्यवसायवाद", मीमांसकों का "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" और "त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद", बौद्धों का "स्वसंवेदनवाद" या "विज्ञानस्वयंप्रकाशतावाद" एवं वेदान्तियों का "आत्म स्वयंप्रकाशतावाद" अतिप्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की सम्यक् व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है। अतएव हम अपने विश्लेषण और समीक्षा

को इतिविषय विज्ञानवादी बौद्ध अवधारणा तक ही सीमित रखेंगे ।

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्धों ने स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को उद्‌घाटित करने के लिए कुछ प्रबल तर्कों को उपस्थापित किया है। प्रत्यक्ष विषयक सौत्रान्तिक अवधारणा की अव्याख्येयता और माध्यमिकों द्वारा चित्तमात्रतावाद के विरुद्ध उपस्थापित " न हि चित्तं चित्तं पश्यति "[२] का विप्रतिषेध ही वह कारण है, जिसके फलस्वरूप विज्ञानवादी बौद्धों ने दृढता के साथ ज्ञान की स्वयंप्रकाशता को प्रस्तावित किया। इसे बौद्ध अपनी शब्दावली में "स्वसंवेदन" या "स्वसंवित्ति" कहते हैं। इस सम्बन्ध में धर्मकीर्ति की यह गवेषणा कि "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि प्रसिद्धयति" बड़ा ही प्रसिद्ध है। प्राय: सभी परवर्ती बौद्ध और बौद्धेतर दार्शनिक इसका अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं। स्वसंवित् ज्ञान के पक्ष में बौद्धों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क सम्पूर्ण ज्ञान की संरचना को ही प्रभावित करते हैं। यदि ज्ञान को स्वसंवित् न माना जाय तो ज्ञाता-ज्ञेय के ढाँचे में ज्ञेय की ज्ञानात्मक उपलब्धि सम्भव ही नहीं होगी। यह एक सार्वजनीन तथ्य है कि वह ज्ञान जिसके द्वारा किसी विषय की ज्ञेयोपलब्धि होती है, वह विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना के द्वैविध्य में बँटा होता है। इसके लिए बौद्ध ग्रंथों में ग्राह्याकार--ग्राहकाकार, स्वाभास-अर्थभास, ज्ञानाकार-अर्थाकार जैसे शब्द प्राप्त होते हैं। इस दूसरे पक्ष के द्वारा न केवल विषयाकार चेतना होती है बल्कि विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना के ग्राहक रूप में स्वग्रहण भी होता है। यदि ऐसा स्वीकार न करते हुए यह स्वीकार किया जाय कि प्रत्येक ज्ञान का केवल एक ही पक्ष होता है, याने वह अर्थाकार होता है या तो स्वाकार होता है, तब तो विषय की चेतना और विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना की चेतना का भेद ही समाप्त हो जाने से ज्ञाता ज्ञेय का ज्ञान ढाँचा ही असंभव होगा और विषय की ज्ञात ज्ञेयोपलब्धि ही अनुपपन्न होगी। अत: प्रत्येक चेतना का द्वयपक्षात्मक होना ज्ञान की "स्वयंप्रकाशता" या "स्वसंवित्ति" को सिद्ध करता है।[३]

वस्तुत: चित्त की कोई ऐसी अवस्था नहीं है, जिसका स्वसंदेन प्रत्यक्ष न होता हो। सभी चित्त और चैत्तों की आत्मसंवित्ति अनुभव सिद्ध है।[४] यह विज्ञानवादी बौद्धों की वैचारिक योजना की दोषपूर्ण गौरव दृष्टि न होकर एक अपरिहार्य तथ्य है। चित्त वस्तुमात्र का ग्राहक होता है और चैत्त विशेष अवस्थाओं के ग्राहक होते हैं। बौद्ध शब्दावली में सुख-दु:खादि की वेदना चैत्त कहे जाते हैं। सुखादि के स्फुट होने के कारण उनका स्वसंवेदन असंन्दिग्ध है। रूप आदि वस्तु दिखने पर उसी समय आन्तरिक सुखादि आकृति का संवेदन होता है। यह नहीं कहा जा सकता

कि नीलादि रूपाकृति का ग्रहण ही सौख्य रूप में होता है। क्योंकि, नीलादि रूपाकृति का ही सुख रूप से ग्रहण हो रहा है, ऐसा तद्विषयक निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होने से ही नीलादि को सौख्य रूप कहा जा सकता है। जिस रूप का प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार होता है, विकल्प उसी का अनुगमन करते हुए निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न करते हैं।[५] इसप्रकार उस रूप का प्रत्यक्ष व्यवहृत होता है। नीलादि रूपाकृति का इस प्रकार निश्चय नहीं होता है। अतएव "यह नील है" के अनुभव काल में ही सुख-दु:ख का अनुभव नीलादि वस्तुओंसे भिन्न रूप में होता है। सुख-दु:खादि चैत्त वस्तुत: ज्ञान रूप है। ऐसे अनुभवों में किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे सुख का अनुभव हो रहा है या नहीं। इसलिए सुख-दु:खादि के अनुभव स्वसंवित् होते हैं।

इसके अतिरिक्त स्मृति एक ऐसा दृष्टान्त है जो स्वसंवित् अनुभव को सिद्ध करता है। स्मृति में केवल पूर्वानुभूत विषय की ही स्मृति नहीं होती बल्कि पूर्वअनुभूत विषय की अनुभूति अनुभूत होती है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो स्मृति ही असम्भव होगी और लोकव्यवहार अवरुद्ध हो जायेगा। चूँकि स्मृति स्थल पर पूर्व अनुभूत वस्तु की अनुपलब्धि होती है, इसलिए पूर्वानुभूत अनुभूति स्वसंवित् होकर ही स्मृति का सम्पादन करती है।[६]

इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध विभिन्न तर्कों के आधार पर ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध करते हैं। वस्तुत: अनुभव प्रकाश के अभाव में समस्त संसार अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जायेगा। यदि संसार ज्ञान से प्रकाशित होता है तो ज्ञान का स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् होना अपरिहार्य है, चेतना की प्रकृति ही ऐसी है कि उसका स्वरूप उसके उपादानों से आवृत्त नहीं होता। जड वस्तुयें अपने उपादानों से ही स्वरूपतया आवृत्त होती हैं। इसलिए जडवस्तुओं को प्रकाशक की आवश्यकता है। चेतना के साथ ऐसी बात नहीं। चेतना विषयों से सम्बद्ध होकर उन्हें प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करती है। विषयअसम्बद्ध स्थिति में चेतना पर-प्रकाशक नहीं होती लेकिन चेतना की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का अत्यन्ताभाव नहीं होता है।

- २ -

बौद्धों द्वारा प्रस्तावित ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की अवधारणा उन सभी बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए असह्य रही है जो ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं और नहीं भी मानते हैं। उनकी आलोचनाओं में दो बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं। प्रथम यह कि ज्ञान सदैव वस्तुतन्त्र होने से "जानना"

एक सकर्मक क्रिया-पद है । इसलिए ज्ञानक्रिया के कर्ता का उस क्रिया के साथ मिश्रण नहीं किया जाना चाहिए । द्वितीय, यह कि यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, यह अनिवार्य तो नहीं लेकिन व्यवहारसम्मत् तो अवश्य है, तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञान स्वसंवित् होता है । स्वसंवित्ति से परे और पृथक् भी अनुभव-प्रकाश की व्याख्या हो सकती है । आलोचकों के इन दोनों आधारों पर विचार किया जाय तो प्रथम वस्तुवाद के पूर्वाग्रह में विज्ञानवाद की आलोचना प्रतीत होती है और द्वितीय स्वसंवित् ज्ञान के बदले एक वैकल्पिक सिद्धान्त के प्रतिपादन का आग्रह प्रतीत होता है। अतएव कहा जा सकता है कि बौध्देतर दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्त से मोहग्रस्त होकर बौद्धों की आलोचना की है। वस्तुतः आलोचनाओं का भी अपना एक महत्त्व होता है । आलोचनायें चाहें गलत हो या सही , दोनों ही स्थितियों में यह विचार के इतिहास को एक अतिरेक त्वरण प्रदान करती हैं ।

कुमारिल भट्ट ने अपने *श्लोकवार्तिक* में बौद्धों के "स्वसंवेदन " का इतना अधिक खण्डन किया है कि परवर्ती आलोचकों की आलोचनाओं में कुछ भी नया नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में कुमारिल के अनुसार बौद्ध जब यह कहते हैं कि ज्ञान "स्वसंवित्" होता है, तो इसका द्विविध तात्पर्य हो सकता हैं । प्रथम यह कि ज्ञान ही ज्ञाता और ज्ञेय है और द्वितीय यह कि ज्ञान- क्रिया स्वयं को ज्ञेय रूपेण ज्ञात करती है । प्रथम विकल्प में कर्तृ-कर्म का अभेद उपलब्ध होता है,[७] तो दूसरे पक्ष में क्रिया-कर्म का एकत्व आसन्न है ।[८] इस प्रकार का अभेदीकरण ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के स्थापित व्यवहार के विरुद्ध है। व्यवहार-सम्मत् ज्ञान प्रसंग में ज्ञानकर्ता, ज्ञानक्रिया, और ज्ञातविषय का पार्थक्य विवक्षित होता है । यदि ज्ञान को यथार्थता का प्रदर्शक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाय तो ऐसा एकत्व उतना ही असंभव है, जितना कि तर्जनी द्वारा स्वयं अपने अग्रभाग को छूना या नट का स्वयं अपने मस्तक पर नृत्य करना । ध्यातव्य है कि *बोधिचर्यावतार* में भी विज्ञानवादी बौद्धों के प्रति कुछ इसी प्रकार की आलोचनाओं की उद्भावना की गयी है ।

पुनः कुमारिल स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की अनुपपन्नता प्रदर्शित करते हुए यह दिखाना चाहते हैं कि कोई भी कारण एक कार्य के उत्पादन के समय दूसरे कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता है । इसलिए न तो उत्पत्ति काल में ज्ञान "स्व" का ग्रहण कर सकता है, क्योंकि अपने उत्पत्ति काल में तो वह नीलादि विषयों के प्रकाशन में व्यापृत होता है और न तदनंन्तर ही "स्व" का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि बाद के क्षणों में वह स्वयं विनष्ट हो जाता है ।[१०]

इसी प्रकार "प्रमाणाभाव" को उपस्थापित करते हुए कुमारिल कहते हैं कि यदि अपने उत्पत्ति काल में ही ज्ञान स्वयं का ग्रहीता है, तो इसका क्या प्रमाण है ? यदि इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि उत्पत्ति काल में ज्ञान ग्रहण का कोई प्रतिबन्धक नहीं है, प्रतिबन्धकाभाव से ही ज्ञान प्रथम क्षण में गृहीत हो जायेगा, तो यह ठीक नहीं ।[११] केवल प्रतिबन्धक से ही कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध नहीं होती, बल्कि विशिष्ट कारणों के अभाव से भी कार्य की उत्पत्ति प्रतिरुद्ध होती है । प्रकृत में तो ज्ञान प्रथम क्षण में ग्रहणविशिष्ट कारण के अभाव से ही प्रतिरुद्ध होता है, प्रतिबन्धक से नहीं । अत: प्रतिबन्धकाभाव से उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञानग्रहण में प्रमाणाभाव सिद्ध है ।[१२]

इस प्रकार स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत में दोषोद्भावन करते हुए कुमारिल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान अपनी प्रकृति में स्वप्रकाश नहीं बल्कि सदैव पर प्रकाशक होता है । अपने प्रकाश के लिए ज्ञान एक परवर्ती क्रिया की अपेक्षा करता है । संक्षेप में कुमारिल का पक्ष यह है कि "ज्ञान " एक क्रिया है। जिस प्रकार पाकज क्रिया के द्वारा भोज्य पदार्थों में "पाक" उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जब हम घट नामक पदार्थ को देखते हैं और "यह घट है" के रूप में उसका व्यवहार करते हैं , तो घट नामक पदार्थ में "ज्ञातता" नामक एक अतिरिक्त धर्म उत्पन्न होता है। घट ज्ञान से पैदा होने वाली ज्ञातता केवल घट में ही होती है, पट में नहीं। इसलिए घट ज्ञान का विषय केवल घट ही होता है। यह ज्ञातता घट के आदि और अन्त में नहीं होती, बल्कि उसकी प्रतीति उस समय होती है जब हम "ज्ञातोमयाघट:" का व्यवहार करते हैं । "ज्ञातता" ही किसी विषय की परिच्छेदित विषयता को नियत करती है । इस ज्ञातता की सिद्धि "विषयत्व अन्यथा अनुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति" से होती है । यह ज्ञातता-रूप धर्म अपने कारण के विना उत्पन्न नहीं हो सकता है । अतएव "ज्ञातता अन्यथा अनुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति" से ज्ञातता की प्रतीति अनुगृहीत होती है । स्वसंवित् ज्ञान के बदले यही कुमारिल का "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" है, जिससे ज्ञान का ज्ञान होता है ।[१३]

बौद्धों के पक्ष में उपर्युक्त आक्षेपों का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार का भेद दो बाह्य पदार्थों के मध्य होता है, उसी प्रकार का भेद ज्ञान और ज्ञेय में विवक्षित नहीं है । ज्ञान और ज्ञेय का भेद केवल संगति का अभाव मात्र है ।[१४] इसलिए ज्ञान प्रसंग में ज्ञाता , ज्ञान और ज्ञेय के पार्थक्य की व्यवस्था हम इसे आरोपित मान कर भी कर सकते हैं। वस्तुत: ज्ञान में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव कल्पित ही है । बोध की बोधरूपता से उत्पत्ति ही उसकी स्वसंवित्ति कहलाती है।[१५]

शान्तरक्षित कुमारिल को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि ज्ञान स्वयं क्रिया न होकर क्रियाफल है। यह सदैव जडरूपों से अपनी पृथक्ता को ज्ञापित करते हुए अभिव्यक्त होता है। ज्ञान अचेतन होकर अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार से नहीं कर सकता। इसलिए यह स्वयंचेतन ही है।[१६] पुन: ज्ञान को स्वसंवित् मानने से अपने आप में कर्ता और कर्म होने का विरोध नहीं है। क्योंकि संवेदन रूप व्यापार विज्ञान स्वरूप से भिन्न नहीं है।[१७] स्वसंवित्ति का वास्तविक तात्पर्य न समझने के कारण ऐसा विरोध ऊपरी तौर पर परिलक्षित होता है। वस्तुत: विज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी वह अप्रकाशित नहीं होता है।[१८] यही स्वसंवित्ति की स्वरूपस्थिति है। इतने पर भी यदि प्रतिपक्षी विरुद्ध धारणा रखते हैं तो स्वसंवित्ति के लिए स्वभाव हेतु पूर्वक अनुमान प्रमाण को प्रयुक्त करते हुए कहा जा सकता है कि जिसका प्रकट होना जिसके अधीन होता है, वह उसके प्रकट होने से ही प्रकट होता है। यथा - दण्डी , जिसका ज्ञान दण्ड के अधीन है। इसी प्रकार रूपादि विषयों का प्राकट्य ज्ञान के प्रकट होने पर निर्भर है। इस अनुमान का इन्द्रियों में व्यभिचार दिखाते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए स्वयं अनभिव्यक्त ही रहती हैं , उसी प्रकार ज्ञान रूपादि विषयों को प्रकाशित करते हुए स्वयं अप्रकाशित ही होता है। वास्तव में ऐसा व्यभिचार प्रदर्शन उपमावैदृश्य के कारण अनुचित है। अन्त में कुमारिल की यह उपस्थापना कि प्रतिबन्धकाभाव के कारण उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञान ग्रहण की बात निरर्थक है, क्योंकि उत्पत्ति काल में ज्ञान ग्रहण विशिाष्ट कारणों के अभाव से ही प्रतिरुद्ध होता है - अनुचित है। यह आक्षेप निराकार ज्ञानवाद के संदर्भ में सही है, लेकिन साकार ज्ञानवाद के संदर्भ में यह अनुपपन्न है।[१९] साकार ज्ञानवाद विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त पक्ष है। साकारज्ञानवाद के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि विज्ञान अपने में अन्तर्निहित विषयाकारों को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। इसलिए ग्रहण विशिष्ट कारणों का अभाव भी नहीं होता और वे सप्रतिबन्धक स्वरूप भी नहीं होते हैं।

यदि कुमारिल के स्वपक्ष पर विचार किया जाय तो उनका "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" भी कतिपय दोषों से ग्रसित है। प्रथमत: अनवस्था दोष की उद्‌भावना करते हुए कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान क्रिया विषय में "ज्ञातता" नामक धर्म उत्पन्न करती है और जब ज्ञान स्वयं परवर्ती क्रिया के द्वारा अनुगृहीत होता है, तो कुमारिल ज्ञान में "ज्ञातता" की उत्पत्ति क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ? काव्यप्रकाशकार की इतिविषयक टिप्पणी उचित प्रतीत होती है कि नैयायिकों और मीमांसकों में केवल इतना ही अन्तर है कि एक आत्मा में तो दूसरा विषय में "ज्ञातता"

की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। इसलिए एक के लिए ज्ञान का ग्रहण परवर्ती मानस प्रत्यक्ष से होता है, तो दूसरे में ज्ञान का ग्रहण अनुमानपूर्वक होता है। द्वितीयत: कुमारिल द्वारा स्वत:प्रामाण्यवाद का समर्थन और ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का खण्डन परस्पर विरोधी आग्रह प्रतीत होता है। ये दोनों बातें एक साथ स्वीकार नहीं की जा सकती। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता ज्ञाननिष्ठ स्वत: प्रमाणता का पूर्वापेक्षी है। यदि इनमें तादात्म्य नहीं तो भी ये परस्पर उपकारी अवश्य हैं। स्वत:प्रमाणत्व कुछ और हो सकता है, लेकिन स्वत: ज्ञानत्व उसमें अवश्य होना चाहिऐ। जिस प्रकार किस वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसकी प्रमाणता पर कोई संदेह नहीं करता कि उसे उस वस्तु का प्रत्यक्ष हुआ या नहीं, उसी प्रकार ज्ञान के संदर्भ में भी किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे ज्ञान हुआ या नहीं। जिस प्रकार स्वत: प्रामाण्य का इतना ही मतलब है कि ज्ञान अपनी प्रमाणता के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करता है, उसी प्रकार स्वसंवित् ज्ञान का भी इतना ही मतलब है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है। जिस प्रकार परत: प्रामाण्यवाद में अनवस्था दिखाई जाती है, उसी प्रकार परत:प्रकाश में भी अनवस्था आसन्न होती है। वस्तुत: ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य को स्वयंज्ञात होना चाहिए। एक ओर अज्ञातप्रमाणता की बात निरर्थक है, तो किसी परवर्ती क्रिया के अधीन उसकी स्थापना नहीं हो सकती है। इसलिए ज्ञाननिष्ठ स्वत:प्रमाणता और स्वसंवित्ति एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् परस्परपूरक सिद्धान्त हैं। यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि क्या जो लोग ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति को स्वीकार करते हैं, उनके लिए स्वत:प्रामाण्यवाद को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि भारतीय दर्शन में इस निकष का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता, तथापि कहा जा सकता है कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस दर्शन में प्रामाण्य ज्ञान का क्या निकष अपनाया गया है। बौद्धों और वेदान्तियों ने अन्तत: "प्रामाण्यं व्यवहारेण" का ही निकष स्वीकार किया है। इसलिए "प्रवृत्तिसाफल्य" को प्रमाणता का निकष स्वीकार कर वे ज्ञान को स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् मानते हुए भी व्यवहारत्वेन प्रामाण्य की व्याख्या कर सकते हैं। जहाँ तक प्रवृत्ति-साफल्य से परे और पृथक् स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की प्रामाणता का प्रश्न है तो वह स्वनिष्ठ ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता जैसा कि कुमारिल स्वीकार करते हैं, तो स्वसंवित्ति उनके लिए पूर्वापेक्षित है। वस्तुत: यह कुमारिल का वेदों के प्रति अतिशय अनुराग और बौद्धों के प्रति अतिशय द्वेष ही है, जिसके चलते वे इस अन्तर्विरोध में पतित होते हैं। शायद इसी अन्तर्विरोध को मद्देनजर रखते हुए प्रभाकर ने ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता के लिए स्वसंवित्ति की उपयुक्तता और उसके विज्ञानवादी निष्पत्ति के मध्य अपने "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" का प्रतिपादन किया है। प्रभाकर ने स्वसंवित्ति की तत्त्वमीमांसीय लंगर को काटते हुए यह स्वीकार किया

है कि विषय और विषयी के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है, जो समान रूप से विषय को विषयी के लिए प्रकाशित करता है ।[२०] प्रभाकर का "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" ज्ञान की स्वयंप्रकाशता विषयक अ-तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के रूप में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है ।

- ४ -

मीमांसकों के बाद बौद्धों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी नैयायिक हैं । नैयायिकों और बौद्धों के मध्य पारस्परिक खण्डन-मण्डन का इतिहास बड़ा लम्बा है। स्वसंवित्ति विषयक प्रश्न पर नैयायिकों का मानना है कि बौद्ध "अनुव्यवसाय" का मर्म नहीं समझते हैं, इसलिए उन्होंने स्वसंवित्ति की भ्रान्त अवधारणा प्रतिपादित करने में अपनी शक्ति का अनावश्यक दुरुपयोग किया है । नैयायिक यह प्रस्तावित करते हैं कि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, यह अनिवार्य नहीं है। यह सम्भव है कि ज्ञाता में ज्ञान उत्पन्न हो और फिर वह उसके लिए अज्ञात ही रहे। यदि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए , यह व्यवहारसम्मत् है और अनुकूल कारकों के होने से यह ज्ञात होता है, तो इसके लिए ज्ञान को स्वसंवित्त मानना अनिवार्य नहीं है। बौद्धों ने स्वसंवित् ज्ञान के लिए जो तर्क प्रस्तुत किया है, वह नैयायिकों की राय में ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध नहीं करता है ।[२१] यह विचारणीय है। प्रथम, जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक ज्ञान के दो पक्ष होते हैं, तो ज्ञान में आचरित विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना से केवल इतना ही निगमित होता है कि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए । स्वसंवित् ज्ञान इससे निगमित नहीं होता है । यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि ज्ञात होना या तो ज्ञान को स्वसंवित् मानने से सम्भव है, या किसी अन्य ज्ञान के द्वारा उसे ज्ञात हुआ माना जा सकता है । इसमें प्रथम पक्ष बौद्धों का ही है, लेकिन दूसरे पक्ष के लिए ज्ञान की एक अज्ञात अवस्था को स्वीकार करना होगा । ज्ञान की अज्ञात अवस्था में कोई भी तर्क विधि या निषेध मुखेन नैयायिकों का साथ नहीं दे सकता है । अतः स्वसंवित्ति पूर्वक ही ज्ञान का पक्ष-द्वैविध्य व्याख्येय है । द्वितीय, जब यह कहा जाता है कि पूर्वानुभूत अनुभव की अनुभूति के बिना स्मृति सम्भव नहीं है, तो इससे भी यही आहार्य होता है कि अनुभव अनुभूत होता है । वह स्वसंवित् है, यह सिद्ध नहीं होता। यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि पूर्वानुभूत अनुभव की अनुभूति या तो स्वतः वेद्य होगी या परतः वेद्य मानी जा सकती है ? स्वतः वेद्यता तो बौद्धाभिमत ही है। परतः वेद्यता मानने पर अनवस्था होगी जो स्मृति को ही असम्भव बना देगी । इसलिए अपने सन्दर्भ में स्मृति स्वसंवित्ति को सिद्ध करती है । यह बात अलग है कि सभी पूर्वानुभवों की स्मृति नहीं होती है । तृतीय, जब यह कहा जाता है कि सुखादि की

अनुभूति स्वसंवित् होती है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी अनुभव स्वसंवित् होते हैं। कुछ अनुभव बिना ज्ञात हुए समाप्त हो जाते हैं, तो कुछ तीव्र संवेगिता के कारण उत्पत्ति काल में ही गृहीत हो जाते हैं। अतएव तीव्र संवेगिता के कारण सुखादि अनुभवों की स्फुटता का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है।[२२] यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि क्या यह सम्भव है कि किसी को माथे में दर्द हो और उसे ज्ञात न हो? पुनः सुख-दुःखादि चैत्त ज्ञान रूप हैं, तो इनका सामान्यीकरण क्यों नहीं किया जा सकता है?

इसप्रकार स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की आलोचना करते हुए नैय्यायिक इसे एक प्रकार के मानस प्रत्यक्ष नामक अनुक्रिया में रूपान्तरित कर देते हैं। वस्तुतः नैय्यायिकों के अनुसार ज्ञान अपने उत्पत्तिकाल में "यह घट है" के स्वरूप का होता है। वही बाद में अव्यवहित रूप से "मैं जानता हूँ कि यह घट है" के अनुव्यवसाय में परिणत हो जाता है। यह अनुव्यवसाय एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष है। ये दोनों ज्ञान अपने स्वरूप में भिन्न होते हैं, क्योंकि प्रथम स्थिति में घट विषय वेद्य होता है तो द्वितीय स्थिति में घटानुभव विदित होता है। ज्ञान अपने स्वरूप में परप्रकाशक ही है। शान्तरक्षित का यह प्रस्ताव अनुचित है कि ज्ञान को परप्रकाशक मानने से जड़ और चेतन का भेद ही समाप्त हो जायेगा।[२३] चेतना को परप्रकाशक और अचेतन पदार्थों में इसका अभाव बताते हुऐ चेतन और अचेतन का भेद सुरक्षित रहता है। प्रज्ञाकर गुप्त [२४] इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम अपनी विचारसरणी में तीन प्रकार की वस्तुओं को सम्मिलित कर सकते हैं। प्रथम प्रकार में ऐसी वस्तुओं को रखा जा सकता है, जो न तो स्वप्रकाशक हैं न हि परप्रकाशक। दूसरे प्रकार में दो प्रकार की परप्रकाशक वस्तुओं को रखा जा सकता है। यथा - प्रकाश और ज्ञानेन्द्रियाँ। अब प्रथम प्रकार की वस्तुयें कुछ ऐसी हैं, जो द्वितीय प्रकार में आने वाली दोनों वस्तुओं की अपेक्षा करती है। द्वितीय प्रकार में आने वाली वस्तुओं को भी एक अन्य तृतीय प्रकार की वस्तु की आवश्यकता है, जो उनकी प्रकाशक हो। इस प्रकार अन्ततः हमें एक ऐसी तृतीय वस्तु की कल्पना में अवश्य ही पर्यवसित होना पड़ेगा जो स्वप्रकाश हो। सुरेश्वराचार्य [२५] ने भी परप्रकाशता के विभिन्न स्तरों के द्वारा एक निरतिशय स्वयंप्रकाशतत्व की अनिवार्यता को सिद्ध करने के बजाय यह सिद्ध करने का प्रयास किया है। भासर्वज्ञ [२६] ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि उपर्युक्त तर्कों में असिद्धि दोष है, क्योंकि प्रश्न है ज्ञान की स्वयंप्रकाशता और उपर्युक्त तर्क इसे सिद्ध करने के बजाय यह सिद्ध करता है कि ज्ञान की सभी स्थितियाँ ज्ञात होती हैं। इसी प्रकार शान्तरक्षित विहित स्वसंवित्ति की परिभाषा में भी असिद्ध साधनता की उद्भावना की जा सकती है। वस्तुतः नैयायिकों ने बौद्धों द्वारा स्वसंवित्ति

की सिद्धि के लिए प्रयुक्त सभी तर्कों में असिद्धि साधनता के दोष को दिखाने का प्रयास किया है । इतिविषयक बौद्धों की तार्किक संरचना में "असिद्ध साधनता" की प्रतीति इसलिए होती है कि बौद्धों ने स्वसंवित्ति की सिद्धि के लिए जिन-जिन उपालम्भों को प्रयुक्त किया है वे "आरग्युमेन्ट" नहीं बल्कि "कन्सिडरेशन्स्" हैं जो स्वसंवित्त की अवधारणा को मात्र "लॉजिकल प्रीसपोजिशन ऑफ नॉलेज" के रूप में प्रस्तावित करते हैं।

नैयायिक इसके वैकल्पिक सिद्धान्त के रूप में जिस अनुव्यवसायवाद की अवधारणा प्रतिपादित करते हैं, वह न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित है न हि व्यवहार सम्मत है । यदि ज्ञान का ज्ञानान्तर से वेदन स्वीकार किया जाय तो यह बलात् ही "अनवस्था" को निमंत्रित करता है, जिसका अन्ततः "न किंचित्वेदनं" में पर्यवसित हो जाना अवश्यम्भावी है । यदि इस अनवस्था के परिहार के लिए यह स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान का ज्ञात होना कोई आवश्यक नहीं , तो यह नैयायिकों का " अज्ञातज्ञान स्थिति" के प्रति अनावश्यक मोह है । इसका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है । कोई भी ज्ञान बिना ज्ञात हुए व्यवहार साधक नहीं हो सकता । नैयायिक अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए यहाँ एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करते हैं, जो विचारणीय है । उनका मानना है कि "व्यवसायात्मक" ज्ञानस्थिति यद्यपि ज्ञात नहीं होती तथापि व्यवहारोत्प्रेरक अपेक्षित स्नायविक प्रभाव को उत्पन्न करने में वह समर्थ होती है । तदनन्तर जब व्यवसाय अनुव्यवसायात्मक मानसप्रत्यक्ष से अनुगृहीत हो जाता है, तो व्यवहार संचार के लिए इतना ही अपेक्षित है । व्यवहार इतने पर आकर अपने व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं । अन्य कोई व्यापार अवशिष्ट नहीं रहता जो "ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेदने" के सन्दर्भ में उपदर्शित अनवस्था पूर्वक प्रतिरुद्ध होता हो ।[२७] इस प्रकार नैयायिक यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि ज्ञान के कारणभूत विषयों की उपलब्धि होने से ही सम्पूर्ण व्यवहार चलते हैं । इसलिए उपर्युक्त उपदर्शित अनवस्था लक्ष्य को छोड़ते हुए तीर के समान उनके सिद्धान्त का हन्ता नहीं है । वस्तुतः नैयायिकों का यह समाधान सम्यक् नहीं है । व्यवहार संचार को एक यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में देखना जीवन के वैचारिक पक्ष की अवहेलना करना है । व्यवहारों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष वैचारिक भी होता है। व्यवहार के इस पक्ष में नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद की अपर्याप्तता दिखाते हुए धर्मकीर्ति ने "दीर्घादिग्रहणं न स्यात् बहुमात्रा अनवस्थिते" की अनुपपत्ति प्रस्तुत की है ।[२८] व्यवहार संचार के लिए एक विचार से दूसरे विचार में गति और पुनः विचारों के भाषीय प्रवहन के लिए भावप्रवाहिका भाषा में दीर्घस्वरों का ग्रहण आवश्यक है। ये दोनों बातें नैयायिकों की विचारसरणी में स्वसंवित् ज्ञान के बिना असम्भव है, क्योंकि उनके मत में ज्ञान और कण्ठ-तालु संयोग से उत्पन्न ध्वनि, दोनों ही क्षणिक हैं । दीर्घबुद्धि को अक्रम नियम से प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

इसके लिए क्रम नियम और क्रमयोग बोध अपेक्षित है । स्वसंवित्ति के अभाव में विज्ञान और वर्णों की क्षणिकता के कारणक्रमनियम में आसन्न अनवस्था से क्रमयोगाबोध पूर्वक दीर्घबुद्धि अनुपपन्न है । यदि पूर्व-पूर्व वर्णों से उपकृत उत्तर-उत्तर वर्णों की उत्पत्ति मानी जाय तो जिस उत्तरवर्ती अन्त्य वर्ण पर इस प्रक्रिया का विराम होगा, वहीं एक साथ उस श्रृंखला के सभी पूर्ववर्ती वर्णों का ग्रहण प्रसक्त होने से उसे दीर्घ ग्रहण नहीं कहा जा सकता है । बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद में यह समस्या विज्ञानों के स्वसंवित् होने के कारण अनुपपन्न है, क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अर्थाभास पूर्वक स्वाभास या स्वाभासपूर्वक अर्थाभास की विज्ञानस्थिति होती है । क्या अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और स्वाभासपूर्वक अर्थाभास से परे और पृथक् कोई विज्ञान की स्वरूपस्थिति हो सकती है ? इसकी चर्चा हम आगे करेंगे । इस प्रकार नैयायिकों की समीक्षा से बौद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि ज्ञान को स्वसंवित् न माना जाय तो जगत् अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जाता है और इससे बचने के लिए यदि ज्ञान का प्रकाश ज्ञानान्तर से माना जाय तो अनवस्था में पतित हो जाना अवश्यंभावी है ।

- ५ -

अद्वैत वेदान्तियों ने भी स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की आलोचना करते हुए इतिविषयक कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को उद्घाटित किया है । यद्यपि दोनों सम्प्रदायों में इतिविषयक स्वपक्ष स्थापन और परपक्ष खण्डन के लिए अपनाये गये तार्किक उपक्रम में कोई मौलिक भेद प्रतीत नहीं होता, फिर भी दोनों के निष्कर्ष नितान्त भिन्न हैं । इस सम्बन्ध में श्रीहर्ष का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि यदि स्वयंप्रकाश ज्ञान को नित्य, साक्षी , सर्वात्मा, ब्रह्मस्वरूप माना जाय तो अद्वैत वेदान्त सिद्ध होता है और क्षणिक माना जाय तो क्षणिक विज्ञानवाद सिद्ध होता है ।[२९]

शंकराचार्य की दृष्टि में नैयायिक और बौद्ध दोनों ही ज्ञान को वेद्य मानते हैं । यद्यपि ज्ञान की वेद्यता की प्रक्रिया दोनों दर्शनों में भिन्न-भिन्न है तथापि ज्ञान चाहे स्वविषयक हो या परविषयक हो, दोनों ही स्थितियों में "विषयता" का समावेश हो ही जाता है । इसलिए ज्ञान की वेद्यता के खण्डन से शंकराचार्य को उभयविध मतों का खण्डन अभिप्रेत है । *प्रश्नोपनिषद् भाष्य* में शंकराचार्य बौद्धों को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि यदि विज्ञान स्वयं के द्वारा नहीं जाना जाता है, तो वह स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता; लेकिन यदि विज्ञान वेद्य है तो वह स्वयं का वेदक कैसे हो सकता है ? यह किसी दूसरे विज्ञान से ही वेद्य हो सकता है, तब बौद्धाभिमत अनवस्था दोष से ग्रसित हो जायगा।[३०] पुनः यदि विज्ञान स्वयमेव अनुभूत होता है तो बौद्धाभिमत

में कर्तृ-कर्म विरोध की उपपत्ति होगी ।[३१] इस तरह बौद्धों की स्वयंप्रकाशता से अनुभव प्रकाश की व्याख्या नहीं हो सकती है । ज्ञान में आचरित विषय बोध और प्रतिबोधित स्वयंबोध के लिए दोनों का साक्षी स्वयंप्रकाश, स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्व को स्वीकार करना होगा, जिसकी समस्त प्रतीतियाँ विषय होती हैं, जो समस्त बोधों के समय जाना जाता है । ऐसे साक्षी चैतन्य की पृष्ठभूमि में ही समस्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय व्यवहार फलित होते हैं । इसलिए जब कोई ज्ञान होता है तो न ही तद्विषयक कोई संदेह रहता है और न तो उसके साक्षी को जानने की आवश्यकता होती है । क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मा सभी प्रतीतियों का नित्य साक्षी है । बौद्धों का क्षणिक विज्ञान स्वयं अपने ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साक्षी नहीं हो सकता , तो वह सर्वसाक्षी क्या होगा । इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत को आत्मा की स्वयंप्रकाशता में रूपान्तरित कर देते हैं ।

शंकराचार्यकृत उपर्युक्त आलोचनाओं की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि एक ओर शंकराचार्य बौद्धों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव बलात् ही आरोपित कर अनवस्था दिखाते हैं , तो दूसरी ओर वहीं कर्तृ-कर्म विरोध भी उपस्थापित करते हैं । एक ही प्रतिज्ञा में उपर्युक्त दोनों प्रकार के दोषों की उद्भावना स्वयं में विरोधग्रस्त है । यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव के कारण अनवस्था उपपन्न है, तो वहाँ कर्तृ-कर्म विरोध नहीं हो सकता ; लेकिन यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में कर्तृ-कर्म विरोध नहीं है, तो वहाँ अनवस्था प्रसंग भी नहीं होगा । वस्तुतः स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत इन दोनों ही दोषों से सर्वथा मुक्त है । स्वयं वाचस्पति मिश्र ने "न हि संवेदनस्य स्वरूपादन्यावृत्तिरस्ति" कहते हुए स्वसंवित्ति में कर्तृ-कर्म विरोध निराकरण किया है ।[३२] ऐसे ही "स्वसंवेदन" में "वेदन" पद से आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार विज्ञान अन्य की वित्ति का ग्राहक होता है, उसी रूप में वह स्वयं की वित्ति का भी ग्राहक है । सभी बौद्धेतर दार्शनिक स्वसंवेदन विषयक बौद्धाभिमत के इसी प्रारूप को ध्यान में रखते हुए इसकी आलोचना करते हैं। स्वसंवेदन का परिष्कृत स्वरूप इससे पूर्णतया भिन्न है । बौद्ध दर्शन के विकासात्मक इतिहास में स्वसंवेदन को त्रिविध प्रारूपों में देखा जा सकता है । प्रथम - विज्ञान इस अर्थ में स्वसंवित् होता है कि जब विषय का ज्ञान होता है, तो प्रतिचेतना के रूप में स्वयं की भी वित्ति होती है । यहाँ स्वसंवित्ति अर्थाभास पूर्वक स्वाभास है ।[३३] द्वितीय - विज्ञान इस अर्थ में स्वसंवित् होता है कि वह स्वसंवित्त होकर ही विषय को प्रकाशित करता है । यहाँ स्वसंवित्ति स्वाभास पूर्वक अर्थाभास है ।[३४] तृतीय - विज्ञान अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और स्वाभासपूर्वक अर्थाभास से पृथक् और परे अपने स्वस्वरूप में ही आत्मसंवित् है ।[३५] यही स्वसंवेदन का निरपेक्ष स्वरूप है । यहाँ ऐसा नहीं समझना

चाहिए कि बौद्ध दर्शन में स्वसंवित्ति विषयक तीन सिद्धान्त हैं। इन त्रिविध प्रारूपों को स्वसंवित् विज्ञान की ज्ञानमीमांसीय भूमिका और उसके तात्त्विक परिणति के मध्य त्रिविध सोपानों के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। नैयायिक, मीमांसक और अद्वैत वेदान्तियों की आलोचनायें केवल प्रथम प्रारूप के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हो सकती हैं। स्वसंवेदन का तृतीय प्रारूप जो उसका निरपेक्ष स्वरूप है, वह पूर्वोक्त सभी दोषों से मुक्त है। शान्तरक्षित ने स्वसंवित्ति की परिभाषा करते हुए "स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते। न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविदः ॥" कहा है।[३६] चित्सुखाचार्य ने अद्वैतमतेन "अवेद्यत्वे सति अपरोक्षवहार योग्यत्वम्" के रूप में स्वयंप्रकाशता का सर्वदोषमुक्त लक्षण प्रस्तुत किया है।[३७] इन दोनों परिभाषाओं में वेद्यत्व की अवस्थिति एक समान है, लेकिन दोनों परिभाषायें अपनी परम्परा की दार्शनिक योजना में चेतना के जिस तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तावित करते हैं, वह नितान्त भिन्न है। इतिविषयक विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्तियों की पारस्परिक ईर्ष्याजनक स्थिति दोनों का अपना-अपना गौरव है। अन्त में जहाँ तक साक्षी का प्रश्न है, तो स्वसंवित् क्षणिक विज्ञान अपनी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साक्षी कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिक विज्ञान त्रिविध उपक्षणों में विभाजित ही नहीं है, तथापि जिस प्रकार अद्वैतमत में स्वयंप्रकाश आत्म तत्त्व को किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं होती है, उसी प्रकार बौद्धों का क्षणिक विज्ञान भी स्वयं साक्षी तो हो ही सकता है। साक्षी को "सर्वसाक्षी" के रूप में स्वीकार करना अद्वैतवादियों का अपना गौरव है। इस गौरव भेद की खाई को पाटने में ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की कोई महत्त्वपूर्ण मध्यस्थ भूमिका हो सकती है - ऐसा प्रतीत नहीं होता।

- ६ -

इस प्रकार ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की संज्ञानात्मक भूमिका के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि अनुभव प्रकाश की व्याख्या के लिए यह अपेक्षित है। यदि ज्ञान स्वसंवित् है, तो वस्तुवादियों का यह तर्क कि ज्ञान किसी की अपेक्षा करता है जिसे वह जानता है, शक्तिहीन हो जाता है। इस तर्क के शक्तिहीन हो जाने से ज्ञान से परे और पृथक् वस्तु की सत्ता स्वीकार करने की बाध्यता तार्किक और निरपेक्ष न होकर मनोवैज्ञानिक बाध्यता में रूपान्तरित हो जाती है। ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तु की सत्ता की सिद्धि करने के लिए उस वस्तु की ज्ञात और अज्ञात स्थिति में तादात्म्य बताना आवश्यक है। इस तादात्म्य को बताने के लिए अज्ञात स्थिति में वस्तु को जानने की आवश्यकता होगी। ऐसा जानना बिना जाने हुए जानना है। वस्तुतः अज्ञात अवस्था में वस्तु की सत्ता का निषेध और स्वीकृति दोनों ही अनुपपन्न

हैं। यदि अज्ञात अवस्था में वस्तु की सत्ता का निषेध वस्तुवादियों की दृष्टि में "अहंकेन्द्रित दुरास्था" है, तो उसके विधान को भी विज्ञानवादी "वस्तु केन्द्रित दुरास्था" कह सकते हैं। इस वस्तु केन्द्रित दुरास्था से निकलने का प्रयास करते हुए वस्तुवादी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित करने के लिए स्वयं ज्ञान की ही एक अज्ञात अवस्था का पक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। "भारतीय वस्तुवाद" में नैयायिकों का "व्यवसाय" और मीमांसकों की "ज्ञातता" वस्तुवाद को ऐसा ही विलक्षण आधार प्रदान करने का सराहनीय प्रयास है। परन्तु ज्ञान को यथार्थता का प्रदर्शक सिद्धान्त स्वीकार करते हुए ज्ञान की ही एक अज्ञात अवस्था पर वस्तुवाद को स्थापित करने के लिए पुनः ज्ञान की अज्ञातावस्था को ज्ञानान्तर के द्वारा जानने की आवश्यकता होगी, जिससे वस्तु की चेतना और वस्तुसारूप्यविशिष्ट चेतना की चेतना के द्वारा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की पृथक्ता स्थापित हो सके। इस अभ्युपगम को अपनाने में अनवस्था दोष के कारण कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, यह पूर्वोक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट ही है। अतएव वस्तुवादियों की वस्तुकेन्द्रित दुरास्था अन्ततः दुरास्था ही बनी रहती है। इससे निकलने का वे जितना ही प्रयास करते हैं, उतना ही उलझते जाते हैं। वस्तु की सत्ता के प्रति एक सामान्य विश्वास ही उनकी मूल भित्ति बन कर रह जाती है। इसके विपरीत विज्ञानवादी ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। स्वसंवित् ज्ञान अहंकेन्द्रित दुरास्था को एक दिशा प्रदान करते हुए इस बात के लिए एक सामान्य आधार प्रदान करता है कि चेतना को आधारभूत तत्त्व मान कर समस्त संसार की व्याख्या चेतना की आद्यनियामकता में प्रस्तुत की जा सकती है। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता इसी सामान्य अर्थ में प्रत्ययवाद का पोषक सिद्धान्त है। यद्यपि प्रत्ययवादी दर्शनों के विशेष स्वरूप के निर्धारक घटक कुछ और हो सकते हैं तथापि विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्त दोनों ही परम्पराओं में स्वसंवित्ति या स्वयंप्रकाशता अनुभव प्रकाश की व्याख्या के लिए अपेक्षित अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ही प्रस्तुत होता है। वस्तुतः जिसके अभाव में अनवस्था उत्पन्न होती हो, बुद्धि उसका अध्याहार अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ही करती है। यह अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता चेतना के जिस किसी तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तावित करती है, वह वसुबन्धु की "विज्ञप्तिमात्रता" या धर्मकीर्ति की "अविभक्त बुद्धयात्मा" अथवा शंकराचार्य का "सच्चिदानन्द" या कुछ और भले हो, लेकिन ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की शर्त केवल इतनी ही है कि उसका निरपेक्ष तात्त्विक स्वरूप विषय और विषयी से परे होना चाहिए। विषय और विषयी दोनों परस्पर सापेक्षिक हैं। अतएव इन दोनों का पूर्ण निषेध ही स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् विज्ञान की स्वरूप स्थिति है।

डी।५।१११ मीर घाट
वाराणसी - २२१००१

अम्बिका दत्त शर्मा

टिप्पणियाँ

१. किसी वैचारिक योजना की आन्तरिक संरचना में असंगति इन्हीं तीन प्रकार के व्याघातों के कारण उत्पन्न होती है। उदयन - *आत्मतत्त्वविवेक* - सं. और अनु. पं. केदारनाथ त्रिपाठी (श्री विद्याप्रेस, वाराणसी) पृ. २२३-२२४

२. उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति। - शान्तिदेव - *बोधिचर्यावतार*, ९.१७.

३. एम. हतोरी - *दिग्नाग ऑन परसेप्शन*, पृ. २२९-३०.

४. धर्मकीर्ति - *न्या. बि.*, १.१०, सर्वचित्त चैत्तानामात्मसंवेदनम्.

५. धर्मोत्तर - *न्या. बि.टी.* १.१०, यस्मिन् रूपे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत् प्रत्यक्षम्। न च नीलस्य सतादिरूपत्वमनुगम्यते।

६. धर्मकीर्ति - *प्रमा. वा.* २.४८५, स्मृतेरप्यात्मवित् सिद्धा ज्ञानस्याः अन्य वेदने। और एम्. हतोरी - *दिग्नाग ऑन परसेप्शन*,पृ. ३०.१ कारिका ११-१२.

७. कुमारिल भट्ट - *श्लोक वा.* (औत्पत्तिक सूत्रे शून्यवादः) - ६४ - नैतदस्ति, त्वयैकं हि ग्राह्यं ग्राहकमिष्यते। न चैकस्यैवामात्मत्वे दृष्टान्तः कश्चिदस्ति ते।।

८. *वहीं*, ७३ - अभिन्नत्वं यदा चेष्टं ग्राह्यग्राहकवस्तुनोः। तदान्यतर संवित्तौ द्वयाकारं ग्रहणं भवेत्।।

९. शान्तिदेव - *बोधिचर्यावतार*, ९.१७ - २३.

१०. कुमारिल भट्ट, *श्लोक वा.* (औप्तत्तिक सूत्रे शून्यवादः) १८४ - व्यापृतं चार्थसंवित्तौ ज्ञानं नात्मानमृच्छति। तेन प्रकाशकत्वेऽपि बोधायान्यत् प्रतीक्ष्यते।।

११. *वहीं* - २४ - ज्ञानस्योत्पद्यमानस्य प्रतिबन्धो न कश्चन। न चाप्रकाशरूपत्वं येनास्याग्रहणं भवेत्।।

१२. *वहीं* - १८३ - न चाऽपि प्रतिबन्धेन कवलेनाऽग्रहो भवेत्। विशिष्टकारणाऽभावेप्यर्थो नैवाऽनुभूयते।।

१३. पार्थसारथी मिश्र - *शास्त्रदीपिका*, पृ. १५७ -१६१.

१४. प्रज्ञाकर गुप्त - *प्रमाणवार्तिक भाष्य* - प्रत्य. परि. २ - तुरंगस्य न भेदेऽस्ति गवादेरूपभिन्नता।

सङ्•गत्यभावान्न ज्ञानज्ञेययोरेव मिष्यते ।।

१५. *न्यायबिन्दुप्रकरणम्* - सम्पा. स्वा. द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, पृ. ३७-३८ - बोधस्य तु बोध रूपतयोत्पत्तिरेव स्वप्रकाशकत्वम्

१६. शान्तरक्षित - *तत्वसं.* १९१९ - विज्ञानं जड़रूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते । इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजड़रूपता ।।

१७. *वहीं* - २०१६ - ननु चार्थस्य संवित्तिर्ज्ञानमेवाभिधीयते। तस्यां तदात्मभूतायां को व्यापाराऽपरो भवेत् ।।

१८. *वहीं* - २०११ - स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते । न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविद: ।।

१९. *वहीं* - २०१९ - न हि तत्र परस्यास्ति प्रत्यासत्तिर्निबन्धनम् । यथा साकारविज्ञानपक्षेऽर्थप्रतिविम्बिकम् ।।

२०. शालिकनाथ - *प्रकरणपंचिका* - का. हि. वि. वि., पृ. १६८ - सर्वत्र प्रमातृ प्रमिति प्रमेयेषु त्रिषु संविदेकैव ।

२१. मतिलाल बी. के. - *परसेप्शन* - क्लारेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, पृ. १५३.

२२. उदयन - *परिशुद्धि* - बिब्लिओथिका इण्डि. , पृ. १२१.

२३. शान्तरक्षित - *तत्त्वसंग्रह* - २०२० - प्रकृत्या जडरूपत्वान्नस्यात्मानुभवो यदि । ज्ञानसंवेदनाभावात् परार्थानुभवस्तदा ।।

२४. प्रज्ञाकर गुप्त - *प्रमाणवार्तिकभाष्य* - काशी प्र. जायसवाल, पटना, पृ. ३५३.

२५. सुरेश्वर; *वार्तिक* - अ. ३. ब्रा. ४ - स्वमहिमनैवचन्नस्यात् ग्राहकादिततोन्यत:। न स्यात् अतिशयाभावात् नैव स्यात् अविशेषत: ।।

२६. *न्यायभूषणम्* - (सं.) स्वा.योगीन्द्रानन्द. पृ. १३८.

२७. वात्स्यायन - *न्यायभाष्य* - २.१.२० - न चास्ति व्यवहारान्तरमनंवस्थासाधनीयम्, येन प्रयुक्तोऽनवस्थामुपाददीतेति ।

२८. धर्मकीर्ति - *प्रमाणवार्तिक* - २.४८५ - दीर्घादिग्रहणं न स्याद् बहुमात्रानवस्थिते।।

२९. श्रीहर्ष - *खण्डनखण्डखाद्यम्* - हिन्दी व्याख्या - स्वा. श्रीहनुमान दास जी षट्शास्त्री, चौखम्भा प्रका. , पृ.४५

३०. *प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य* ४.२ - अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम् । स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थानिवार्या ।

३१. *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य* , २.२.२८ - न चार्थ व्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते स्वात्मनि क्रिया विरोघदेव ।

३२. *न्यायकणिका* - मेडिकल हॉल, काशी २६५.

३३. दिङ्‌नाग - *प्रमाण समु.* १.१० - स्वसंवित्तिः फलम् चास्य ताद्रूप्यात् अर्थनिश्चया । विषयाकार एवास्य प्रमाणम् तेन मीयते ।।

३४. धर्मकीर्ति - *प्रमा. वा.* २.४४४ - आत्मरूपं नो वेत्ति पररूपस्य वित् कथम्। सारूप्याद् वेदनाख्या च प्रागेव प्रतिवर्णिता।।

३५. धर्मोत्तर - *न्या.बि.टी.* १.१० - नास्ति च काचिद् चित्तावस्था यस्यात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षंस्यात्। येन ही रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्म संवदेनं प्रत्यक्षम् ।

३६. *तत्त्वसंग्रह* , २०११.

३७. *चित्सुखी* - हिन्दी अनु., स्वा. योगीन्द्रानन्द , पृ. ५.

आत्मा के ज्ञातृत्व- निषेध का रामानुज द्वारा खण्डन

रामानुज के अनुसार आत्मा न केवल ज्ञान स्वरूप है, अपितु ज्ञाता भी है। उनका तर्क है कि - "मै जानता हूँ" इत्यादि अनुभवों में आत्मा का ज्ञातृत्व स्वयं सिद्ध है। शंकर इस प्रकार के अनुभवों को सीप में रजत की प्रतीति की भांति मिथ्या और भ्रान्ति परिकल्पित निरूपित करते हुए आत्मा को केवल ज्ञान स्वरूप मानते हैं। उनका तर्क है - "चूंकि अनुभूति रूप आत्मा अपना कर्ता स्वयं नहीं हो सकता अतएव "मै मनुष्य हूँ" इत्यादि प्रतीतियों में आत्मा से अत्यंत भिन्न मनुष्यत्वादि विशिष्ट शरीर में आत्माभिमान जिस तरह अध्यस्त ज्ञान है उसी तरह से आत्मा में ज्ञातृत्व भी अध्यस्त ही है।

चूंकि "मै जानता हूँ" इस अनुभव में ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाले अहमर्थ की अनुभूति सुषुप्ति एवं मुक्ति की अवस्थाओं में नहीं होती अत: ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाला अहमर्थ, आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं है। इन अवस्थाओं में अहमर्थ की अनुभूति न रहने के कारण स्वभावत: ज्ञानमात्र रूप से आत्मा का अनुभव होता है। अत: आत्मा ज्ञान मात्र है ज्ञाता नहीं है।[१]

रामानुज शंकर की उक्त मान्यता का विरोध करते हुए कहते हैं कि ज्ञान मात्र अथवा विशुद्ध चैतन्य नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती। यदि विशुध्द चैतन्य अथवा संवित् की प्रतीति अथवा सिद्धि हो जाये तो उससे यह परिणाम निकलता है कि उसमें गुण हैं और यदि सिद्धि नहीं होती तो वह गगन कुसुमवत् असत् है।[२] अनुभूति, ज्ञान, अवगति, संवित् आदि सकर्मक हैं तथा आत्मा के धर्म विशेष हैं। " मैं घर को जानता हूँ " आदि अनुभूतियों में आत्मा के ज्ञातृत्व का स्पष्ट रूप से कथन किया जाता है। प्रत्येक अनुभूति में घटादि के रूप में हमें न केवल प्रमेय पदार्थ का ज्ञान होता है, अपितु उस अनुभूति के आश्रय के रूप में एक विचारशील ज्ञाता का भी अनुभव होता है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञातृत्व स्वयं सिद्ध है, क्योंकि आश्रयविहीन एवं ज्ञान मात्र की उपलब्धि असम्भव है,[३] ठीक उसी तरह जिस तरह

छेद्य और छेदनकर्ता के बिना छेदन क्रिया की सिद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार ज्ञान का अस्तित्व और उसका स्वत: प्रकाशित स्वरूप भी एक ज्ञाता अहमर्थ के ऊपर आश्रित है।[४] अत: आत्मा न केवल चित् स्वरूप है अपितु चैतन्य गुण युक्त भी है। चिद्रूपता ही उसकी स्वयं प्रकाशता है।[५] ऐसा हो नहीं सकता कि प्रभावान् द्रव्य न हो, किन्तु प्रभा पायी जाये।

रामानुज कहते है कि "अहम्जानामि" आदि अनुभवों में "मैं" शब्द से कहा जाने वाला अहमर्थ ही आत्मा है। ज्ञान तो केवल उसका धर्म है। यदि यह केवल ज्ञान मात्र होता है तो सबको " मैं ज्ञान हूँ " ऐसा ही अनुभव होना चाहिये था। किन्तु सभी "मैं ज्ञाता हूँ" ऐसा अनुभव करते हैं। अत: ज्ञाता रूप में अनुभूत होने वाला अहमर्थ ही आत्मा है।[६]

अद्वैती विद्वान् अजडत्व हेतु के द्वारा संवित् का आत्मत्व सिद्ध करते हुए कहते हैं कि संवित् ही आत्मा है, क्योंकि वह अजड है, जो अजड नहीं होता वह आत्मा भी नहीं होता, जैसे घट आदि। उक्त अनुमान में हेत्वाभास प्रदर्शित करते हुए रामानुज कहते हैं कि यदि अजडत्व का अर्थ अपनी सत्ता (विद्यमानता) के द्वारा प्रकाशित होते रहना है तो यहाँ पर पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष में सत्ता रूप साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा। क्योंकि अजडत्व आत्मभूत संवित् और अनात्मा दीपक आदि में भी पाया जाता है। चूंकि अद्वैत सिद्धान्त में संवित् से अतिरिक्त प्रकाश नामक धर्म नहीं स्वीकार किये जाने पर उक्त प्रकार के अजडत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रकाश नामक धर्म संवित् में स्वीकार किये जाने पर ही स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्व रूप अजडत्व स्वीकार किया जा सकता है और यदि संवित् में उस प्रकाश को स्वीकार किया जाय तो अद्वैत सिद्धान्त की मान्यताओं से विरोध होगा।[७] यदि कहें कि विद्यमान अवस्था में प्रकाश का न होना ही संवित् का अजडत्व है तो अजडत्व का यह लक्षण भी सुख दुख आदि में अतिव्याप्त होगा क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता कि सुख आदि रहें किन्तु उनकी प्रतीति न हो। इस पर यदि यह कहा जाय कि यद्यपि सुख आदि का प्रकाश विद्यमान अवस्था में होता है किन्तु दूसरे के लिए प्रकाशित होते रहने के कारण घट आदि के समान जड होने के कारण अनात्मा है, तो इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान क्या स्वयं अपने लिये प्रकाशित होता है? "मैं सुखी हूँ" इस प्रतीति के समान ही "मैं जानता हूँ" इस प्रतीति में भी ज्ञान का आश्रय ज्ञाता अहमर्थ ही प्रतीत होता है अत: अपने लिये प्रकाशित होना रूप अजडत्व संवित् में सिद्ध नहीं हो सकता।[८]

रामानुज कहते हैं कि आत्मा का ज्ञातृत्व सीप में रजत की मिथ्या प्रतीति

की भांति आध्यारोपित नहीं है, क्योंकि जब सीप में रजत की भ्रान्ति होती है तब उनमें सामानाधिकरण्येन अभेद की प्रतीति होती है, दोनो में धर्म धर्मी भाव की प्रतीति नहीं होती। किन्तु "मैं अनुभव करता हूँ" इत्यादि अनुभूतियों में अनुभूति अहमर्थ से अलग विशेषण-विशेष्य रूप से प्रतीत होती है। अत: इस विशेषण - विशेष्य रूप अनुभूति को अध्यास कैसे माना जा सकता है?[९] साथ ही साथ में रजत की मिथ्या प्रतीति में हमारा मिथ्या ज्ञान ही बाधित होता है हमारा ज्ञातृत्व बाधित नहीं होता। अत: ज्ञातृत्व का बाध न होने के कारण ज्ञातृत्व भी मिथ्या नहीं है।[१०] ज्ञान के विषय और उनके सुख दुखात्मक रूप अनुभव आते और जाते हैं किन्तु ज्ञाता सदैव एक सा रहता है।

शंकर मतानुयायी कहते हैं कि चूंकि - "मैं जानता हूँ" इस अनुभव में ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाले अहमर्थ की अनुभूति सुषुप्ति एवं मुक्ति की अवस्था में नहीं होता अत: ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाला अहमर्थ ,आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं है। इन अवस्थाओं में अहमर्थ की अनुभूति न रहने के कारण स्वभावत: ज्ञानमात्र रूप से आत्मा का अनुभव होता है। अत: आत्मा ज्ञान मात्र है, ज्ञाता नहीं।[११]

रामानुज अद्वैत वेदान्त की उक्त मान्यता का बलपूर्वक खण्डन करते हुए प्रगाढ़ निद्रा एवं मोक्ष की अवस्था में भी ज्ञाता अहमर्थ के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी मनुष्य सुप्तावस्था से जाग्रत् अवस्था में आने पर अपनी चेतना का इस प्रकार वर्णन नहीं करता कि "मैं अहम् भाव से रहित, ज्ञातृत्वज्ञेय आदि विषयों से रहित ज्ञान मात्र मैं अज्ञान का साक्षी हूँ।" सो कर उठने वाले का यही परामर्श होता है कि " मैं सुखपूर्वक सोया"। अर्थात् सुषुप्ति काल में भी सुख के अनुभवकर्ता एवं ज्ञाता के रूप में अहमर्थ की प्रतीति होती है। किन्तु उस अवस्था में प्रमेय पदार्थ की अनुपस्थिति के कारण उसका स्वरूप अभिव्यक्त नहीं रहता।[१२] यहाँ तक कि जब हम सुषुप्ति से जाग्रत् अवस्था में आते हैं और यह कहते हैं कि मैंने कुछ नहीं जाना तब भी ज्ञाता अहमर्थ के अनुवृत्ति के स्वरूप का निषेध नहीं होता। जागने पर जिसका निषेध किया जाता है वह ज्ञान के विषय (प्रमेय पदार्थ) हैं। यह अवश्य है कि प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में अहमर्थ का प्रकट रूप से अनुभव नहीं होता किन्तु केवल इतने मात्र से वह अविद्यमान् नहीं माना जा सकता। "मैं" रूप में अहमर्थ की निरन्तरता इस तथ्य से अनुमित है कि प्रगाढ़ निद्रा के पहले और पश्चात् भी वह अनुभव होता है इसलिये वह निद्रा के समय में भी विद्यमान होगा, क्योंकि आत्म-चेतना स्वयं भूत और भविष्य को निरन्तरता के रूप में लक्ष्य करती है। अत: यदि अहं प्रत्यय अहमर्थ का निद्रा में अभाव माना जाय तो अनुभव की निरन्तरता समझाई नहीं जा

सकती ।[१३]

शंकर स्वयं स्वीकार करते हें कि प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा अज्ञान के साक्षी के रूप में विद्यमान रहता है। किन्तु साक्षी उसे ही कहा जाता है जो किसी वस्तु का साक्षात् द्रष्टा हो । जो ज्ञाता नहीं वह साक्षी नहीं हो सकता ।[१४] रामानुज अपने कथन की पुष्टि में प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनी को उद्धृत करते हैं जिनके अनुसार साक्षात् ज्ञाता के अर्थ में ही साक्षी शब्द का प्रयोग होता है ।[१५] अत: ज्ञाता रूप से सिद्ध होने वाला अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है, ज्ञान मात्र नहीं । क्योंकि यह तथ्य सिद्ध है कि ज्ञाता के अभाव में ज्ञान और अज्ञान दोनों नहीं रह सकते । क्योंकि अज्ञान का आश्रय और विषय भी वही हो सकता है जो ज्ञान का भी आश्रय और विषय हो।[१६]

रामानुज मानते हैं कि मोक्ष के पश्चात् भी अहमर्थ तत्त्व विधमान् रहता है क्योंकि वह आत्मा का निर्देश करता है । यदि मोक्ष में मोक्ष को जानने वाला ही कोई नहीं तो वह कौन है जो मुक्त हुआ ? रामानुज कहते हैं कि ऐसी मुक्ति पुरुषार्थ स्वरूप न हो कर विनाश स्वरूप होगी और वह मोक्ष सम्बन्धी चर्चा से भी दूर भागेगा।[१७] मोक्ष में अहमर्थ का नाश नहीं होता अपितु भेद दृष्टि का ही नाश होता है । नानात्व और भेद अज्ञान जन्य नहीं अपितु अपने को ब्रह्म से स्वतंत्र और भिन्न समझना ही अज्ञान कृत है ।[१८] और मोक्ष में हमारा यही अज्ञान नष्ट होता है, ज्ञाता अहमर्थ का नहीं ।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि रामानुज जब ज्ञाता अहमर्थ को आत्मा कहते हैं तो उसे स्पष्टत: बड़ी सावधानी पूर्वक जड़ चित् तत्त्व अहंकार से पृथक् करते हैं जो प्रकृति का विकार है, जो अभिमान की मिथ्या भावना है । इसका दूसरा नाम गर्व है तथा यह बड़ों के प्रति अपमान का कारण बनता है । यह अविद्या-गत है तथा इसे शास्त्रों में अनेक रूप से हेय बतलाया गया है ।[१९] रामानुज कहते हैं कि यद्यपि "अहम् " शब्द के द्वारा अहंकार और आत्मा दोनों का अभिधान होता है, तथापि दोनों अर्थों के वाचक अहम् शब्द के स्वरूप और व्युत्पत्ति में अंतर है । "अहं शुभमोर्युस्" इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार एवं पदमज्जरीकार ने लिखा है - " अहम् शब्द दो तरह से बनता है । एक अहम् शब्द अस्मद् शब्द से अह् आदेश होकर बनता है । यह दान्त अहम् शब्द आत्मा का वाचक होता है । दूसरा अहम् शब्द मकारान्त अव्यय विभक्ति प्रतिरूपक है । यह मान्त अहम् शब्द अहंकार का वाचक है । ये दोनों एक से सुनाई पड़ते हैं फिर भी स्वरूपत: भिन्न हैं। दोनों को एक ही अर्थ का वाचक मानना व्याकरण शास्त्र के विरुद्ध है । [२०]

पुन: अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा ऐसा तर्क किया जाता है कि आात्मा अपरिणामी होने के कारण ज्ञान व्यापार का कारक और ज्ञाता नहीं हो सकता । अत: ज्ञातृत्व केवल अहंकार का ही धर्म है, जो परिणाामी प्रकृति का विकार है । अहंकार ही आत्मा को अपने आश्रय के रूप में प्रकाशित करता है , ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार दर्पण मुख को अथवा जल, चन्द्र बिन्दु को अपने भीतर प्रकाशित करता है । किन्तु जिस तरह हम दर्पण को मुख नहीं कह सकते, जल को चन्द्रबिन्दु नहीं कह सकते, उसी प्रकार अहंकार को आत्मा नहीं कह सकते । अद्वैती विद्वान् आगे कहते हैं कि यहाँ पर यह शंका अनुपयुक्त है कि स्वयं प्रकाश अनुभूति का अभिव्यंजक जड़ स्वरूप अहंकार कैसे हो सकता है , क्योंकि देखा जाता है कि जलकराध्र से किसी कक्ष में प्रवेश करने वाली स्वयं प्रकाश सूर्य की किरणों का करतल के द्वारा अभिव्यंजन होता है ।[२१]

रामानुज उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ज्ञातृत्व तो चेतना का धर्म है जबकि अहंकार जड, अचेतन, एवं विकारी है । अत: स्वभाव विरोध के कारण ज्ञातृत्व अहंकार का धर्म नहीं हो सकता ।[२२] इस पर यदि कहा जाय कि जिस प्रकार गवाक्ष से किसी कमरे में प्रवेश होने वाली स्वयं प्रकाश सूर्य की किरणों करतल के माध्यम से प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार जड़ अहंकार भी संवित् अथवा ज्ञान का प्रकाशक होता है तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि सूर्य की किरणों का प्रकाशक हथेली नहीं है । वस्तुत: करतल के द्वारा सूर्य की किरणों की गति रुक जाती है और वे किरणें अधिक मात्रा में वहीं पर एकत्रित हो जाती है, जिससे वे स्वयं वहीं पर अधिक स्पष्ट रूप में प्रतीत होने लगती है ।[२३]

उसी प्रकार अद्वैत वेदान्तियों द्वारा जो दर्पण और मुख का उदाहरण दिया जाता है वह भी उचित नहीं, क्योंकि दर्पण में मुखड़े का अभिव्यंजक तो प्रकाशादि ही है, दर्पण नहीं ।[२४] अत: स्पष्ट है कि ज्ञातृत्व अहंकार का धर्म नहीं हो सकता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा एक ज्ञाता है, केवल प्रकाश मात्र नहीं । ज्ञातृत्व परिणामी गुण नहीं है । आत्मा को ज्ञाता कहने का अभिप्राय यह है कि वह सज्ञान गुणाश्रय है । ज्ञान चूँकि नित्य आत्मा का नैसर्गिक गुण है अत: वह भी नित्य है । ज्ञान न केवल आत्मा का स्वरूप है , अपितु उसका गुण भी है । जिस प्रकार एक तेजोद्रव्य दीपक, प्रभा और प्रभावान् दोनों रूपों में पाया जाता है उसी प्रकार आत्मा भी न केवल ज्ञान स्वरूप है, अपितु ज्ञाता भी है ।[२५] इसे ही रामानुज वेदान्त में "धर्म - भूत ज्ञान " कहा गया है । धर्मभूत ज्ञान विषय और विषयी , पदार्थ

और ज्ञाता के बीच सम्बध स्थापित करने वाली एक कड़ी के रूप में स्वीकार किया गया है । जीव की समस्त प्रतीतियों का आधार उसका धर्मभूत ज्ञान ही है ।

चूंकि ज्ञाता रूप से आत्मा की नित्यता स्वयं सिद्ध है अतः उसके गुण के रूप में धर्मभूत ज्ञान भी स्वयं सिद्ध है, क्योंकि गुण और गुणी में अपृथक्-सिद्ध सम्बंध है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह सभी अवस्थाओं में एक ही समान प्रकाशित होते रहता है । कर्मों के कारण यह संकोच और विकास को प्रात होते रहता है । संकोच और विकास उसकी विक्रियात्मकता नहीं है क्योंकि आत्मा का ज्ञानक्रियाकर्तृत्वरूप विकास उसका स्वाभाविक धर्म नहीं हैं अपितु कर्म-जन्य है ।[२६] अतः आत्मा वस्तुतः अपरिवर्तनशील है ।

दर्शन विभाग **पृथ्वीबल्लभ चंद्राकर**
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर - ४९२ ०१०
म.प्र.

टिप्पणियाँ

१. *श्री भाष्य* - १ - १ - १ (महापूर्व पक्ष)

२. अपि च संवित् सिद्धयति वा न वा सिद्धयति चेत् सधर्मतस्यतः । न चेत् तुच्छतां गगनकुसुमादिवत् -*श्रीभाष्य* भाग - ३ पृष्ठ - ४१ (शाम सदन कटरा, अयोध्या से १५ खंडो में प्रकाशित)

३. संविन्नाम काचिन्निराश्रया निर्विषया वा अत्यंतानुपलब्धेर्नसम्भवतीत्युक्तम् -*श्रीभाष्य* भाग ३ - पृष्ठ - ४७.

४. छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत् - *वहीं* पृष्ठ - ४९.

५. एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्य गुणा इति । चिद्रूपता ही स्वयं प्रकाशता। *वहीं*, पृ. ५७.

६. *श्रीभाष्य* - १ - १ - १.

७. *श्रीभाष्य* भाग ३ पृष्ठ - ६२.

८. अतः स्वस्यै प्रकाशमानत्वरूप जडत्वं संविद्यसिद्धम्, तस्मात् स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन्नजडोऽहमर्थ एवात्मा । *श्रीभाष्य* - भाग ३ पृ. ६२.

९. इति प्रत्ययवद् विशेषणाभूतानुभूतिमात्रावलम्बनः कथमिव प्रतिज्ञायते ?*श्रीभाष्य* - भाग ३ - पृ.

- ६५.

१०. हन्तैवं सति तदबाधादेव ज्ञातृत्वमपि न मिथ्या । *वहीं*, - पृ. - ६७.

११. *श्रीभाष्य* १ - १ - १ महापूर्व पक्ष

१२. *श्रीभाष्य* , भाग - ३ - पृ ९१-९२

१३. मध्ये चाहमर्थाभावे संस्कारधारा भावात् प्रतिसंधानाभाव प्रसंगाच्च *शतदूषणी* - वेदान्त देशिक - वाद - २६.

१४. ज्ञातेव लोकवेदयो: साज्ञीतीति व्यपदियश्ते न ज्ञान मात्रम् - *वहीं*, पृ. ११.

१५. साक्षाद्द्रष्टारि संज्ञायाम् (पा. ५.२.९१) *श्रीभाष्य* , १-१-१ पर उद्धृत.

१६. संविदाश्रयत्वमज्ञानस्य संभवति, ज्ञान समानाश्रयत्वात् तत् । *वहीं*, पृ. ८५.

१७. *श्रीभाष्य* , १-४-२१

१८. *श्रीभाष्य*, १-४-२९

१९. अयमेव त्वहंकार उत्कृष्टनजावमानहेतुर्गर्वापरनाम, *श्रीभाष्य* भाग -३ पृ.१०८.

२०. *वहीं* , पृष्ठ - ११३

२१. *श्रीभाष्य* , १-१-१ महापूर्व पक्ष

२२. *श्रीभाष्य* , भाग ३ पृ. - ६८.

२३. *श्रीभाष्य* , भाग ३ पृ. - ६९

२४. *श्रीभाष्य* , भाग ३ पृ. - ८९.

२५. यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभावद्रूपेणावतिष्ठते ।*श्रीभाष्य* , भाग ३ पृ. ५५.

२६. स्वयम् परिच्छिन्नमेव ज्ञानं संकोचविकासार्हमित्युपपादयिष्याम: *श्रीभाष्य* भाग - ३ पृ. ७२.

अरस्तू की सामान्य की अवधारणा : एक विवेचन

यूनानी विचारक प्लेटो के द्वारा विचार की एक समस्या की प्रस्तुति हुई। इस समस्या का सम्बन्ध अनुभूति, विचार एवं भाषा की सार्विकता (जेनरालिटी) के आधार की खोज से था। प्लेटो ने पाया कि सभी अस्तित्ववान् पदार्थ विशेष हैं। प्रत्यक्ष के अन्तर्गत हमारा संपर्क भी इन्हीं विशिष्ट वस्तुओं से होता है, लेकिन यह भी सत्य है कि जबतक इन वस्तुओं को एक बृहत्तर संकल्पना के अन्तर्गत संगठित नहीं कर लिया जाता तबतक इनका पूर्ण ज्ञान संभव नहीं होता। प्रश्न उठता है कि इस बृहत्तर संकल्पना का स्वरूप क्या है? प्लेटो ने इस संदर्भ में सामान्य की अवधारणा को प्रस्तुत किया। यही सामान्य कालान्तर में दार्शनिक विचार- मंच पर एक उलझा हुआ प्रश्न बन कर उपस्थित हुआ। अरस्तू के सामान्य की अवधारणा प्लेटो की अवधारणा से सहमति की नींव पर अवस्थित विरोध की अवधारणा है। प्लेटो ने सामान्य के अस्तित्व को स्वीकृति प्रदान करने के क्रम में इन्हें स्व-पर्याप्त एवं आत्म-निर्भर मान कर विशेषों से इनकी पृथक्ता स्थापित करते हुए इनके लिए एक अलग दुनियां ही बसा ड़ाली। सामान्यों के अस्तित्व से अरस्तू को भी इन्कार नहीं है। इन्हों ने भी माना कि कोई सत्त्व है जिसके कारण सभी मनुष्य मनुष्य हैं तथा सभी गायें गायें हैं। इन्होंने यह भी स्वीकार किया की यह सत्त्व मनस्-सापेक्ष नहीं वरन् उतना ही वस्तुनिष्ठ और वास्तविक है जितना कि विशिष्ट वस्तु। इनकी समस्या मूलतः इस सत्त्व के स्वरूप, स्थिति तथा विशेष के साथ इसके सम्बन्ध की व्याख्या में निहित है। प्लेटो ने इस संदर्भ में उन्हें एक दिशा दिखलाई, लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि इस दिशा के अनुगमन में अरस्तू ने पाया कि प्लेटो के द्वारा सामान्य और विशेष की इस पृथक्ता ने 'सामान्य' के विचार को उलझनपूर्ण बना दिया। अरस्तू की दृष्टि में 'सामान्यों का लोक' प्लेटो की अपनी तत्त्वमीमांसीय कल्पना थी क्योंकि दो वस्तुओं के विचारक के मूल प्रतिपादक सुकरात ने भी कहीं इस पृथक्ता को स्वीकार नहीं किया है।[१] वस्तुतः सामान्य के स्वरूप और स्थिति के सम्बन्ध में अरस्तू का मतभेद था, और इसी मतभेद के प्रदर्शन में इन्होंने प्लेटो के सामान्य का खंडन कर इसकी नींव पर अपनी सामान्य की अवधारणा को प्रस्तुत किया।

अरस्तू के दर्शन में सामान्य की अवधारणा को तीन दृष्टिकोणों से स्पष्ट

किया जा सकता है :

स्वरूप के दृष्टिकोण से

प्लेटो ने सामान्य को द्रव्यकल्प स्वीकार किया था । अरस्तू की समस्या थी कि क्या सामान्य को इस रूप में स्वीकार किया जा सकता है ? द्रव्य का संप्रत्यय दर्शन में 'सत्' के साथ जुड़ा हुआ है । प्लेटो को भी यह मान्य था तथा अरस्तू ने भी इसे स्वीकार किया है । परन्तु ध्यातव्य है कि सत्ता की भी विभिन्न कोटियां हैं और निश्चयत: सभी कोटियों में अस्तित्ववान् वस्तुओं को द्रव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती । तब फिर किसे 'द्रव्य' कहेंगे ? इसके लिए हमें सत्ता की विभिन्न कोटियों को स्पष्ट करना होगा । अरस्तू ने 'केटेगरीज' में सत्ता की निम्न कोटियों को प्रकाश में लाया है :

एक कोटि की वस्तुएँ वे हैं जो दूसरों पर आश्रित होती हैं , अर्थात् इनका अस्तित्व किसी दूसरी वस्तु में होता है । इस कोटि की वस्तु वस्तुत: 'में होना' (बीइंग इन) के सम्बन्ध से दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्धित होती है जो कि 'एक तरफ निर्भरता के एक निश्चित सम्बन्ध' का संकेत करता है ।

इनसे भिन्न दूसरी कोटि की वस्तुएँ वे हैं जो विशेषण-रूप में अन्य वस्तुओं के साथ जुड़ी होती हैं । यहां वस्तु अन्य वस्तुओं के साथ ' के विषय में कहे जाने ' (बीइंग सेड आफ) के सम्बन्ध से सम्बन्धित होती है। जैसे सुकरात का मनुष्य होने के विषय में कहा जाना अथवा प्लेटो का 'बुद्धिमान्' होने के विषय में कहा जाना । यहां 'मनुष्य' तथा 'बुद्धिमान्' दोनों ही सामान्य हैं, जिनके होने के विषय में किसी व्यक्ति के संदर्भ में कहा जाता है।

यहां वस्तुओं के दो प्रकार सामने आते हैं :

(क) एक तो वह जो किसी 'में' हैं, लेकिन 'किसी के विषय में' कहे नहीं जाते, जैसे मुस्कान ।

(ख) दूसरे वह, ' जो किसी के विषय में कहे जाते ' हैं, लेकिन किसी ' में ' होते नहीं , जैसे सामान्य मनुष्य ।

क्या द्रव्य का अन्तर्भाव इनमें से किसी में संभव है ? हमें ध्यान रखना होगा कि अरस्तू के द्वारा 'द्रव्य' का प्रयोग दो अर्थों -- मूल एवं गौण अर्थो - में हुआ है। मूल (अर्थ में) द्रव्य वे हैं जो अभिधान में केवल कर्तृपद या उद्देश्य ही हो सकते हैं, वे न तो किसी उद्देश्य के विधेय हो सकते हैं और न किसी उद्देश्य पर आश्रित ही हो सकते हैं।[२] निश्चयत: द्रव्य का अन्तर्भाव इनमें से किसी भी कोटि में संभव नहीं है। इसकी सत्ता न किसी अन्य 'में' है, और न ही इसकी सत्ता किसी 'अन्य के विषय में कह जाने' में ही निहित है। इस रूप में द्रव्य न तो बाह्य शुद्ध प्रत्यय सिद्ध होता है, और न ही भौतिक द्रव्य। प्रत्यय निज रूप में स्थिर, स्थायी एवं अपरिवर्त्य है किन्तु वह सदा वस्तु में अन्तर्भाव्य है। इस प्रकार भौतिक द्रव्य आधार-मूल है, लेकिन, अरस्तू के विचार में,वह वस्तु में परस्परवैपरीत्य-लक्षणों वाले परिवर्तन की संभाव्यता के संदर्भ में ही एक निश्चित एवं विशिष्ट प्रकारता वाला तत्त्व बन कर प्रकट हो पाता है। प्रत्यय तथा भौतिक द्रव्य दोनों भावरूप हैं और इस तरह तात्त्विक हैं किन्तु सत् रूप में दोनों एक ही भाववत्ता को प्रकाशित करते हैं। यह भाववत्ता है -- एकांततः विश्लेष्य 'ठोस व्यक्ति' का संश्लेष। यही प्राथमिक अथवा मूलद्रव्य है, जैसे 'यह मनुष्य', 'यह घोडा' इत्यादि। अत: अरस्तू के अनुसार द्रव्य तीसरी कोटि का तत्त्व है। यही मूल सत् है क्योंकि अन्य सत्ताएँ या तो किसी 'में' हैं, अथवा 'इसी के विषय में कहे जातें' हैं। अरस्तू की दृष्टि में प्लेटो की गलती यह थी कि द्रव्य की व्याख्या में इन्होंने यहां तक तो सही माना कि यह किसी 'अन्य' में नहीं है, लेकिन इसी सीध में इन्हें यह भी स्वीकार करना चाहिए था कि द्रव्य किसी दूसरे के विषय में कहे नहीं जाते। प्लेटो ने ऐसा नहीं किया तथा सामान्य, जो 'दूसरों के विषय में कहे जाते हैं, को गलत ढंग से द्रव्य मानने की गलती कर बैठे।

अत: अरस्तू के अनुसार सामान्य द्रव्य नहीं है, लेकिन घ्यातव्य है कि अरस्तू जब इस प्रकार बात करते हैं तो उनके मस्तिष्क में मूल द्रव्य की धारणा विद्यमान है, जब कि इनके द्वारा 'द्रव्य' का प्रयोग गौण अर्थ में भी है जिसके अन्तर्गत इसका प्रयोग 'कोटि' अथवा कैटेगरी के अर्थ में हुआ है। 'कैटेगरी' का अर्थ है -- कथन में उद्देश्य के प्रति विधेय का विधान। विचार के अन्तर्गत उद्देश्य व्यक्ति-द्रव्य के साथ विधेय का विधान संप्रत्ययमूलक सामान्य पदों के द्वारा होता है। द्रव्य के इस अर्थ में कैटेगरी के रूप में जाति एवं उपजाति के संप्रत्ययात्मक सामान्य विधेय के एक प्रकार सिद्ध होते हैं। विधेय तत्त्वमूलक नहीं, वरन् गुणधर्ममूलक होते हैं, अत: अरस्तू के दर्शन में सामान्य गुणधर्म के रूप में स्पष्ट होते हैं। अरस्तू ने माना है कि सामान्य केवल एक गुणधर्म, सरल या जटिल, सहज या सम्बन्धज है, जो अपने उदाहरण - विशेषों में समान होता है। इसी गुणधर्म के कारण एक वस्तु वही वस्तु होती है, कुछ

अन्य नहीं । यहाँ कुछ बातें विशेष महत्त्व की हैं । सर्वप्रथम तो यह कि गुणधर्म होने के कारण सामान्यों को मानसिक संप्रत्यय मानने की गलती नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि यथार्थ में ये उतने ही वास्तविक एवं वस्तुगत हैं जितना कि विशेष। नीलत्व का गुणधर्म नीली वस्तुओं में वास्तविक रूप में विद्यमान है तथा कोई इसके सम्बन्ध में विचार करे अथवा न करे, यह नीली वस्तुओं में हर स्थिति में विद्यमान रहता है । यहां एक बात स्पष्ट होती है कि सामान्य वस्तुस्थित है - न कि वस्तु से पृथक् अथवा स्वतंत्र (जैसा कि प्लेटो ने मान रखा है) ।

यह स्पष्ट है कि अरस्तू के सामान्य-दर्शन की स्थापना प्लेटो की आलोचना की नींव पर हुई है । प्लेटो की आलोचना में अरस्तू ने माना कि प्लेटो की गलती यह थी कि इन्होंने द्रव्य तथा गुणधर्म के भेद को ध्यान में नहीं रखा, और इसी कारण ये दोनों को एक ही साथ द्रव्य तथा गुणधर्म एवं वस्तुओं के सादृश्य गुणों के पूर्ण आदर्श तथा सदृश गुण दोनों के रूप में विचार कर लेने की गलती कर कर बैठे । प्लेटो के दर्शन में चूंकि आकार पृथक् वस्तु है, इसलिए इसे 'व्यष्टि द्रव्य' स्वीकार करना होगा । पुनः चूंकि यह सामान्य भी है, तो इसे गुणधर्म के रूप में भी स्वीकार करना होगा । लेकिन तब एक ओर वही वस्तु द्रव्य तथा गुणधर्म साथ-साथ कैसे हो सकती है ? तर्कशास्त्र में भी हम पाते हैं कि उद्देश्य के साथ गुणरूप विधेय का विधान होता है, अतः यदि फॉर्म व्यष्टि-द्रव्य है तो यह सामान्य नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्य के गुणधर्म होते हैं ; न कि वह स्वयं गुणधर्म होता है और यदि वह सामान्य है तो वह द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य के द्वारा 'यह है' (दिस समथिंग) का संकेत नहीं होता, बल्कि इसके द्वारा 'यह इस प्रकार का है' (दिस सच) का निर्देश होता है । दोनों को घपला कर यहां प्लेटो ने एक तार्किक असंगति उत्पन्न कर दी है ।

लेकिन क्या इसी प्रकार की आपत्ति अरस्तू के ऊपर नहीं उठायी जा सकती कि इन्होंने भाषायी घपला कर मूल तथा गौण द्रव्य के बीच कोई वास्तविक भेद प्रस्तुत नहीं कर केवल वैयाकरणिक विभेद को प्रस्तुत किया है ? मूल द्रव्य संज्ञा शब्द है, जब कि यहाँ गौण द्रव्य (सामान्य) को विशेषण शब्द माना गया है, यद्यपि कि गौणद्रव्यों की तरह के शब्द 'जातिवाचक संज्ञा' के द्वारा निर्दिष्ट होते है ! क्या यहां भाषायी घपला नहीं है ? निश्चयतः नहीं, क्योंकि जब हम मूल द्रव्य की बात करते हैं, तो वहां प्रश्न उठता है 'यह क्या है ' ? जब कि गौण द्रव्यों के संदर्भ में हमारा प्रश्न रहता है 'यह है किस प्रकार का ' ? जब हम कहते हैं कि 'यह एक मनुष्य है' तो यह उत्तर प्रथम प्रश्न का उत्तर माना जाएगा , जब कि 'यह सफेद है 'को नहीं। 'मनुष्य ' हिन्दी व्याकरण में संज्ञा शब्द है, जब कि सफेद विशेषण । लेकिन ठीक

इसी प्रकार 'यह मानव है' को उत्तर रूप में गिना जाएगा , जब कि 'यह एक सफेद वस्तु है' को नहीं, यद्यपि कि यहां वैयाकरणिक स्थिति बिल्कुल उलटी है । अत: अरस्तू के प्राथमिक तथा गौण द्रव्यों के भेद को व्याकरण के जातिवाचक संज्ञा और विशेषण के भेद के साथ घपलाया नहीं जा सकता [३] । पुन: यहां यह भी उल्लेखनीय है कि प्लेटो के साथ सहमति रखते हुए अरस्तू ने भी माना कि सार्विक (जेनरल) शब्द, जिसके द्वारा सामान्य की अभिव्यक्ति होती है, वास्तव में एक व्यक्तिवाचक नाम होता है । वह एक और केवल एक ही वस्तु का नाम होता है, तथा उस वस्तु के साथ उसका वही सम्बन्ध होता है जो किसी व्यक्ति के स्वकीय नाम के साथ होता है। प्लेटो से अरस्तू की यहाँ भिन्नता इस कारण है कि प्लेटो के सिद्धान्त के अनुसार 'मेज' शब्द किसी विशेष देश और काल में स्थित वस्तु का नाम न होकर भी उस अदेशिक और अकालिक वस्तु का नाम है जिनसे सम्बन्ध होने के कारण ही सब मेज हैं, जबकि अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार 'मेज' न किसी दिक्कालिक वस्तु का और न किसी प्लेटोनी वस्तु का नाम होता, बल्कि सभी मेजों में समान एक अकेली विशेषता का नाम होगा। अत: अरस्तू के सामान्य विचार में कोई भाषायी घपला नहीं है, क्योंकि इनकी दृष्टि में 'मेज' भी एक व्यक्तिवाचक नाम है, हालाँकि यह नाम है गुणधर्म का । [४]

लेकिन तब भी एक प्रश्न उपस्थित होता है। अरस्तू ने सामान्यों को दूसरी कोटि की वस्तु मानते हुए माना है कि इनका अस्तित्व किसी (द्रव्य) 'के विषय में कहे जाने' में होता है । क्या यहाँ ऐसा प्रतीत नहीं होता कि अपने इस सिद्धान्त में अरस्तू ने प्लेटो के 'आत्म स्थित सामान्य तथा परतंत्र विशेष' के बदले 'आत्म निर्भर विशेष तथा परनिर्भर सामान्य' का विचार प्रस्तुत कर प्लेटो का केवल विरोध भर कर दिया है ? इसके उत्तर में अरस्तू के सामान्य एवं विशेष की परस्पर स्थिति को प्रकाश में लाना होगा ।

स्थिति के दृष्टिकोण से

यह ठीक है कि अरस्तू ने माना है कि सामान्यों की स्थिति विशेषों में होती है , तथा विशेषों से अमूर्तीकरण की प्रक्रिया द्वारा इनका संप्रत्यय हमें प्राप्त होता है। अब जबकि सामान्यों की स्थिति विशेषों में होती है, अत: बिना विशेष के सामान्य नहीं हो सकते, वहीं साथ ही यह भी सत्य है कि सामान्यों के बिना विशेष भी नहीं हो सकते । दोनों ही अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं । अत: यह नहीं कहा जा सकता कि अरस्तू ने अपने सिद्धान्त में विशेष स्थिति-निरूपण के बजाए प्लेटो का केवल सीधा विरोध भर कर दिया है । सत्य यह है कि इस सिद्धान्त ने वस्तुवाद

को एक नयी दिशा प्रदान की है । वस्तुत: जिस भाव में प्लेटो ने प्रत्यय-रूप सामान्यों की स्वपर्याप्तता एवं आत्मनिर्भरता की बात की थी, अरस्तू ने कहीं भी व्यष्टि द्रव्य को उस भाव में अस्तित्व के लिए स्वपर्याप्त एवं आत्म-निर्भर नहीं माना है । प्लेटो ने मान लिया था कि विशेष सामान्य पर आश्रित है, लेकिन सामान्य सभी विशेषों से स्वतंत्र होकर तटस्थ भाव से अस्तित्व रखते हैं । अत: सामान्यों की सत्ता तब भी बनी रहेगी, जब उदाहण रूप में एक भी विशेष नहीं रहेंगे । अरस्तू ने कहीं भी इस प्रकार का भाव प्रस्तुत नहीं किया है । इन्होंने कभी भी यह नहीं माना है कि जब एक भी सामान्य नहीं होंगे तब भी विशेषों की सत्ता बनी रहेगी । इनकी तो यह मान्यता है कि इस प्रकार की स्थिति में विशेषों की सत्ता तो दूर, इनका विचार तक संभव नहीं होगा । अब जब कि अपने अस्तित्व के लिए सामान्यों को विशेषों की उतनी ही जरूरत है, जितनी कि विशेषों को सामान्यों की, अत: अरस्तू के विचार में सामान्य तथा विशेषों में अपृथक्ता पायी जाती है । वस्तुत: सामान्य और विशेष परस्पर अभिन्न रूप में एक दूसरे से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं । अरस्तू के इस विचार की महत्त्वपूर्ण परिणति इस तथ्य में होती है कि उदाहरणों (विशेषों) के बिना सामान्य नहीं होते ।

सामान्य का ज्ञान

ज्ञान की दृष्टि से सामान्य शुद्ध ज्ञान का विषय है । ज्ञान की अभिव्यक्ति सामान्य में होती है । लेकिन इसका बोध किस प्रकार संभव है ? प्लेटो की भाँति अरस्तू को भी सामान्य के ज्ञान में बुद्धि का मूल योगदान स्वीकार्य है । लेकिन प्लेटो ने जिस पूर्व अस्तित्व की अवधारणा के आधार पर सामान्य के ज्ञान में 'संस्मरण का सिद्धान्त' प्रस्तुत किया है, उससे अरस्तू की असहमति है । अरस्तू के विचार में सामान्यों का ज्ञान बौद्धिक अन्त:प्रज्ञा की देन है । इस अन्त:प्रज्ञा का तात्पर्य विशेषों में सामान्य के साक्षात्कार से है, लेकिन इस साक्षात्कार का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि सामान्य का ज्ञान अपाकर्षित ज्ञान है । यह ठीक है कि अरस्तू के अनुसार सामान्य का संप्रत्यय विशेषों से अपाकर्षण की प्रक्रिया से प्राप्त होता है । लेकिन इससे इसके ज्ञान-प्राप्ति की बात नहीं की जा सकती । अपाकर्षित ज्ञान कभी भी निश्चित नहीं हो सकता । सामान्य का ज्ञान तो आगमन की देन है [५]। लेकिन यहां ध्यातव्य है कि अरस्तू के अनुसार आगमन केवल अनुसंधान विधि है, जिसके द्वारा किसी सामान्य पर हमारा ध्यान संकेन्द्रित भर होता है । उसके द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती । इसे सिद्ध करने की आवश्यकता भी नहीं है, यह तो मानव के बौद्धिक अंत:प्रज्ञा की देन है ।

किन्तु यहां उल्लेखनीय है कि सामान्यों के ज्ञान में इन्द्रियानुभव की भूमिका को भी अरस्तू ने माना है । सामान्य पद जातिबोधक हैं, तथा जाति का सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं के सतत अनुभव से है जो एक उपजाति के हों ।[६] इस तरह की वस्तुओं का अधिग्रहण अरस्तू के अनुसार अनुभव के आधार पर ही संभव है । आनुभविक अधिग्रहण की विविध क्रमिक हैं : इन्द्रियमूल संवेद, जिनका कारण बाह्य उद्दीपन हैं, इन संवेद्यों पर सतत पुनरावर्तनशील स्मृतियों से बने विशिष्ट इन्द्रियानुभव , इन इन्द्रियानुभवों पर बौद्धिक अपाकर्षणकी प्रक्रिया से उद्‌भूत स्थिरता का प्रत्यय, जो विषय-वस्तु की घटनात्मकता अथवा आकस्मिकता से लक्षणों में बिल्कुल विपरीत है । यह प्रत्यय ही अपने स्थिर वस्तुनिष्ठ रूप में 'परिभाषा' है, जिसकी संरचना में पारिभाषित की जाति को उसकी उपजातिगत विशिष्टता से निर्धारित करने का स्पष्टीकरण होता है । अत: अनुभव की महत्ता अरस्तू को भी मान्य है, लेकिन साथ ही वे यह भी मानते हैं कि अनुभव ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, यह ज्ञान को केवल निर्देश अथवा संकेत करता है । ज्ञान तो, अरस्तू के अनुसार हमारी आत्मा का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आता है, इसे विकसित करने के लिए इन्द्रियानुभव की आवश्यकता पड़ती है, इन्द्रियानुभव के बाद हमारी बुद्धि उसमें सामान्य और सार्वभौमिक सिद्धान्त का आगमन द्वारा अनुसंधान कर लेती है ।

अरस्तू की कठिनाईयाँ

लेकिन क्या यह आवधारणा कठिनाईयों से मुक्त है ? सामान्य के ज्ञान की व्याख्या में आगमन जैसी नयी विधि की स्थापना के बावजूद वास्तव में अरस्तू की मीमांसा को प्लेटो की मीमांसा से न्यूनाधिक ही भिन्न माना जाएगा। अन्त:प्रज्ञा को यहां भी मूल में रखा गया है । प्लेटो की तुलना में निश्चयात्मकता लाने के उद्देश्य से अरस्तू की मीमांसा में इन्द्रियानुभव पर विशेष बल दिया गया है, लेकिन प्रज्ञा की तुलना में उसका स्थान द्वैतिक, सेकेण्डरी है । प्रश्न उठता है कि क्या प्रज्ञा के आधार पर कोई तथ्यात्मक ज्ञान संभव है ? तथ्यात्मक ज्ञान से तात्पर्य आवृत्तीय , सार्वजनिक तथा संज्ञापनीय अनुभव से लगाया जाता है । क्या अन्त:प्रज्ञा इस प्रकार के तथ्यात्मक ज्ञान की व्याख्या कर सकती है, जबकि अन्त:प्रज्ञा न आवृत्तीय है, न सार्वजनिक और न संज्ञापनीय ही । वस्तुत: प्रज्ञा के आधार पर न तो कोई तथ्यात्मक ज्ञान संभव है, और न इसके आधार पर अतिवैयक्तिक वस्तुनिष्ठता की स्थापना ही हो सकती है । अत: ज्ञान के धरातल पर अन्तर्ज्ञान न किसी क्षेत्र का तथ्यात्मक ज्ञान दे सकने में सक्षम है और न मनोवैज्ञानिक रूप से असंदिग्ध तथा तार्किक रूप से अनिवार्य ज्ञान प्रदान कर सकने में ही। ऐसी स्थिति में अन्त:प्रज्ञा के बल पर सामान्यों के जिस निश्चित और वस्तुनिष्ठ ज्ञान को स्थापित करने का प्रयास अरस्तू के सिद्धान्त

में प्राप्त होता है, उसे संगत मानने में कठिनाई दृष्टिगत होती है ।

पुनः प्लेटो की तरह ही अरस्तू के सिद्धान्त की एक कठिनाई इसकी बोधगम्यता के सम्बन्ध में है । अरस्तू का यह सिद्धान्त हमें यह मानने के लिए कहता है कि अनेक उदाहरणों में कोई चीज समान होती है, यह चीज एक लक्षण या गुणधर्म है, और हमें इसी को सामान्य कहना है । लेकिन समस्या यह है कि 'अनेक उदाहरणों में समान लक्षण' का अर्थ क्या है ? यदि परिवार के सभी व्यक्तियों के बाल सफेद हों, अथवा दो भिन्न किस्मों के बालों के बीच यह समान लक्षण हो कि दोनों मीठे हैं, तो क्या इसी अर्थ में अरस्तू ने इस कथन को समझा है ? निश्चयतः किसी चीज के अनेक अन्य चीजों में समान होने अथवा उनके सहभागी होने के प्रत्यय को विविध तरीकों से समझा जा सकता है । दो या अधिक व्यक्ति गर्मी पाने के लिए पास-पास सटे हुए लेट कर उसी खाई के सहभागी हो सकते हैं इस अर्थ में कि वे उसके एक ही भाग के नीचे समट जाते हैं । वे एक ही आग के, एक ही कमरे के, एक ही मेज इत्यादि के सहभागी हो सकते हैं इत्यादि । स्पष्ट है कि 'सहभागी होना' अथवा 'समान होना' का प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है । लेकिन यहां उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त उदाहरणों में जिस चीज में सहभागिता बतायी जाती है, अथवा जो चीज समान कही जाती है, वह उतनी ही एक विशेष होती है, जितने सहभागी व्यक्ति । अतः इनमें से कोई भी प्रत्यय किसी लक्षण के अनेक उदाहरणों में समान होने के अरस्तवी प्रत्यय को स्पष्ट करने में सहायक नहीं होगा, क्योंकि इस प्रत्यय में उदाहरण तो विशेष हैं, लेकिन लक्षण प्रकटतः विशेष नहीं है । और इसके फलस्वरूप से किसी भी प्रयोग को, जिसमें समान बात एक विशेष होती है, निकाल दिया जाए, तो यह समझना कठिन हो जाएगा कि तब 'अनेक उदाहरणों में समान लक्षण' का कौन-सा अर्थ है। वस्तुतः यदि जिस बात में वस्तुएं सदृश है कि वह उनमें समान एक अकेला लक्षण है, तो जब तक हम यह नहीं जान लेते कि उनमें किसी लक्षण का समान होना क्या होता है, तब तक हमारे अभिज्ञान में किसी वृद्धि की बात स्वीकार नहीं की जा सकती । अरस्तू इसे स्पष्ट करने में असफल रहें हैं, और यही कारण है कि उनका सिद्धान्त दुर्बोध दृष्टिगत होता है ।[७]

अरस्तू के सिद्धान्त की इन कठिनाईयों ने सामान्य के विवेचन को विकास की दिशा प्रदान की । ग्रीक युग की वह समस्या विकास के क्रम में मध्ययुग की प्रमुख दार्शनिक समस्या के रूप में प्रस्तुत हुई ।

रवीन्द्र कुमार

दर्शनशास्त्र विभाग,
बी.एन.कालेज, पटना,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

संदर्भ सूची

१. ऑरिस्टॉटल; *मेटाफिजिक्स* : बुक एम, १०७८ व २८ , अनु. हिप्पोक्रेटस, जी.एपोस्ल , लन्दन, इन्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, १५६६ , पृ.

२. *द कैटेगरीज* : *द फिलासफी ऑफ ऑरिस्टॉटल* , अनु., वार्डमेन एवं क्रीड, मेन्टर क्लासिक १५६३. पृ १३७

३. स्ट्रेनलैण्ड, एस. : *युनिवर्सल्स*, द मैक्मिलन प्रेस लि. १५७८ पृ. १३

४. *ज्ञान मीमांसा परिचय* : ए.डी. वूजले, अनु. , डा. गोवर्धन भट्ट , पटना, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १५७१, पृ. ७७

५. *अनालिटिका पोस्टीरियरा* : *'रिडिंग्स इन एपिस्टेमॉलोजी* . (से.) रेथिनाल्ड पी.ओ.नील, एस.जे. प्रेन्टिस हाल, १५६२. पृ.१७ ।

६. अरिस्टॉटल; *मेटाफिजिक्स* : ४:२८ . १०२४ ब।

७. *थ्योरी आफ नालेज : ऍन इण्ट्रोडक्शन* : वूजले. ए. डी. पृ.८०-८२.

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) **Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-**

S.V. Bokil (Tran) **Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-**

A.P. Rao, **Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-**

Ramchandra Gandhi (ed) **Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-**

S.S. Barlingay, **Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-**

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) **The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-**

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) **Studies in Jainism, Rs.50/-**

R. Sundara Rajan, **Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-**

S.S.Barlingay (ed), **A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-**

R.K.Gupta, **Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-**

Vidyut Aklujkar, **Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-**

Rajendra Prasad , **Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-**

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

वैज्ञानिक का धर्म

मनुष्यों की वैज्ञानिक जाति सदैव अज्ञेय को जानने की, रहस्यों को खोजने की, ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासु रही है । ऐसे परम ज्ञानी लोग ज्ञान की भूख शान्त करने के लिए तथा असन्तोषों को दूर करने के लिए सदैव ही तत्पर रहे हैं । इतिहास ऐसे ज्ञानी लोगों के नाम अंगुलियों पर गिनने योग्य ही बनाता है । सुख, शान्ति या सन्तोष सापेक्षिक शब्द हैं । जिन चीजों या वस्तुओं या बातों से एक व्यक्ति को आत्मतुष्टि मिलती है, सम्भव है, अन्य साथियों या सहकर्मियों के लिए ऐसा न हो । न केवल इतना ही बल्कि समय तथा स्थितियाँ बदलने पर उसी व्यक्ति को भी आत्मतुष्टि न मिले, या मिले भी तो उसी मात्रा में नहीं । इसीलिए आत्मतुष्टि को एक विशिष्ट मानसिक स्थिति कहा है ।

एक बात और, इन वैज्ञानिकों ने इस प्रक्रिया को अपने तक ही सीमित नहीं रखा, अपने समकालीन विचारकों पर भी इनकी विचारधारा का प्रभाव पड़ा - उन्होंने इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाया । वैज्ञानिक आत्मतुष्टि के लिए ही वैज्ञानिक है, वह सन्तों-योगियों की भांति स्वार्थी भी है, वह बिना शरीर की परवाह किये उत्सुकता शान्ति के प्रयासों में संलग्न है, वह शान्ति पाना चाहता है, वह वहाँ पहुँचना चाहता है, जहाँ पहुँच कर उसे जिज्ञासा तथा इच्छा का बोध ही न हो । मार्ग कितना विस्तृत , लम्बा तथा विहड़ है ? क्रमशः आगे बढ़ने पर उसे सन्तोष की झलक मिल ही जाती है ।

वैज्ञानिकों का वर्गीकरण :

वैज्ञानिकों को दो भागों में बांटा जा सकता है :

१. भौतिक उन्नति से जुड़े वैज्ञानिक

ये वैज्ञानिक पूर्णतः सांसारिक हैं । पंच तत्त्वों से बने कोई भी वैज्ञानिक इन्हें समझ सकता है । इनमें प्राप्त जिज्ञासा, उत्सुकता, इच्छा तथा भावना उसी स्तर की तथा उत्कृष्टता लिये हुए है जितनी समाज के साधारण मनुष्यों की जो सामान्य

सूझबूझ से काम करते हैं । ऐसे वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष रहते हुए शोध पर आधारित निष्कर्ष ही समाज के सामने प्रस्तुत करते हैं, वे अपनी मनोदशा से प्रभावित भी नहीं होते हैं ।

२. सत्यान्वेषणी वैज्ञानिक

दूसरी श्रेणी के वे वैज्ञानिक हैं जो विज्ञान को ही साध्य मानते हैं तथा भौतिक या पार्थिव उन्नति को उसकी प्राप्ति का साधन । कुछ अंशों में इन्हें जीवन-विज्ञानी कहा जा सकता है । सत्यान्वेषण के लिए तीव्रता तथा लगन इनके गुण हैं । इनकी आत्मा , इनका मन सदैव ही अतृप्त रहता है, ये कभी पूर्ण सन्तोष की स्थिति में नहीं आते, क्रमश: प्रयत्नशील रहते हुए ही ये अपनी इहलीला समाप्त कर लेते हैं ।

यह कहना बहुत कठिन है कि कौन किस वर्ग का वैज्ञानिक है ? जिस प्रकार बुद्धिमान मनुष्य कुछ स्थितियों में मूर्खों जैसी बातें या कार्य करते हैं या इसके उल्टे उदाहरण भी देखने में आते हैं, ठीक उसी प्रकार वैज्ञानिकों के सन्दर्भ में दूसरे वर्ग की विशेषताएँ भी पाई जा सकती हैं । इसी कारण इन्हें बड़ी बारीकी से पृथक् पृथक् वर्गों में नहीं रखा जा सकता । यह भी सम्भव है कि भिन्न भिन्न समय में इन गुणों का अनुपात बदल जाय और यह भी निश्चित नहीं कि यह अनुपात जीवन भर बना ही रहे ।

वैज्ञानिक, मनुष्य के रूप में उसी धर्म के आधीन है,उसकी इच्छाएँ तथा कर्तव्य भी सामान्य मनुष्य के समान हैं, उसमें तथा अन्य मनुष्यों में कोई भेद नहीं होना चाहिए । वैज्ञानिक भी वैज्ञानिक होने के पूर्व मनुष्य ही है । अन्तर है तो मात्र इतना ही कि वैज्ञानिक एक साधारण मानव के धरातल से ऊपर उठ चुका है - उसका विकास अधिक समय लेता है, अधिक जगह घेरता है, उसकी बातचीत का क्षेत्र विस्तृत होता है ।

जिस प्रकार संत सब कुछ भूल कर, यहाँ तक कि स्वयं अपना अस्तित्व भी, लोक-कल्याण के लिए निकल पड़ता है उसी भाँति वैज्ञानिक भी प्रकृति का रहस्य जानने तथा उसकी जिज्ञासा शान्त करने में आत्म- सन्तोष अनुभव करते हैं ।

सुख या सन्तोष कुछ नहीं, मन की स्थिति है । समाज का एक मनुष्य धन तथा सत्ता, नौकर, चाकर, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य की चाहना करता है तभी एक वैरागी इन सबको , कष्टों का कारण मानता है तथा इच्छा तो दूर, उसे त्याग देता है । इसीलिए कहा है कि सुख मनुष्य के मानस की वस्तु है, यह उसके सोचने का तरीका

है। दूसरे के शब्दों में यह उनके मन की विशिष्ट अवस्था का नाम है जिसमें वह अपने मन, हृदय तथा इन्द्रियों का अस्तित्व भी भूल जाता है। जिस किसी क्रिया में वह संलग्न है, ऐसा होने पर उसे दैनिक जीवन के क्रियाकलापों से विमुख तो नहीं कह सकते बल्कि उसे कर्तव्य पालन का ही एक विशिष्ट आनन्द प्राप्त होता है। क्या इस अवस्था में उसके मन एवं शरीर की एकता में पाठकों को सन्देह हो सकता है?

जो मनुष्य लोक कल्याण के लिए संत के रूप में संसार से विरत हो जाता है, क्या उसे संसार छोड़ देने पर पहाड़ों या गुफाओं में , अकेले रहते हुए सांसारिक दुःख याद नहीं आते, क्या संसार की ओर उसका ध्यान नहीं जाता ? ऐसा होने पर क्या वह जड़त्व की स्थिति में नहीं पहुंच गया है ? इसके विपरीत मन तथा शरीर से एक साथ आवाज निकलने पर क्या परम सुख प्राप्ति की स्थिति नहीं है ?

सांसारिक या सामान्य मनुष्य को सुख प्राप्ति के लिए कई कार्यों को रोकना पड़ता है, आदतों पर रोक लगानी पड़ती है, आदतों पर काबू पाना होता है, काबू में करने के लिए बल प्रयोग करना पड़ता है जिससे शरीर में विरोध उत्पन्न होता है तथा यह विरोध ही दुःख का कारण बनता है। परंतु जैसा ऊपर बताया गया है कि मन तथा शरीर के एकाकार होने पर यह विरोध लोप हो जाता है। इस स्थिति को विद्वानों ने आत्मानुशासन कहा है। पहले यह आत्मानुशासन की स्थिति प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होती थी जबकि अब बिना प्रयत्नों के सहज ही प्राप्त हो जाती है। अपने अस्तित्व को भूल कर या उसे विस्मृत कर मनुष्य जिस मार्ग पर चल पड़ता है यदि उसकी बाह्य क्रियायें मन के अनुरूप हैं तभी वह परम शान्ति तथा परम सुख का पात्र बनता है। इस प्रकार शरीर तथा मन की समन्वित क्रियाओं के फलस्वरूप प्राप्त आत्म-सन्तोष ही परम सुख है।

यह मानना त्रुटिपूर्ण होगा कि सुख एकदम सर्वथा वैयक्तिक विचार है तथा समाज का उससे कोई लेनादेना नहीं है। क्या सुख की समाज से परे कल्पना की जा सकती है ? बिना समाज के सुख का कोई अर्थ नहीं है। सुख क्या है ? किसे सुख कहा जाय ? केवल व्यक्ति ही उसे निश्चय करता हो, ऐसा नहीं है। व्यक्ति के साथ ही समाज की दृष्टि से भी इस पर विचार करना सामान्य रूप से जरूरी है।

यदि कोई मनुष्य पानी से भरे तरणताल में तैर कर प्रसन्नता पाना चाहता है, अपने शरीर को हल्का फुलका बनाना चाहता है, वह एक व्यक्ति के रूप में यह निर्णय ले सकता है, वह पानी में कूद भी सकता है पर यदि उसे तैरना नहीं आता है तथा दुर्भाग्य से डूब कर मर जाता है तो समाज भी विपत्तियों में फँस सकता है। इस प्रकार उसका वैयक्तिक सुख समाज से भी अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। दूसरा

एक और उदाहरण लिजिए । कोई आदमी चाहे तो अपना हाथ काटने का निर्णय ले सकता है, इसे वह अपना अधिकार समझ रहा है , वह स्वतंत्र है , पर क्या वह ऐसा करने के लिए तदनुरूप निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र है ? कानून इसकी स्वीकृति नहीं देता है । कारण कि मनुष्य समाज का सदस्य है तथा सम्भव है, कालान्तर में वह कालिदास या बाल्मिकी बन जाय, पर यदि वह हाथ काट ले तो समाज कालिदास या बाल्मिकी से वंचित रह जाएगा जो समाज की बहुत बड़ी अपूरणीय क्षति होगी। इस प्रकार आदमी के सुख दुःख उसके क्रियाकलाप समाज से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए है । हां, यह माना जा सकता है कि किसी भी सुख या सन्तोष में मनुष्य तथा समाज के योगदान, उनके हिस्सों में अन्तर हो सकता है । यह भी सम्भव है कि समाज द्वारा बताई गई सीमाओं से आगे भी मनुष्य जाना चाहे । यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या ऐसा सुख समाज सम्मत या समाज से अनुमोदित होगा ?

आज जो असन्तोष, अशान्ति ,सन्देह तथा दुःख है क्या यह अद्यतन प्राप्त ज्ञान का फल नहीं है ? नहीं, ऐसा नहीं है । अशान्ति या सन्देह के निवारण की ओर बढ़ना, प्रयत्न करना ही सन्तोष या सुख प्राप्ति की ओर कदम बढ़ाना है । असन्तोष की स्थिति में सतत आगे बढ़ना अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराता है।

संसार की निरर्थकता, अर्थहीनता जिसने जान-समझ ली है या अनुभव कर ली है, वह प्रचलित मूल्यों, सांसारिक रीतिरिवाजों , भौतिक विचारों, बाह्य आडम्बरों को त्याग देता है, वह व्यक्ति इन बातों से ऊपर उठ जाता है, वह इन सब पर विश्वास भी नहीं करता है, फिर चाहे समाज या संसार उसे पागल ही कहे । इसीलिए वैज्ञानिक विचारों तथा विश्वासों पर नहीं चलते, वे प्रयोग कर के देखते हैं, तभी सिद्धान्तों को मंजूर करते हैं । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि श्रद्धा, विश्वास तथा निष्ठा सांसारिक लोगों के विचार क्षेत्र की वस्तु है पर जो चेता या विचारक सांसारिक मूल्यों को गलत या सत्यता से परे कह कर त्याग चुके हैं, वे उनसे संचालित नहीं होते, वे उनसे बंधे नहीं रह सकते, वे श्रद्धा, निष्ठा या विश्वास से निर्देशित नहीं होते, वे तो उनका निर्माण करते हैं ।

सामान्य नागरिक श्रद्धा या निष्ठा का अर्थ अंधविश्वास, रूढियाँ, अंधभक्ति, अनुदारता, तथा परम्पराएँ लगाते हैं । वैज्ञानिक इन अर्थों को स्वीकार नहीं करते हैं, न केवल इतना ही, बल्कि ऐसा सोचना भी उनके विचारजगत् से बाहर होता है। पर यहाँ भी एक प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैज्ञानिक में विश्वास या श्रद्धा नहीं है तो वह कौनसी शक्ति या प्रेरणा है जो उसे अपने प्रयत्नों से विचलित नहीं करती तथा वह सतत अपने कार्य में, प्रयत्नों में जुटा रहता है । क्या उसकी बुद्धि

की सीमा नहीं है ? आप बिना किसी विवाद के यह स्वीकार करेंगे कि वैज्ञानिक अन्य नागरिकों से अधिक जानता है, उसे अपनी मर्यादाओं की जानकारी भी है तथा उसका विश्राम स्थल भी मर्यादा के आसपास है । वह यह भी जानता है कि प्रयत्नों के लिए आधार चाहिए, बिना आधार के साधना नहीं की जा सकती, कर्म नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रिया में साहस की जरूरत पड़ती है, साहस निष्ठा का प्रतिफल है तथा अन्तिम निमित्त है लगन । इसे यों भी बताया जा सकता है : कर्म - साहस - निष्ठा (श्रद्धा या विश्वास) --- लगन ।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों- कॉपरनीकस, ब्रूनो, आर्कीमीडिज आदि महान् विचारकों- ने जनसाधारण में गहराई से जमे विश्वास को चुनौती दी तथा आपदाएँ आमंत्रित कीं । ये सब भी सामान्य नागरिक थे , उनमें इन विपत्तियों को सहने की, झेलने की, सामना करने की शक्ति कहां से आई ? क्या वे अपनी बुद्धि से इसका सामना कर पाये ? नहीं ऐसा नहीं है । वे उस निष्ठा के धनी थे और निष्ठा भी अपने प्रति, अपनी बुद्धि-विवेक के प्रति तथा अंतिम सत्य जानने के प्रति, जिस मार्ग पर उन्हें निरन्तर बढ़ते रहने का विश्वास था । यही उनकी आत्मतुष्टि थी, सुख था, सन्तोष था ।

श्रद्धा के नाम पर क्या नहीं हुआ? संत पेरूमान श्रद्धा के नाम पर शहीद हो गये, दो भाइयों का दीवार में चुना जाना कौन नहीं जानता? क्या ये बलिदान कॉपरनीकस, ब्रूनो, आर्कीमीडीज के बलिदान से ऊंचा है ? यदि धर्म के नाम पर श्रद्धा में कमी आई है या सहिष्णुता घटी है तो वह समाज के इन्हीं ठुकराये, उपेक्षित तथा अपमानित किये वैज्ञानिकों के प्रयत्नों का फल है ।

समाज में अमन एवं सुख चैन बनाये रखने के लिए मानसिक नियंत्रण आवश्यक है । युद्ध या अशान्ति मनुष्य के मस्तिष्क में पैदा होती है,इसीलिए किसी वैज्ञानिक ने कहा है कि मनुष्य के मस्तिष्क को शान्ति से रहने की ट्रेनिंग दी जानी चाहिए । मस्तिष्क पर नियंत्रण सिखाने के लिए यही श्रद्धा कभी न सूखने वाला स्त्रोत है । इसे ही अनुदारता की जननी कहा जा सकता है । हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने वालों के लिए ,आलसी, जानने या सीखने का प्रयत्न न करने वालों के लिए आवश्यक हो सकती है, वे इसी श्रद्धा के सहारे जीते हैं । श्रद्धा रूपी छाते के नीचे वे संसार में आने वाले कष्टों तथा दु:खों को, असन्तोषों तथा विरोधों को झेलते हैं । असहिष्णुता की जननी होने से वह प्रगति की भी समर्थक नही हो सकती । पर क्या सदैव यही स्थिति बनी रहेगी ? नहीं । दुनिया विकासशील है, परिवर्तनशील है , यह प्रकृति का शाश्वत नियम है । लोग प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ेंगे तथा श्रद्धायुक्त अनुदार नागरिक उनकी, प्रगति का विरोध भी करेंगे । यह संसार का नियम है, प्राचीनकाल

से ऐसा ही होता आया है तथा आगे भी होता रहेगा । प्रगति की, विकास की दृष्टि से इस विरोध की भी उपयोगिता है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता । संसार या समाज एक रूप में नये ज्ञान या विचारों की प्रयोगशाला है और परीक्षण में सफल होने पर, उपयोगी सिद्ध होने पर ही उसे स्वीकार किया जाता है । इस प्रकार विचारों में उच्छृंखलता, आधार या विवेकहीन विचारों पर अंकुश लगाया जा सकता है।

इस धरातल पर वैज्ञानिक श्रद्धाहीन होता है, उसकी बात या तर्क परीक्षण या प्रयोग सिद्ध होती है पर वह श्रद्धा के क्षेत्र को विस्तृत अवश्य करना चाहता है। वैज्ञानिक की श्रद्धा, ऊपर के विवेचन के अनुसार , साधारण श्रद्धा की भांति विरोध को जन्म नहीं देती है ; अर्थात् उसकी श्रद्धा में मत विभिन्नता हो सकती है । साधारण श्रद्धा का लक्ष्य स्पष्ट है और इसका भार विरोधी पर पड़ता है । यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विज्ञान के क्षेत्र में इसे विरोध नहीं माना जाता । वहाँ तो प्रत्येक वैज्ञानिक का, विचारक का, चेता का एक ही मार्ग है, उसी पर उसे आगे बढ़ना है, उसकी श्रद्धा किसी को दबाती नहीं, किसी को संकुचित रूप से सोचने को विवश नहीं करती, वह तो सोच विचार को अंकुरित करती है, सीमाओं से आगे बढ़ कर स्वतंत्र पर्यावरण में विचरती है, विचरण के लिए प्रोत्साहन पाती है । श्रद्धा स्वयं वैज्ञानिक के अस्तित्व में रच बस कर उसे अपने लिए पागल बना लेती है, उसे अधीर तथा जिज्ञासु बना लेती है, आसक्त बना देती है । परंतु वैज्ञानिक स्वयं अपने पर, अपनी बुद्धि विवेक पर तथा अन्तिम सत्य पर श्रद्धा रखता है और इस स्थिति में बुद्धि तथा श्रद्धा एकरूप हो जाते है, वे एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं । यही क्रिया, निष्ठा उस वैज्ञानिक के पास सुख, सन्तोष तथा आत्मतुष्टि का कभी न सूखने वाला झरना प्रवाहित करती है । संक्षेप में यही है वैज्ञानिक का धर्म ।

जमनालाल बायती

जिला शिक्षाधिकारी
(अल्पसंख्यक भाषाएँ)
शिक्षा निदेशालय
बीकानेर - ३३४००१
(राजस्थान)

धर्मदर्शन में सन्देहवाद की संगतता

हान में जॉन हिक महोदय के *An Interpretation of Religion* इस शीर्षक के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का प्रकाशन हुआ ।[१] उपशीर्षक , अर्थात् *Human Responses to the Transcendent* , लेखक का मूलसिद्धांत प्रस्तुत करता है : विश्वधर्म सभी परम तत्त्व पर उपयुक्त दृष्टिकोण हैं । रचना-विस्तार एवं तर्क की दृष्टि से श्लाघनीय है । अनुसंधान के क्षेत्र में प्राय: सभी विश्वधर्मों का उल्लेख किया गया है ; युक्तियाँ ब्योरेवार रीति से प्रस्तुत की गयी हैं । फिर भी , अनेक पाठकों के मन में गंभीर आशंका उठ सकती है । धार्मिक विश्वास की भाँति क्या प्रकृतिवाद को भी स्वीकार्य मानना संदेहवाद नहीं है ? और विविध धर्मसिद्धान्तों को इसलिए तुल्य कहना कि वे परम तत्त्व पर सिर्फ अन-अन्तिम दृष्टिकोण हैं, क्या यह अज्ञेयवाद नही है ? तो हिक महोदय द्वारा प्रस्तुत्त धर्मदर्शन की छान-बीन करनी होगी । धार्मिक विश्वास संबंधी, फिर धार्मिक अनेकता संबंधी ग्रंथ के मूलसिद्धान्तों का क्रमश: प्रतिपादन करने के पश्चात् हम दोनों का मूल्यांकन भी करना चाहेंगे । अंत में यह प्रश्न उठाया जायेगा कि क्या धर्मदर्शन के क्षेत्र में तर्कसंगत रीति से संदेहवाद का पालन करना संभव है ?

प्रथम सिद्धान्त का निरूपण

हिक महोदय ठीक क्या प्रश्न उठाते हैं ? वह इस तरह है : 'क्या अपने धार्मिक अनुभव पर विश्वास करना बौद्धिक क्रिया है या नहीं ?' प्रस्तुत प्रश्न का सही तात्पर्य लेखक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं : जिस बौद्धिकता का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह *विश्वास करने* की बौद्धिकता है, न कि *विश्वास के विषय* की।[२] क्रिया बौद्धिक होने पर भी विषय या तो बौद्धिक या अबौद्धिक , दोनों हो सकता है।

विश्वास करने की बौद्धिकता की आधारशिला धार्मिक अनुभव है । वह क्या है ? लेखक उसे अनेक तरह से वर्णित करते हैं । धार्मिक अनुभव ईश्वर के

सान्निध्य में रहने का बोध हो सकता है , या ईश्वर से व्यक्तिगत संबंध रखने का। या यों कहें कि उस अनुभव के फलस्वरूप विश्वासी का जीवन उसे किसी सोद्देश्य प्रक्रिया के अंश -जैसा जान पड़ता है (पृ.२११) 'ईश्वर' या ईश्वरवादी शब्दावली का प्रयोग करने पर भी लेखक पाठक का ध्यान इस बात पर आकर्षित करते हैं कि यहाँ प्रस्तुत तर्क अनीश्वरवादी विश्वास ("non theistic belief " पृ. २११) के संदर्भ में भी प्रयोज्य है । तथाकथित अनीश्वरवादी धार्मिक अनुभव का उदाहरण वेदान्त के अनुसार परम ब्रह्म का साक्षात्कार है ।

हिक धार्मिक अुनभव की सार्थकता - चाहे वह ईश्वरवादी हो या ब्रह्मवादी - इस तरह सिद्ध करते हैं । तर्क भौतिक जगत् के अनुभव की समान्तरता पर आधारित है । सच, भौतिक जगत् के अस्तित्व के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता है । फिर भी मानव जगत् की विषयनिष्ठता असंदिग्ध मानता है - यह उसके लिए " स्वाभाविक विश्वास" ("natural belief " पृ. २१३) की बात है । आखिर संपूर्ण व्यावहारिक जीवन इस पूर्वकल्पना पर आधारित है कि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव सच्चा है । लेकिन जगत् की तरह ईश्वर का अस्तित्व भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता है । फिर भी "प्रत्यक्ष विश्वास की भाँति ईश्वरवादी विश्वास भी मानव बुद्धि की ओर से अनुभव के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है "।[३]

अत: जॉन हिक की मान्यता स्पष्ट है :धार्मिक अनुभव के आधार पर हमें ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करने का बौद्धिक अधिकार है (" rationally entitled", पृ. २१६)। प्रस्तुत सिद्धांत के समर्थन में उनका एकमात्र प्रमाण यह है कि "हम इस तरह बनाये हुए हैं कि हम केवल अपने अनुभव के आधार पर अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं " फलत: हमें मान लेना है कि हमारा अनुभव सामान्यत: ज्ञानात्मक है ।[४]

आगे लेखक यह प्रश्न भी उठाते हैं कि अपने धार्मिक अनुभव के अभाव में क्या हम बौद्धिक रीति से *अन्यों* के अनुभव पर विश्वास कर सकते हैं ? वे कौन-कौन हैं ? आधुनिक भारतीय संदर्भ में वे लोग परमहंस रामकृष्ण जैसे महात्मा (पृ.२२१,२२३) या धर्मात्मा होंगे, जिन्हें पारलौकिक बातों का गहरा अनुभव प्राप्त हुआ। उन इने-गिने व्यक्तियों के अतिरिक्त हिक सम्प्रदाय या धार्मिक समुदाय का भी उल्लेख करते हैं। जनसाधारण का व्यवहार प्राय: समाज के धार्मिक अनुभव पर आश्रित है (देखें पृ. २२८) । लेखक के अनुसार इस तरह "पराये" धार्मिक अनुभव के आधार पर विश्वास करना बुद्धि-विरोधी नहीं है। साथ-साथ व्यक्ति की ओर से

यह भी अपेक्षित है कि वह स्वयं ही पूर्णतया धार्मिक अनुभव से वंचित न हो। उसे भी ऐसा कुछ प्रारंभिक या सदृश धार्मिक अनुभव प्राप्त होना चाहिए, जो धर्मात्माओं के मौलिक अनुभव की "प्रतिध्वनि" हो, जो उसका "तुल्यरूप" हो ("some remote echo or analogue "पृ.२२२) इस तरह सामान्य रूप से धार्मिक अनुभव को विश्वास करने का अनिवार्य आधार कहने के साथ हिक कुछ हद तक व्यक्तिगत अनुभव भी आवश्यक मानते हैं ।

पाठक के मन में यह संदेह उठा होगा कि क्या अनुभव के अतिरिक्त बौद्धिक रीति से विश्वास करने के लिए दूसरी आवश्यक शर्त नहीं है ? ऐसा लगता है कि स्वयं लेखक को उसी आशंका का सामना करना पड़ा । विश्वास का विषय बनाम विश्वास करने की क्रिया का प्रभेद करने के बाद वह कोष्ठकों के बीच यह जोड़ देते हैं कि "विश्वास का विषय भी विश्वास करने की बौद्धिकता या अबौद्धिकता से संबंध रखता है "[५] । दूसरे प्रसंग में लेखक विषय के महत्त्व का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भूतकाल में लोग जादू-टोने पर विश्वास किया करते थे । उन लोगों के लिए इस तरह तंत्र-मंत्र पर विश्वास करना असंगत नहीं था । कारण, उस काल का वातावरण उन्हें इस प्रकार की बातों पर विश्वास करने के लिए प्राय: बाध्य करता था । फिर भी हमारे लिए केवल उन लोगों के अनुभव के आधार पर इस तरह विश्वास करना बौद्धिक नहीं कहा जा सकता है । जादू -टोने जैसे विश्वास के विषय तो हमारे शेष अनुभव के अनुकूल नहीं हैं । आधुनिक मनुष्य के संपूर्ण अनुभव का एक विशेष अंश उसका वैज्ञानिक ज्ञान है । जो कुछ उसके अनुकूल नहीं है, वह बौद्धिक रीति से विश्वास करने का विषय नहीं हो सकता है । इस तरह अतीत काल के असंदिग्ध अनुभव के बावजूद भी वर्तमान काल में विश्वास करने की बौद्धिकता विश्वास के बौद्धिक विषय की भी अपेक्षा करती है । विषय का महत्त्व स्वीकार करने से हिक धार्मिक अनुभव का एकाधिकार सीमित करते हैं । अत: संशोधित रूप में प्रस्तुत बौद्धिक विश्वास की कसौटी इस तरह होगी : अपने या पराये धार्मिक अनुभव पर तभी विश्वास करना चाहिए जब उसका विषय सत्य होने की *संभावना* है । इस तरह वर्द्धित कसौटी का उदाहरण ईश्वरवाद के प्रसंग में मिल जाता है ।

बौद्धिक विश्वास की परख ईश्वरवादी विश्वास के संदर्भ विशेष में भी करनी है । जाँच द्विविध है : अनुभव की गहराई के अतिरिक्त विश्वास का अपना विषय नगण्य नहीं है । धार्मिक, या और स्पष्ट रूप से, ईश्वरवादी अनुभव कितना प्रभावशाली क्यों न हो, ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करना होगा यदि या तो ईश्वर की धारणा विसंगत जान पड़े, या कोई बौद्धिक प्रमाण ईश्वर का अनस्तित्व सिद्ध करे । लेकिन

हिक के अनुसार न तो ईशधारणा असंगत है, और न ईश्वर का अस्तित्व तर्क द्वारा खण्डित किया जा सकता है (देखें पृ.२१७)।

वर्तमान प्रसंग में लेखक ईश-दर्शन का अपना उपयुक्त कार्य निर्धारित करते हैं। परंपरागत तत्त्वमीमांसा के विपरीत वह मानते हैं कि ईश-दर्शन को ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, वरन् केवल उसकी *संभावना* स्थपित करनी है। इसके अतिरिक्त ईश्वर की परिकल्पना का महत्त्व भी दिखाना चाहिए। ईश्वरवादी परिकल्पना का मूल्य इसमें है कि उसका सहारा लेकर हम संपूर्ण विश्व की व्याख्या करने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रसंग में हिक महोदय ईश्वरवाद पर अपना विश्वास घोषित करते हैं यह कह कर कि "मैं मानता हूँ कि बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व की *संभावना*, और इस संभावना का वास्तविक महत्त्व, दोनों स्थापित कर *सकती है* " (पृ.२१९, स्वयं लेखक द्वारा रेखांकित)।[६] ग्रंथ का मुख्य तात्पर्य देखने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि लेखक स्वयं ही अज्ञेयवादी हैं। प्रस्तुत कथन, और आगे प्रस्तुत की जाने वाली दूसरी उक्तियाँ भी, यह मान्यता मिथ्या सिद्ध करेंगी। लेखक का झुकाव मूलत: ईश्वरवाद के पक्ष में है।

अनुभव के अतिरिक्त विश्वास के विषय की बौद्धिकता आवश्यक मानने पर भी हिक इस दूसरे पहलू को निर्णायक नहीं कहते हैं। उनके अनुसार केवल ईश्वर की संभावना तर्क द्वारा सिद्ध की जा सकती है, न की उसकी वास्तविकता। बुद्धि की यह अक्षमता स्वयं विश्व की द्वयर्थकता पर आश्रित है। लेखक के अनुसार विश्व की ऐसी यथार्थता है कि "उसके हर पहलू की ... चाहे ईश्वरवादी या प्रकृतिवादी, दोनों व्याख्याएँ प्रस्तुत करना संभव है"।[७] इस सिद्धान्त को लेखक ने पुस्तक के द्वितीय भाग में विस्तार से सिद्ध किया है, जहाँ ईशास्तित्व के सभी प्रमाणों की समीक्षा की गयी है। इससे अनिवार्य रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्व की द्वयर्थकता "धार्मिक या प्रकृतिवादी, दोनों विश्वासों ('faith') का आधार हो सकती है "[८]। प्रकृतिवाद को कैसे "विश्वास" कहा जा सकता है, इसे कुछ आगे समझाया जायेगा। अंतिम उद्धरण का संपूरक वाक्य यह है कि किसी भी विकल्प में "विश्वास" भ्रम होने की संभावना के भय से ग्रस्त है। बौद्धिक निर्णय के अभाव में हिक को स्वीकार करना पड़ता है कि धार्मिक अनुभव अंतत: पूर्णतया ("as such and in toto" पृ. २२६) भ्रामक हो सकता है, कि यथार्थता में उसका दृढ़ आधार नहीं है। व्यक्त रूप से ऐसा न कहने पर भी इस दृष्टिकोण में यह भी निहित है कि प्रकृतिवादी अनुभव के लिए भी निराधार होने की संभावना सदा बनी रहती है।

लेकिन लेखक का झुकाव कुछ ईश्वरवाद की ओर है । भ्रम की संभावना स्वीकार करने पर वह अब दावा करते हैं कि "इन परिस्थितियों में भी धर्मपरायण आदमी के लिए अपने (धार्मिक) अनुभव पर विश्वास करना पूर्णतया तर्कसंगत है "[९]। इसके विपरीत भ्रम की सैद्धांतिक संभावना मात्र के आधार पर अपना संपूर्ण जीवन संस्थापित करना, अर्थात् नास्तिकता का दृष्टिकोण अपनाना, यह उन्हें अ-बौद्धिक लगता है ।[१०] प्रश्न उठता है कि ईश्वरवादी निर्णय के समर्थन में हिक क्या प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ? उनके अनुसार ईश्वरवादी सिद्धांत विश्व की सार्थक व्याख्या करने में समर्थ है , अत: भ्रम की सैद्धांतिक संभावना मात्र के आधार पर सार्थकता का रास्ता छोड़ना उन्हें निराधार लगता है। किन्तु विश्व की जो व्याख्या ईश्वरवादी के लिए संतोषजनक प्रतीत होती है, क्या वही व्याख्या नास्तिक के लिए निरर्थक नहीं लगेगी? प्रकृतिवादी विश्वदर्शन का परित्याग करना, मात्र इसलिए कि ईश्वरवाद सत्य होने की सैद्धांतिक संभावना है, यह नास्तिक को भी अबौद्धिक प्रतीत होगा । जो विश्व की मूलभूत द्व्यर्थकता स्वीकार करता है, उसके लिए परस्पर-विरोधी विश्वदर्शनों में से किसी एक का समर्थन करना सिर्फ पसंद की बात हो सकती है, न कि निर्णायक प्रमाण या कारण की ।

हिक के धर्मदर्शन के प्रतिपादन के अंत में 'विश्वास' (faith) की उनकी धारणा प्रस्तुत करना उचित होगा । यदि विश्व मूलत: एक ऐसा तत्त्व हो जिसकी दो परस्परविरोधी व्याख्याएं देने की संभावना हो, तो उन में से कोई एक चुनना अनिवार्य होगा । वरण के अतिरिक्त संशयवाद एकमात्र उपाय है । आस्तिक या नास्तिक विश्वदर्शन का चुनाव लेखक इसलिए 'आधारभूत वरण' (fundamental option पृ. १५९) कहते हैं कि दोनों विकल्प संपूर्ण विश्व और मानव जीवन -- की मौलिक व्याख्याएं हैं । विश्वदर्शन का वरण 'ज्ञानात्मक वरण' भी ("congnitive choice") वहीं कहा जाता है, क्योंकि जिस दर्शन-विशेष को अपनाया जाता है, उसे वास्तविक स्थिति का सही निरूपण माना जाता है । दूसरी ओर निर्णायक कारण के अभाव में - विश्व तो मूलत: द्व्यर्थक है -- लेखक को विश्वदर्शन का चुनाव "अबाधित व्याख्यात्मक क्रिया" (uncompelled interpretive activitiy पृ. १५९) कहना है । इस दृष्टि से धार्मिक (या अधार्मिक) अनुभव प्रत्यक्ष ("physical", पृ. १६०) या नैतिक अनुभव से अभिन्न है : भौतिक या नैतिक स्तर पर भी, लेकिन कम मात्रा में, अनुभव की वैकल्पिक व्याख्या करने की संभावना है । लेकिन धार्मिक अनुभव के क्षेत्र में भौतिक या नैतिक अनुभव की अपेक्षा 'ज्ञानात्मक स्वतंत्रता' ("cognitive freedom" , पृ. १६१) के लिए अधिक स्थान है ।

यह भी बहुत उल्लेखनीय है कि हिक आस्तिक या नास्तिक विश्वदर्शन, दोनों को 'विश्वास' ('faith' टिप्पणी ८ देखें) की संज्ञा देने से संकोच नहीं करते हैं। दूसरे स्थल पर वह यह भी कहते हैं कि 'ज्ञानात्मक वरण' के परिणामस्वरूप 'हमारा अनुभव *या तो धार्मिक या अधार्मिक* रूप प्राप्त करता है '।[११] धार्मिक दृष्टिकोण को अपनाने के विपरीत मानव 'संपूर्ण धार्मिक पक्ष का बहिष्कार भी कर सकता है ' ।[१२] इस तरह ईश्वरवाद या प्रकृतिवाद धार्मिक दृष्टिकोण की मूलभूत स्वीकृति या अस्वीकृति के तुल्य विकल्प हैं।

प्रथम सिद्धांत की समीक्षा

हिक महोदय द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत की हम द्विविध दृष्टि से समीक्षा करना चाहेंगे। सर्वप्रथम , स्वयं हिक का उदाहरण यह दिखाता है कि तर्कसंगत रीति से शुद्ध संदेहवाद अपनाना प्राय: असंभव है। अनेक बार लेखक यह घोषित करते हैं कि ईश्वरवाद या प्रकृतिवाद विश्व की तुल्य व्याख्याएं हैं। विश्व मूलत: द्व्यर्थक होने कारण उन दोनों में से न तो पहला और न दूसरा निर्णायक विश्वदर्शन हो सकता है। किन्तु दोनों के प्रति निष्पक्ष रहने की कोशिश करने पर भी लेखक एक-दो बार ईश्वरवादी पक्ष की ओर झुकते प्रतीत होते हैं। एक तो वह व्यक्त रूप से कहते हैं कि 'बुद्धि ईश्वर की *संभावना* स्थापित कर सकती है ' (टिप्पणी ६ देखें)। यह सही है कि हिक ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने से दूर रहते हैं। फिर भी, प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर की संभावना उसकी *अ-संभावना का खण्डन* करती है या नहीं ? प्रथम विकल्प, अर्थात् ईश्वर की संभावना यहाँ तक सिद्ध है कि उसका अनस्तित्व असंभव प्रतीत होता है, यह ईश-दर्शन को निर्णायक कहने से अभिन्न होगा। लेकिन हिक यह दोहराते नहीं थकते हैं कि विश्व मूलत: द्व्यर्थक होने के कारण उसकी केवल एक व्याख्या प्रस्तुत करना असंभव है।

इन परिस्थितियों में हिक दूसरा विकल्प स्वीकार करने के लिए विवश प्रतीत होते हैं, अर्थात् ईश्वर की संभावना उसकी अ-संभावना का *खण्डन नहीं* करती है। दूसरे शब्दों में, ईश्वरवाद या निरीश्वरवाद पूर्णतया तुल्य विकल्प हैं। दार्शनिक संदेहवाद विश्व की द्व्यर्थकता के अनुकूल एकमात्र सिद्धान्त है। हाँ, इसके विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता है कि हिक परस्पर-विरोधी दर्शनों के बीच शुद्ध निष्पपक्षता के मार्ग पर चलना चाहते हैं। तटस्थता-संकल्प के बावजूद भी हिक महोदय वास्तव में ईश्वरवाद का पक्ष लेते प्रतीत होते हैं। यह कहने के साथ साथ कि बुद्धि ईश्वर की संभावना सिद्ध कर सकती है (देखें टिप्पणी ६), उन्हें यह कहना चाहिए था कि

ईश्वरवाद की भाँति प्रकृतिवाद वैकल्पिक सिद्धान्त है। उनके - चाहे अनजान में भी हो - केवल ईश्वरवाद की संभावना पर बल देने से क्या यह स्पष्ट नहीं दिखाई देता है कि विश्व की द्व्यर्थकता एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे तर्कसंगत रीति से अपनाना असंभव है ?

तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में तर्कसंगत-रीति से तटस्थता रखने की असंभावना का दूसरा उदाहरण इस तरह है। हिक के अनुसार प्रकृतिवाद सही होने की संभावना के बावजूद भी धार्मिक अनुभव पर विश्वास करना अबौद्धिक नहीं है। इसके विपरीत, ईश्वरवाद जैसे सार्थक विश्वदर्शन का परित्याग करना, मात्र इसलिए कि उसके भ्रामक होने की सैद्धान्तिक संभावना है, अ-बौद्धिक होगा (देखें टिप्पणी १०)। लेकिन क्या इसमें हिक महोदय का ईश्वरवादी पक्षपात सन्निहित नहीं है ? इसके विपरीत क्या प्रकृतिवादी का प्रत्युत्तर यह नहीं होगा कि भ्रामक होने की सैद्धान्तिक संभावना मात्र के आधार पर क्या निरीश्वरवाद जैसे सार्थक विश्वदर्शन को त्यागना बुद्धि-विरोधी नहीं है ? प्रकृतिवाद की अपेक्षा ईश्वरवाद को ही अर्थपूर्ण कहने से क्या हिक फिर अपने ईश्वरवादी झुकाव का प्रमाण नहीं देते हैं ? बस, उपर्युक्त दो उदाहरणों से जो निष्कर्ष हम निकालना चाहेंगे वह इतना ही है कि विश्व-द्व्यर्थकता पर आश्रित दार्शनिक संशयवाद एक आत्म-खण्डन करने वाला प्रयास है। क्या उसी पर धर्मदर्शन संस्थापित करने का प्रयास सफल हो सकता है ?

हिक द्वारा प्रस्तुत मूल-सिद्धान्त के विरुद्ध हमारी दूसरी आपत्ति विश्वास *करने की क्रिया* बनाम विश्वास के *विषय* के विरोध से संबंध रखती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि हिक विश्वास की बौद्धिकता विषयक प्रश्न विश्वास करने की क्रिया तक सीमित करना चाहते हैं (देखे टिप्पणी २)। लेकिन आगे लेखक बौद्धिकता की दृष्टि से स्वयं विषय का महत्त्व भी स्वीकार करते हैं (देखें टिप्पणी ५)। लेखक के द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है कि दूसरों के अनुभव के आधार पर विश्वास करना हमारे लिए कहाँ तक तर्कसंगत हो सकता है ? इस प्रसंग में जादू-टोना, अपदूत, चमत्कार या भूतल का समतल होना, ऐसे उदाहरणों का उल्लेख किया गया है (देखें पृ. २१८-२२०)। जहाँ तक गतयुग के मानव का प्रश्न है हिक किसी भी हिचक के बिना कहते हैं कि जो उन लोगों के अनुभव के अनुकूल था, उसी पर विश्वास करना उनके लिए तर्कसंगत था।[११] यह ध्यान देने योग्य है कि विश्वास करने की बौद्धिकता केवल अनुभव की असंदिग्धता पर आधारित है, विश्वास का स्वयं विषय जो भी हो। किन्तु वर्तमान, वैज्ञानिक युग में बात दूसरी है। हमारे जैसे आधुनिक मनुष्य के लिए उक्त बातों पर विश्वास करने की संगति गत युग के मानव के अनुभव के अतिरिक्त

अन्य शर्तों पर भी निर्भर होगी जो विश्वास के विषय से ही संबंध रखती हैं ।[१४]

इस उदाहरण में लेखक विज्ञान की संपूरक कसौटी काम में लाते हैं। विश्वास का जो विषय विशेष वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुकूल नहीं है, उस पर विश्वास करना बुद्धिविरोधी होगा। लेकिन, क्या विषय की बौद्धिकता केवल वैज्ञानिक युग के मानव के लिए वैज्ञानिक सत्य द्वारा निर्धारित है? क्या विज्ञान का सत्य पूर्व-वैज्ञानिक युग के विश्वासियों के लिए बाध्यकारी नहीं है? तो क्या विश्वास करने की बौद्धिकता इस तरह काल विशेष- या एक ही युग में स्थान विशेष के अनुसार बदल सकती है? क्या भूतकाल में ही अपदूतों आदि पर विश्वास करना तर्कसंगत था, आजकल नहीं? यह सत्य पर निरी सापेक्षवादी दृष्टि है।

इसलिए स्प्ष्ट है कि विश्वास करने की क्रिया एवं विश्वास के विषय के प्रभेद के साथ-साथ 'तर्कसंगति' या 'बौद्धिकता' के अतिरिक्त दूसरा पद या प्रत्यय अपनाना होगा। असंदिग्ध अनुभव भले ही विश्वास करने के लिए पर्याप्त या अनिवार्य आधार हो, मिथ्या या सत्य विश्वास स्वयं विषय के तात्त्विक स्वभाव पर निर्भर रहता है। इसके अनुसार भूत काल में अपदूतों पर विश्वास करना परिस्थितियों को देख कर स्वाभाविक, अनिवार्य, हाँ बोधगम्य भी कहा जा सकता है। लेकिन इस प्रकार का विश्वास उस युग में भी 'तर्कसंगत' या 'बौद्धिक' कहना भ्रामक शब्दावली है। मानव प्राय: किसी भी बात पर विश्वास करने के लिए विवश हो सकता है, वह कितनी अ-बौद्धिक या विसंगत क्यों न हो। किन्तु विश्वास तभी सत्य होगा जब वह वास्तविकता के अनुकूल है। अत: विषय की अपेक्षा किए बिना विश्वास को बौद्धिक या तर्कसंगत नहीं कहना चाहिए।

दूसरे सिद्धान्त का निरूपण एवं अन्त्य समीक्षा

प्रथम सिद्धान्त के विपरीत जो प्रकृतिवाद के साथ-साथ धार्मिक विश्वास को भी तर्कसंगत सिद्ध करता है, ग्रंथ का द्वितीय सिद्धांत धार्मिक अनेकता से संबंध रखता है। भूमिका में लेखक दोनों सिद्धान्तों को परस्पर संबद्ध कहते हैं: "धार्मिक विश्वास का स्वीकार्य समर्थन ... हमें अनिवार्य रूप से धार्मिक अनेकता संबंधी समस्याओं की ओर ले जाता है"।[१५] उस केंद्रीभूत अध्याय (१३) के उपसंहार में जहाँ धार्मिक विश्वास की तर्कसंगति स्थापित की गयी है, लेखक यह दिखाते हैं किस तरह एक प्रश्न से दूसरा प्रश्न उठता है। अपने अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर धर्मपरायण लोग विविध परंपराओं के अंतर्गत भिन्न-भिन्न धर्मसिद्धान्तों पर

तर्कसंगत रीति से विश्वास कर सकते हैं। हाँ, विश्व धर्मों के धर्मसिद्धान्त परस्पर-विरोध भी हो सकते हैं। किन्तु, यदि ऐसा हो, तो क्या विषय की असंगति विश्वास करने की संगति का खण्डन नहीं करती है ? बरट्राण्ड रसेल के साथ हमें स्वीकारना होगा कि "तर्कशास्त्र की दृष्टि से स्पष्ट है कि असहमत होने के कारण विश्व-धर्मों में से एक से अधिक सत्य नहीं हो सकता है "।[१६] परस्पर-विरोधी धर्म-सिद्धान्तों पर विश्वास करना तर्कसंगत घोषित करने से क्या लेखक धार्मिक विश्वास की तर्कसंगति का सिद्धान्त असंगत नहीं करते हैं ? [१७]

अत: अपना प्रथम सिद्धान्त बचाने के लिए हिक महोदय अब द्वितीय सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। यह 'धार्मिक अनेकता' ("Religious Pluralism") विषयक ग्रंथ के चतुर्थ भाग, 'अनेकत्व की परिकल्पना' ("The Pluralistic Hypothesis") शीर्षक अध्याय १४ की विषय-वस्तु है। संक्षेप में परिकल्पना का तात्पर्य इस तरह है। यदि परम तत्त्व को धार्मिक अनुभव के विविध रूपों का आधार माना जा सकता है, [१८] तो उसके विषय में यह मूलभूत प्रभेद करना चाहिए : एक ओर, स्वयं परम तत्त्व (the Real- an Sich) जो मानव ज्ञान की पहुँच के परे है; दूसरी ओर, वही परम तत्त्व जहाँ तक विभिन्न धर्मों में उसका अनुभव होता है। उक्त प्रभेद सभी धार्मिक परंपराओं में प्रचलित कहा गया है : वेदांत में निर्गुण/सगुण ब्रह्म इसका प्रसिद्ध उदाहरण है; ईसाई परंपरा में माइस्तर एकार्त द्वारा प्रतिपादित ईश्वरत्व/ईश्वर ("deitas"/"deus") का प्रभेद मिलता है।दोनों पक्षों का संबंध काँत की शब्दावली में नूमेनन बनाम फेनोमेना के जैसा है। मानव के लिए अज्ञात होने पर भी नूमेनन की विशेषता यह है कि उसका सही अनुभव चाहे ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी ('non–theistic') रूप में किया जा सकता है।[१९] या, परम तत्त्व को उन विशेषताओं का मूलाधार या स्रोत भी कहा गया है जिन्हें देवों या ब्रह्म आदि पर आरोपित किया जाता है।[२०] वर्तमान प्रसंग में उल्लेखनीय बात यह है कि हिक ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद , दोनों को परम तत्त्व के तुल्य, सही, किन्तु अपर्याप्त प्रतिनिधि मानते हैं। स्वयं परम तत्त्व क्या है, इसे जानने से सभी धर्म समान रूप से दूर रहते हैं। दूसरी ओर अपनी अपर्याप्तता के बावजूद सभी विश्वधर्म परम तत्त्व पर प्रामाणिक दर्शन प्रस्तुत करते हैं।

हम यहाँ हिक महोदय के धर्म-दर्शन का मूल्यांकन करना चाहेंगे। उनके अनुसार धार्मिक विश्वास के विषय भले ही परस्पर-विरोधी हों, विश्वास करने की तर्कसंगति अखण्ड बनी रहती है। विश्व-धर्म परम तत्त्व को या तो वैयक्तिक देवों या अवैयक्तिक ब्रह्म आदि के रूप में मान सकते हैं, धर्मसिद्धान्तों का यह पारस्पारिक

विरोध विश्वास करने की बौद्धिकता का खण्डन नहीं कर सकता है। यह कैसे? ईश्वरवाद, फिर ब्रह्मवाद स्पष्टया परस्पर विसंगत है, लेकिन दोनों न तो व्यक्तित्व और न अ-व्यक्तित्व का स्वयं परम तत्त्व पर आरोपण करते हैं। इस तरह अन-अन्तिम होने के कारण दोनों मुख्य धर्मसिद्धांत विसंगत नहीं , संपूरक ही हैं। परम तत्त्व स्वयं ही व्यक्तिस्वरूप है या नहीं, यह जानना मानव बुद्धि की पहुँच के परे है। दूसरी ओर , अनन्तिम दृष्टि से परम तत्त्व की कल्पना तुल्य रीति से ईश्वरवाद या ब्रह्मवाद के रूप में की जा सकती है। इस तरह प्रतीत होता है कि हिक ईशास्तित्व संबंधी संदेहवाद को बचाने के लिए परम तत्त्व का स्वरूप संबंधी अज्ञेयवाद अपनाते हैं। "परम तत्त्व है या नहीं है" , इस प्रश्न का उत्तर देना असंभव कहने के बाद, वह अब "परम तत्त्व क्या है या कैसा है" , इसे भी अज्ञेय घोषित करते हैं। संक्षेप में, एक संदेहवादी सिद्धांत की पुष्टि करने के लिए लेखक दूसरा, अज्ञेयवादी सिद्धांत अपनाने के लिए विवश हो जाते हैं।

किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इस अज्ञेयवादी सिद्धांत के साथ-साथ लेखक एक "अनिवार्य अभयुपगम" (necessary postulate) मानते हैं। वह स्वयं ही आपत्ति उठाते हैं कि परम तत्त्व को मानव-अनुभव के परे कहने के बाद, उसी परम तत्त्व का अस्तित्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? जो अज्ञेय है, उसका अस्तित्व जानना संभव है ? लेखक के अपने शब्दों में प्रस्तुत प्रश्न का 'उत्तर यह है कि दिव्य नूमेनन मानव जाति में प्रचलित धार्मिक अनेकता का अनिवार्य अभ्युपगम है' ।[२२] जहाँ सभी धार्मिक विचारधाराएँ परम तत्त्व का अस्तित्व वास्तविक मानती हैं, वहाँ धार्मिक विश्वास की बौद्धिकता सिद्ध बनाये रखने के उद्देश से हमें सभी धर्मसिद्धांतों को अनन्तिम कहने के साथ-साथ स्वयं परम तत्त्व की वास्तविकता स्वीकारनी होगी। विश्वधर्म तो सभी सहमत होकर परम तत्त्व को - किसी भी रूप में -- यथार्थ मानते हैं। इस दृष्टि से परम तत्त्व के अस्तित्व के विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता है।

यहाँ समीक्षक के मन में हिक महोदय के धर्म-दर्शन के विषय में मूलभूत आशंका उठती है। प्रस्तुत धर्मदर्शन के दो मुख्य सिद्धान्त हैं। पहला, ईश्वरवाद एवं प्रकृतिवाद , दोनों को तुल्य रीति से बुद्धि-संगत कहता है। दूसरा, धार्मिक विश्वास के अंतर्गत सभी धर्मसिद्धांतों को तुल्य रूप से स्वीकार्य मानता है। द्वितीय, अज्ञेयवादी सिद्धांत को मानना इसलिए अनिवार्य कहा गया है कि उसके अभाव में प्रथम सिद्धांत असंगत जान पड़ता है। परस्परविरोधी धर्मसिद्धांत धार्मिक विश्वास की बौद्धिकता का तभी खण्डन नहीं करते हैं, यदि उन्हें अनन्तिम कहा जाये। संक्षेप में द्वितीय सिद्धांत

को प्रथम की पुष्टि करनी है ।[२३]

लेकिन क्या हमने अभी यह नहीं दिखाया है कि द्वितीय सिद्धांत प्रथम का समर्थन कहाँ, उसका खण्डन करता प्रतीत होता है ? द्वितीय सिद्धांत के अनुसार परम तत्त्व का अस्तित्व 'अनिवार्य अभयुपगम' के रूप में स्वीकार करना है । इसके विपरीत प्रथम सिद्धांत के अनुसार परम तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध करना असंभव है। जिसे एक असंभव मानता है,उसे दूसरा आवश्यक कहता है : प्रथम सिद्धांत की दृष्टि से परम तत्त्व का अस्तित्व संदेहास्पद है ; द्वितीय की दृष्टि से उसी को निश्चित मानना है ।

हिक महोदय का पक्ष लेकर कोई यह प्रत्यत्तर कर सकेगा कि परम तत्त्व का अस्तित्व संबंधी "अनिवार्य अभ्युपगम" हमें तभी स्वीकारना पड़ता है यदि हम धार्मिक विकल्प को चुन लेते हैं । इसके विपरीत, जो प्रकृतिवाद का विकल्प अपनाता है उसके लिए 'अनिवार्य अभ्युपगम' स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है । प्रकृतिवाद एवं ईश्वरवाद (या ब्रह्मवाद) दोनों वैकल्पिक संभावनाएं हैं । परम तत्त्व का अस्तित्व धार्मिक परिकल्पना में भले ही अनिवार्य है,प्रकृतिवाद की दृष्टि से उसे अस्वीकार किया जा सकता है । इस तरह उक्त 'अनिवार्य अभ्युपगम' प्रथम सिद्धांत के सिर्फ दूसरे, धार्मिक विकल्प का अंग है, न कि प्रकृतिवादी विकल्प का ।

पूर्वपक्ष के विपरीत हमें ऐसा लगता है कि प्रस्तुत धर्मदर्शन में मूलभूत विरोध छिपा हुआ है । बात क्रमश: तीन कदमों में दिखायी जा सकती है । पहले, हिक महोदय प्रकृतिवाद और ईश्वरवाद (या ब्रह्मवाद) , दोनों को पूर्णतया तुल्य विकल्प मानते हैं । विश्व की दार्शनिक व्याख्या या तो अ-धार्मिक या धार्मिक दृष्टिकोण से दी सकती है - यह प्रस्तुत ग्रंथ का आधारभूत सिद्धांत है ।[२४] इस संदेहवाद का सही तात्पर्य यह है कि एक विकल्प की संभावना दूसरे की संभावना रद्द नहीं कर सकती है । ईश्वरवाद (या ब्रह्मवाद) को सत्य मानने पर भी दार्शनिक दृष्टि से प्रकृतिवाद की संभावना बनी रहती है ।[२५] दूसरे, धार्मिक अनेकता की परिकल्पना में परम तत्त्व का अस्तित्व "अनिवार्य अभ्युपगम" के रूप में स्वीकार करना है । इसका तात्पर्य यह है कि परम तत्त्व के स्वभाव की दृष्टि से परस्पर विरोधी होने पर भी ईश्ववरवाद और ब्रह्मवाद , दोनों को समान रुप से परम तत्त्व का अस्तित्व -- "अनिवार्य अभ्युपगम" के रूप में -- मानना पड़ता है । लेकिन ईश्वरवाद एवं ब्रह्मवाद धार्मिक विकल्प के दो रूप हैं । फलत: किसी भी रूप में धार्मिक विकल्प की दृष्टि से परम तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध मानना अनिवार्य है । दूसरे शब्दों में , परम तत्त्व

को अवास्तविक मानना असंभव है । तीसरे, इससे मूलभूत अंतर्विरोध स्पष्ट हो जाता है । हिक को प्रथम सिद्धांत के अनुसार धार्मिक परिकल्पना में भी प्रकृतिवाद की संभावना के लिए स्थान होना चाहिए । लेकिन द्वितीय सिद्धांत के अनुसार धार्मिक परिकल्पना में परम तत्त्व का अस्तित्व अनिवार्य मानना है । तो क्या परम तत्त्व के अनस्तित्व की संभावना रह सकती है ?

उपसंहार

ऊपर हमने इस बात की ओर संकेत किया है कि लेखक के लिए संगत रीति से शुद्ध संदेहवाद का पालन करना कठिन है । दो बार वह ईश्वरवाद का पक्ष लेते प्रतीत होते हैं । एक तो, ईश्वर की संभावना स्थापित करना संभव कहा गया है, जहाँ संदेहवाद की दृष्टि से परम तत्त्व का अस्तित्व संभव या असंभव, दोनों को तर्कसंगत विकल्प कहना चाहिए था । फिर, ईश्वरवाद को अर्थपूर्ण विश्वदर्शन कहने के साथ-साथ, लेखक को निरीश्वरवाद की सार्थकता भी स्वीकारनी चाहिए थी । गौण असंगति के ये उदाहरण लेखक के अपने, ईश्वरवादी झुकाव से उत्पन्न हो सकते हैं। लेकिन ग्रंथ के दो मूलभूत सिद्धांत भी एक दूसरे का खण्डन करते प्रतीत होते हैं । यदि ऐसा हो, तो क्या यहाँ प्रस्तुत धर्मदर्शन स्वयं ही मूलत: अंतर्विरोधी नहीं है ? एक ओर, धार्मिक विकल्प में परम तत्त्व की अनिवार्यता निहित कही गयी है ; दूसरी ओर , धार्मिक विकल्प के साथ परम तत्त्व के अभाव की परिकल्पना भी माननी है। तो क्या संगत रीति से संदेहवाद अपनाना संभव है ? और यदि असंभव है, तो क्या इसके बदले सत्य की कसोटी पर आधारित नवीन धर्मदर्शन का निर्माण करना हमारा कर्तव्य नहीं है ?

सेंट अल्बर्टस् कॉलेज — योहन फाइस
पोस्ट बॉक्स क्र.५
राँची - ८३४००१

टिप्पणियाँ

1. Yale University Press, New Haven and London, 1989.
2. " The reference is to the rationality of the believing, not of what is believed". p.212
3. " Theistic belief arises, like perceptual belief, from a natural response of the human mind to its experiences ". p.214.

4. " We are so made that we ... can only live on the basis of our experience and on the assumption that it is generally congnitive ". p.216
5. "The content of the belief, is however relevant to the rationality or otherwise of someone's believing it ".p.212
6. "I believe that reason can ascertain both that there may be a God and that this is a genuinely important possibility". p.219
7. "Each aspect of the universe .. (is) capable of both a theistic and a naturalistic interpretation". p.122
8. "It (the universe) permits both a religious and a naturalistic faith, but haunted in each case by a contrary possibility".p.124
9. "I suggest that in these circumstances it is wholly reasonable for the religious person to trust his or her own experience ". p.228
10. "It would be irrational to base life upon this theoretic possibility ". p.228
11. ... at the deeper level of the cognitive choice whereby we come to experience in either a religious or a non-religious way ".p.159
12. "We are in fact able to exclude the entire religious dimension"p.161
13. "The whole course of this discussion points to the conclusion that it is rational for people to believe what their experience leads them to believe ".p.218
14. "Whether we judge it proper to adopt another person's beliefs, held on the basis of their own experience ... will properly depend upon questions concerning the content of those beliefs " . p.219
15. "... a viable justification of religious belief ... leads inevitably to the problems of religious pluralism ". p.xv
16. "It is evident as a matter of logic that, since (The great religions of the world) disagree not more than one of them can be true ". p.229
17. "For if the different kinds of religious experience justify people in holding the incompatible sets of beliefs developed within the different traditions, has not our justification for religious helief thereby undermined itself ? p.238
18. जिसे हम यहाँ "परम तत्त्व" कहते हैं , उसे हिक अनेक प्रकार से कहते हैं , जैसे "the real " , "the Ultimate (Reality)". आदि। पदका तात्पर्य है : "a term by which to refer to the postulated ground of the different forms of religious experience". p.236.
19. "The noumenal Real is such as to be authentically experienced as a range of both theistic and non-theistic phenomena ". pp.246-247
20. "The Real is the ultimate ground or source of those qualities which characterise each divine *persona* and *impersona* insofar as these are authentic phenomenal manifestations of the Real". p.247.
21. "an authentic manifestation" p.248 (टिप्पणी१९ से तुलना करे) "Authentically experienced , या " an appropriate response to that deity or absolute is an appropriate response to the Real ". p.248
22. "... why postulate such an unknown and unknowable Ding an sich ? The answer is that the divine noumenon is a necessary postualte of the pluralistic religious life of humanity". p.249 ···शेष पृष्ठ भी देखें)
23. "We should have either to regard all the reported experiences as illusory or else return to the confessional position in which we affirm the authenticity of our own stream of religious experience whilst dismissing as illusory those occurring within other traditions. But for those to whom neither of these options seems realistic the pluralistic affirmation becomes inevitable, and with it the postualation of the Real an sich " p.249 {and note 15}
24. "The universe is religiously ambiguious in that it is possible to interpret it, intellectually and experientially, both religiously and naturalistically ". p.12.

25. " .. it is wholly reasonable for the religious person to trust his or her own experience ... Such a person will, if a philosopher, be conscious of the ever-present theoretical possibility that it is delusory ... p.229

आन्तरिकता : किर्केगार्ड के चिन्तन में

किर्केगार्ड को अस्तित्ववाद का प्रवर्तक माना जाता है। किर्केगार्ड हेगेल के समयुगीन हैं। किर्केगार्ड के युग में हेगेल के विचारों का प्रमाण स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हेगेलीय विचारों की प्रभावशीलता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि किर्केगार्ड के विचारों को उनके अपने जीवन-अवधि में मान्यता नहीं मिल पायी। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब अस्तित्ववादी विचार लोकप्रियता की ओर उन्मुख हुआ तो लोगों ने महसूस किया कि करीब सौ वर्ष पूर्व कुछ इसी प्रकार के विचार किर्केगार्ड ने प्रस्तुत किया था। कहीं किर्केगार्ड में अभिरुचि का तत्काल कारण बना और किर्केगार्ड की पुस्तकों और साहित्य के अनुवाद और उन पर वादविवाद का क्रम प्रारम्भ हुआ। किर्केगार्ड के विचारों की दूरगामिता का इससे सबल साक्ष्य और क्या हो सकता है कि जो विचार बीसवीं शताब्दी में चरम लोकप्रिय हुआ उसे इन्होंने करीब सौ वर्ष पूर्व ही प्रतिपादित किया था।

किर्केगार्ड ने अपने जीवनकाल में ही इस तथ्य को महसूस कर लिया था कि उनके विचार इतने मौलिक और प्रचलित धारा से विपरीत हैं कि उन्हें मान्यता नहीं मिलनेवाली है। यदि किर्केगार्ड के जीवन के घटनाक्रम के आलोक में उनके अस्तित्ववादी विचारपर विमर्श किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता कि उनका जीवन दु:खों से परिपूर्ण रहा है। अपने दु:खों को उन्होंने अकेले ही झेला है। और अपने दु:ख में किसी को सहभागी बनाना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। निराशा, विफलता एवं टूटन उनके जीवन में निरंतर उपस्थित होता रहा और इसकी इतनी तीव्र अनुभूति उन्होंने की कि इसे उन्होंने अपने चिन्तन में भी प्रधानता दी। किर्केगार्ड ने यह महसूस किया कि इनके साथ भी जीते रहने पर 'ठहराव' की स्थिति संभव है। किर्केगार्ड इस बात पर बल देते हैं कि मानवीय स्थिति का सही मूल्यांकन व्यक्ति की विशिष्टता एवं आंतरिकता के अवबोध के आधार पर ही संभव है। किर्केगार्ड व्यक्ति के आंतरिक जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित करने के प्रति विशेष रूप से प्रयत्नशील रहे।

किर्केगार्ड यह दिग्दर्शित करते हैं कि व्यक्ति का मानवीय अस्तित्व आंतरिक

तनाव तथा क्लेश से संरचित है, तथा इसी के साथ समायोजन के प्रयत्न में व्यक्ति अग्रेसर रहता है।'

किर्केगार्ड के अस्तित्ववाद और हेगेल के अध्यात्मवाद में विरोध

अस्तित्ववाद मानव-केंद्रित दर्शन है। अत: किर्केगार्ड के लिये परिकल्पनात्मक दर्शन का विरोध बिल्कुल स्वाभाविक है। किर्केगार्ड किसी दार्शनिक तंत्र के निर्माण के भी पक्षधर नहीं क्योंकि यह मानव को परतंत्र बना देता है। हेगेलवाद से उनका विरोध इसी कारण हुआ। किर्केगार्ड यह मानते हैं कि जिस प्रकार कट्टरपंथी ईसाई ईसाई धर्म के शत्रु हैं उसी प्रकार हेगेलवाद भी ईसाई धर्म का शत्रु है। किसी भी प्रकार के बंधन में पड़ जाने से मनुष्य अपना स्वत्व खो बैठता है। हेगेल मनुष्य को द्वन्द्वात्मक विधि के बंधन में जकड़ कर उसे परतंत्र बना देता है। इसीलिए हेगेलीय विचार पर उन्होंने तीव्र प्रहार किया।

किर्केगार्ड मानते हैं कि हेगेल का दर्शन मनुष्य तथा उसकी सत्ता के प्रति न्याय नहीं करता। हेगेल का दर्शन सूक्ष्म वस्तुगत चिन्तन है। यह मानव स्थिति के लिये लाभ कर नहीं। हेगेल का दर्शन हमें मनुष्य से दूर करते हुए वस्तुगत दृष्टिकोन से मानवीय सत्ता को उदासीनता का विषय बना देता है।

किर्केगार्ड ने यह अनुभव किया कि हेगेल के दर्शन से किसी नवयुवक के मन का सन्देह दूर नहीं हो सकता। हेगेलीय शुद्ध प्रत्यय की उद्भावना से कोई मार्ग-निर्देश नहीं मिलता। हेगेल के शुद्ध प्रत्यय से किसी व्यक्ति को, जो उसके बीच अति नगण्य स्थान रखता हो, कैसे मार्ग निर्देश मिल सकता है?

हेगेल और किर्केगार्ड की चिन्तन विधि ही परस्पर विरोधी है; अत: इनके निष्कर्ष भी परस्पर विरोधी होंगे। हेगेल के सिद्धांत में विश्व और ईश्वर में तादात्म्य-सम्बन्ध देखने को मिलता है। विश्व के रूप में ईश्वर अपनी अधिकाधिक पूर्णता से प्रकट हो रहा है। जब संसार पूर्णता प्राप्त कर लेगा, उस समय संसार ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति माना जायेगा। किर्केगार्ड के अनुसार ईश्वर और उसकी रचना में अवश्य ही कुछ भेद होना चाहिए। असीम और ससीम में अन्तर अपेक्षित है। दोनों के बीच एक असमाप्य खायी है।

किर्केगार्ड की पुस्तकों का नामकरण ही स्पष्ट कर देता है कि किर्केगार्ड के विचार हेगेल-विरोधी हैं। किर्केगार्ड का जीवन-क्रम हेगेल के विपरीत एकान्तप्रिय और आत्मनिष्ठ रहा है। हेगेल का विरोधी होते हुए भी किर्केगार्ड के मन में उसके प्रति आदर का भाव रहा है। उन्हीं के शब्दों में – "मैं हेगेल का आदर करता हूं। वह कभी मुझे पहेली नजर आता है। मैंने उससे बहुत कुछ सीखा है। मैं समझता हूं अभी उससे और कुछ सीख सकता हूं। उसके दार्शनिक चिन्तन, उसका विस्तृत ज्ञान और उसकी सूक्ष्म प्रतिभा का मैं समर्थक हूं .... किन्तु जो व्यक्ति जीवन की जटिल समस्याओं में पड़ा है वह हेगेल के दर्शन से लाभान्वित नहीं हो सकता, उसकी कोई समस्या हल नहीं हो सकती है।[२]

किर्केगार्ड के अस्तित्ववाद में आंतरिकता

हेगेलीय निरपेक्षवाद से असंतुष्ट किर्केगार्ड सत्य पर विशिष्ट रूप से विचार करते हैं। किर्केगार्ड ने सत्य को पारिभाषित करते हुए कहा है कि "सत्य आत्मनिष्ठता है" Truth is Subjectivity। इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि 'आत्मनिष्ठता' कोई पृथक् वैचारिक कोटि है जिसका आरोपण सत्य पर किया जा रहा है। किर्केगार्ड का मन्तव्य यह है कि 'सत्य' और 'आत्मनिष्ठता' दोनों एक दृष्टि से पर्यायवाची हैं।

इस स्थल पर एक भेद की चर्चा प्रासंगिक होगी। किर्केगार्ड के लिये 'वैचारिक आत्म' तथा अस्तित्ववान् आत्म' में प्रकार का भेद है। किर्केगार्ड सामान्य प्रचलित धारणा के विपरीत यह मानते हैं कि वैचारिक आत्म को सत्य की अनुभूति नहीं होती। सत्य की अवधारणा का निर्माण नहीं किया जा सकता, जब कि वैचारिक आत्म अवधारणाओं पर ही विचार करता है। यदि वैचारिक आत्म सत्य का कोई चित्र प्रस्तुत करता भी है तो वह मात्र वैचारिक ही होता है, वास्तविक नहीं। वास्तविक सत्यों की अवधारणा नहीं बनती, उन्हें 'जीया' जाता है, उन्हें झेला जाता है। किर्केगार्ड के ही शब्दों में 'मैं सत्य को तब तक नहीं जान सकता जबतक वह मुझमें जीवन्त न हो जाये [३]। सत्य का यह स्वरूप यदि मान्य हो तो इसका अर्थ होगा कि 'सत्य आन्तरिकता है' । सत्य बाह्यारोपित नहीं होता, यह अन्तर में जागता है। इसी कारण यह आन्तरिकता है।

किर्केगार्ड के उपर्युक्त कथन ने दर्शन जगत् में कापरनिकसीय क्रांति ला दी। पश्चिमी दर्शन में यह माना जाता रहा है कि सत्य के अवबोध के लिये उस पर वस्तुगत चिन्तन की आवश्यकता है। किर्केगार्ड ने इस प्रचलित विचार का विरोध करते हुऐ सत्य को आत्मनिष्ठता के रूप में स्वीकार किया। केवल बौद्धिक सन्तोष से न सत्य जाना जा सकता है और न जीवन के मूल्य। सत्य तो आन्तरिक अनुभव की वस्तु है। सत्य के स्वरूप के सही बोध के लिये वैज्ञानिक चिन्तन भावना पर विश्वास नहीं करता। यदि लोग सत्य के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रस्तुत करने लगेंगे तो उनमें मतैक्य की संभावना नहीं। अत: वस्तुगत चिन्तन के अनुसार सत्य वही है, जो दूसरों को भी ग्राह्य हो। किर्केगार्ड इसे आध्यात्मिक आत्म-हनन कहते हैं। पूर्व प्रचलित धारणा का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि 'दूसरे लोग', 'समाज', 'समुदाय' या 'मानवता' को सत्य का निर्णायक मानने का कोई आधार नहीं। जीवन में हमारे लिये जो कथनीय और करणीय है, उसका मापदण्ड वस्तुगत चिन्तन नहीं हो सकता [४]।

उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट है कि किर्केगार्ड सत्य की आन्तरिकता में विश्वास करते हैं। सत्य प्राप्त करने की वस्तुगत और आत्मगत पद्धति में भेद को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। किर्केगार्ड इस संदर्भ में ईश्वरीय ज्ञान की चर्चा करते हैं। यदि ईश्वर का ज्ञान हम वस्तुगत रूप में प्राप्त करने की ओर उन्मुख [illegible] अनुचिन्तन इस समस्या पर केन्द्रित होता है [illegible] विषय का ज्ञान हम प्राप्त कर [illegible]

वह ईश्वर सत्य है या नहीं। ईश्वर के ज्ञान को जब हम आत्मनिष्ठ रूप में प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं तो हमारा अनुचिन्तन इस समस्या की ओर केन्द्रित होता है कि व्यक्ति का किसी वस्तु से उस रूप में संबंध है या नहीं कि वस्तु और व्यक्ति के बीच जो सत्य सम्बन्ध है उसे व्यक्ति और ईश्वर के बीच सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाये। अस्तित्ववान् व्यक्ति सत्यप्राप्ति के लिये वस्तुगत या आत्मगत दोनों में किसी भी पद्धति का चयन कर सकता है। वस्तुनिष्ठ विचारक उपगमन की प्रक्रिया (Process of Approximation) में प्रवेश कर ईश्वर को वस्तुनिष्ठता प्रदान करते हैं। पर, किर्केगार्ड की दृष्टि में यह असंभव है क्योंकि ईश्वर एक विषयी है। अत: ईश्वर की ओर अभिगमन मात्र आत्मनिष्ठता की आन्तरिकता में ही संभव है। ईश्वर पर आत्मनिष्ठ रूप में विचार करने के क्रम में ईश्वर की वस्तुनिष्ठता में अन्तर्लीन द्वन्द्वात्मक कठिनाइयों से व्यक्ति परिचित होता है। जब द्वन्द्वात्मक व्याघात व्यक्ति के मनोभावों को निराशा की बिन्दु की ओर अग्रसर करता है तब ही मात्र व्यक्ति ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करता है। यह व्यक्ति को निराशा की कोटि के साथ ईश्वर को अंगीकार करने का अवसर प्रदान करता है। इस स्थिति में अस्तित्ववान् व्यक्ति की ईश्वर सम्बन्धी अभिधारणा एक अनिवार्यता है। आत्मनिष्ठ पद्धति के द्वारा ईश्वर की ओर उपागम वस्तुनिष्ठ विमर्श द्वारा नहीं बल्कि आन्तरिकता की अनंत मनोभावों द्वारा संभव होता है। वस्तुनिष्ठ और ज्ञान में अन्तर स्पष्ट करते हुए किर्केगार्ड कहते हैं कि वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ ज्ञान उपगमन की दीर्घ प्रक्रिया के द्वारा अग्रसर होता है जिसमें मनोभाव के लिये कोई स्थान नहीं होता। आत्मनिष्ठ ज्ञान प्रत्येक विलम्ब को एक भयावह संकट मानता है[५]।

इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि सत्य आखिर क्या है? क्या सत्य विषय में है या विषयी में? या विषय और विषयी के सम्बन्धों में? या फिर कहीं और? परम्परागत रूप में सत्य को मानसिक अन्तर्वस्तु (निर्णय या विचार) और विश्व में उपस्थित तथ्य, जिसके निर्णय या विचार प्रतिनिधि हैं, के बीच सहमति माना गया है। यदि इस मत की वैधता मान्य हो तो किर्केगार्ड के द्वारा सत्य को आन्तरिकता के रूप में स्वीकार किया जाना दुर्भाग्यपूर्ण माना जाना चाहिये। पर, किर्केगार्ड द्वारा प्रयुक्त भाषा को वस्तुनिष्ठ सत्य की स्वेच्छाचारिता के प्रति उनके खुले विद्रोह के आलोक में समझा जाना चाहिये। सत्य की परिपूर्णता आंतरिकता की उपाधि है। सत्य प्रतिज्ञप्तियों के सम्बन्ध में चर्चा पूर्णतया निर्वैयक्तिक नहीं है। सत्य कुछ इस प्रकार की वस्तु है जिसे हम आंतरिकता के रूप में आत्मसात् करते हैं[६]।

यदि हम ईश्वर को वस्तुनिष्ठ ढंग से जानने की चेष्टा करते हैं, तो तर्क देते हैं, युक्तियों का निर्माण करते हैं तथा समर्थन में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इस वस्तुनिष्ठ ढंग से ईश्वरीय अनुभूति नहीं होती बल्कि उसके सम्बन्ध में कुछ वस्तुगत अनिश्चिततायें अवश्य प्राप्त होती हैं। इस अनिश्चितता के कारण हमारे मन में तीव्र आन्तरिक व्याकुलता जागृत

होती है। इस व्याकुलता की प्रबल भावात्मकता की स्थिति में अनिश्चयता का भी आत्मीयीकरण हो जाता है जो इसे ठहराव देता है। इस ठहराव में व्यक्ति को आस्था मिलती है और यह आस्था सत्य के रूप में उभरती है। अत: ईश्वर के प्रति आस्था भी प्रबल भावनात्मक आत्मीयता से ओतप्रोत है। ईश्वरीय सत्य की प्राप्ति इसी प्रकार होती है। इसीलिए किर्केगार्ड की उक्ति है कि तीव्र आंतरिक भावनात्मक व्याकुलता से आस्था जगती है। भावनात्मक रूप में सशक्त आस्था ईश्वरीय सत्य है। अत: यह स्पष्ट है कि सत्य आंतरिकता है।

'सत्य आंतरिकता है' - किर्केगार्ड के इस कथन ने पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन की दिशा को नूतन आयाम प्रदान किया। अस्तित्ववाद उन विचारों का प्रबल विरोधी है जो मानव जैसे मूर्त विषय को त्याग कर आत्मा, अमरता, विचार जैसे अमूर्त विषयों पर विमर्श करता है। सत्य को आंतरिकता से सम्बन्धित कर किर्केगार्ड ने वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक चिन्तन प्रक्रिया पर सीधा प्रहार किया है। ईश्वरीय ज्ञान वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि यह अनिश्चयता लाता है। अन्ततोगत्वा यह वस्तुनिष्ठ अनिश्चयता भी हमारी भावात्मक व्याकुलता में अन्तर्लीन हो आत्मीयीकरण को प्रश्रय देती है। अत: किर्केगार्ड का यह महत्तम अभिकथन है कि 'सत्य आंतरिकता है'।

बीना शरण

द्वारा, डॉ. विजय शरण
एच्. १३, चाणक्यपुरी कॉलनी
कटारी हिल रोड
गया - ८२३ ००१ (बिहार)

संदर्भ सूची

१ - बसन्त कुमार लाल; *समकालीन पाश्चात्य दर्शन*, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, १६६०, पृ. ४७५।
२ - डब्ल्यू लोरी (अनुवादक) *कन्क्लूडिंग अनसाइटिफीक पोस्टस्क्रिप्ट* (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पटना, १६४५), पृ. ५५८।
३ - किर्केगार्ड; *ट्रेनिंग इन क्रिश्चयनीटि*, वसन्त कुमार लाल, *समकालीन पाश्चात्य दर्शन*, पृ. ४६० पर उद्धृत।
४ - डॉ. हृदय नारायण मिश्र; श्री प्रतापचन्द्र शुक्ल, *अस्तित्ववाद*, किताब घर, कानपुर, १६८८, पृ. ६२।
५ - एम. के. भद्रा; *ए क्रीटिकल सर्वे आफ फिनोमिनालाजी एण्ड एक्सजिस्टलिज्म* (इंडियन कांसिल ऑफ फिलोसोफिकल रिसर्च, नयी दिल्ली, १८६०, पृ. १६३।
६ - जान मैक्यूरी, *एकजिस्टलियेज्म*, पेनगुइन १६८०, पृ. १३६।

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२३१. डॉ. चन्द्रकला माटा
टीचर्स फ्लैट क्र. ११
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कैम्पस
कुरुक्षेत्र - १३२ ११९
(हरियाना)

२३२. मुनि श्री. विमल सागर
द्वारा , श्री. कीर्तिकुमार एम्. शाह
एफ्/१०१ , विजापूर ज्ञाति नगर
दामोदर वाड़ी के पास
अशोक चक्रवर्ती रोड़
कान्दिवली (पूर्व)
बम्बई - ४०० १०१.

एयर के 'अन्य मनस् का ज्ञान' के मत की व्याख्या

दर्शनशास्त्र में "अन्य मनस् का ज्ञान" एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न भिन्न मत हैं। आनुभविक दृष्टिकोण से यह समस्या अन्य व्यक्तियों के विचार, अनुभूतियों एवं संवेदनाओं के ज्ञान की समस्या है। संशयवादियों के अनुसार अन्य मनस् का ज्ञान नाम की कोई समस्या ही नहीं है। उनके अनुसार जब तक एक व्यक्ति स्वयं अन्य व्यक्ति नहीं बन जाता है तब तक वह अन्य व्यक्ति की अनुभूतियों एवं संवेदनाओं का ज्ञान नहीं कर सकता है जो एक तार्किक असंभावना है। एक व्यक्ति अपने स्वयं में रहते हुए अन्य व्यक्ति नहीं बन सकता है। अत: संशयवादियों के अनुसार अन्य मनस् के ज्ञान की समस्या एक मिथ्या समस्या है।

अहंमात्रवादी सिद्धांत के अनुसार सभी ऐन्द्रिक अनुभव एवं ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु एक आत्मा के निजी होते हैं। इस प्रकार की अवधारणा से स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि सभी आनुभविक ज्ञान विश्लेषण के फल स्वरूप ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुओं के संवंधी के ज्ञान में परिणत होता है और एक व्यक्ति का संपूर्ण ऐन्द्रिक इतिहास उसके स्वयं का निजी होता है। यह स्थिति अहंमात्रवादी स्थिति है जिसके अनुसार एक व्यक्ति के अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति या अन्य मनस् का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अहंमात्रवादी सिद्धांत आत्मविरोधी नहीं है लेकिन व्यावहारिक जीवन में इसको असत्य माना गया है।

प्रस्तुत पत्र में हम अन्य मनस् के ज्ञान के सम्बन्ध में एयर के मत की व्याख्या करेंगें। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि वह अन्य मनस् के अस्तित्व को स्वीकार करता है। लेकिन प्रश्न यह है कि अन्य मनस् के अस्तित्व में विश्वास करने का क्या कारण है? यह प्रश्न मनोवैज्ञानिक न होकर एक तार्किक प्रश्न है।

अन्य मनस् के अस्तित्व में विश्वास के बारे में एयर का कहना है कि इस सम्बन्ध में सादृश्यमूलक तर्क का प्रयोग किया जा सकता है। यह तर्क "हमारे शारीरिक व्यवहार एवं अन्य मनस् के शारीरिक व्यवहार में प्रेक्षित समानता पर आधारित होता है।" उसके अनुसार हम सादृश्यमूलक तर्क का वैधानिक रूप से किसी वस्तु के संभावित अस्तित्व के

परामर्श (हिन्दी), खण्ड १३, अंक ३; जून, १९९२

बारे में प्रयोग कर सकते हैं, जिसका यद्यपि हमारे जीवन में वास्तविक अनुभव न हुआ हो लेकिन उस अनुभव के बारे में सैद्धान्तिक रूप से विचार किया जा सकता है। जिस वस्तु का सैद्धान्तिक रूप से विचार नहीं किया जा सकता है वह एक तत्त्वमीमांसीय वस्तु होती है। एयर का मानना है कि अन्य मनस् के अस्तित्व की समस्या कोई तत्त्वमीमांसीय समस्या नहीं है, अत: यह कोई मिथ्या समस्या नहीं है।

एयर का यह विचार नहीं है कि अन्य मनस् के अनुभवों को अपने अनुभव में परिणत करने से उनकी वास्तविकता को अस्वीकार करना है। प्रत्येक व्यक्ति को अन्य के अनुभवों को उस संन्दर्भ में परिभाषित करना चाहिए जिसका वह स्वयं सैद्धान्तिक रूप से प्रेक्षण कर सके। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम में से प्रत्येक सभी अन्य मनुष्यों के केवल रोबेट समझ ले। इसके विपरीत चेतन मनुष्य और अचेतन मशीन का भेद उनके प्रेक्षित व्यवहार में देखा जा सकता है। किसी वस्तु के अचेतन या मशीन कहने का आधार यही हो सकता है कि वह उन आनुभविक परीक्षणों में असफल हो जाती है जिनके द्वारा चेतना का होना या न होना निर्धारित किया जाता है।

यहां पर दो कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं।

१ - एक तो यह प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसी वस्तु के बारे में कल्पना की जा सकती है जो हर तरीके से उसी प्रकार से व्यवहार करे जैसे कि चेतन व्यक्ति व्यवहार करता है, लेकिन फिर भी वह चेतन न हो।

२ - दूसरी बात यह है कि क्या एयर उस सन्दर्भ में चेतना को गुप्त रूप से रोबोट की अपेक्षा व्यक्ति का विशिष्ट गुण बतलाने का प्रयत्न करता है। अगर ऐसी बात है तब यह कहा जा सकता है कि उसका यह व्यवहारवादी विश्लेषण उचित नहीं है[१]।

एयर अन्य मनस् के अस्तित्व को वास्तविक और काल्पनिक ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु के घटित होने के संदर्भ में परिभाषित करता है। वह कहता है कि अपेक्षित ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु प्रत्येक मनुष्य के ऐन्द्रिक इतिहास में घटित होती है। वह इसके आधार पर इस बात में विश्वास करता है कि उसके स्वयं के अलावा अन्य चेतन व्यक्ति भी अस्तित्व रखते हैं। इस प्रकार वह इस बात को स्वीकार करता है कि अन्य मनस् के बारे में ज्ञान की समस्या ऐसी नहीं है जिसका समाधान नहीं किया जा सकता है, अपितु यह समस्या केवल यह बताने की है कि किस प्रकार एक विशिष्ट प्रकार की प्राक्कल्पना को आनुभविक रूप से प्रमाणित किया जा सकता है।

ऐसा समझा जाता है कि यदि प्रत्येक मनुष्य के अनुभव उसके निजी अनुभव हैं और उस तक ही सीमित रहते हों तो अन्य व्यक्तियों के अनुभव गुणात्मक दृष्टि से उसके समान नहीं हो सकते हैं। लेकिन एयर इस तर्क को उचित मानता है। इस सम्बन्ध में यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि दो व्यक्तियों की संवेदनाओं में केवल संरचना की

समानता देखी जा सकती है न कि अन्तर्वस्तु की समानता । लेकिन एयर की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु के स्वयं के प्रेक्षण के आधार पर परिभाषित करता है । यदि वह अन्य व्यक्तियों के अनुभवों को आवश्यक रूप से अप्रेक्षीय वस्तु समझता है तो वह उसके लिए एक तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना होती है । अत: यह सोचना गलत है कि मनुष्य की संवेदनाओं में हम केवल संरचना के जानते हैं । इसके साथ-साथ हम अन्तर्वस्तु को भी जानते हैं क्योंकि एयर कहता है कि अन्य मनुष्यों की संवेदनाओं की अन्तर्वस्तु यदि वास्तव में किसी के अनुभव की पहुँच के बाहर है तो वह उनके बारे में कुछ नहीं कह सकता है । परन्तु उनके बारे में सार्थक कथन कर सकता है क्योंकि वह स्वयं के और उनके बीच के संबंध को उसी संदर्भ में परिभाषित करता है जो वह स्वयं अनुभव कर सकता है । इस प्रकार हम में से प्रत्येक के पास इस बात को स्वीकार करने के पर्याप्त कारण हैं कि हम एक दूसरे को समझते हैं । "इस प्रकार परस्पर समझ की बात को व्यवहार के सामंजस्य के संदर्भ में परिभाषित किया जा सकता है ।" यह कहना कि दो व्यक्ति एक ही जगत् में रहते हैं इसका तात्पर्य यह है कि वे एक दूसरे की समझने की क्षमता रखते हैं ।

इस प्रकार एयर अपनी प्रारंभिक अवधारणा में मनस् के ज्ञान के बारे में व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाता है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अन्य व्यक्तियों के अनुभवों को हम उन व्यक्तियों के भौतिक या व्यवहारवादी अभिव्यक्तियों के माध्यम से जान सकते हैं ।

एयर अपनी पुस्तक *The Foundations of Empirical Knowledge* में उक्त व्यवहारवादी दृष्टिकोण का खंडन करता है । वह इस बात को स्वीकार करता है कि यह एक अनिवार्य तथ्य है कि जो अनुभवों की श्रृंखला मेरे इतिहास को निर्मित करती है वह किसी भी प्रकार से अनुभवों की उस श्रृंखला से मेल नहीं खाती है जो अन्य व्यक्ति के इतिहास को निर्मित करती है । इस कारण से एयर इस बात की कल्पना करने में कोई कठिनाई नहीं महसूस करता है कि ऐसे अनुभव हो सकते हैं जो जिस तरीके से मेरे आनुभविक इतिहास को निर्मित करने में संबंधित न हो कर उसी तरीके से अन्य व्यक्ति के आनुभविक इतिहास से संबंधित हो सकते हैं ।[२] इसी सम्बन्ध में यह स्वीकार किया जा सकता है कि ऐसे अनुभवों की अन्तर्वस्तु का प्रेक्षण नहीं किया जा सकता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके प्रति हमारे संकेतों का प्रमाणीकरण नहीं हो सकता है ।

किन्तु ऐसी बात अन्य मनुष्यों के अनुभवों के बारे में नहीं कह सकते हैं । एयर यह मानता है कि ऐसा कहना तार्किक रूप से अकल्पनीय नहीं है कि कोई व्यक्ति ऐसा अनुभव कर सकता है जो वास्तव में अन्य मनुष्यों का अनुभव है । अनुभव अपने आप में कुछ नहीं है जिससे वह किसी व्यक्ति के इतिहास का निर्माण करता है और किसी अन्य

व्यक्ति के इतिहास का नहीं करता है ।[3] अत : वह इस निष्कर्ष पर आता है कि जिस अर्थ में यह समझते हैं कि अन्य मनुष्यों के अनुभव हमारे प्रेक्षण की क्षमता के बाहर हैं, वह ऐसा नहीं है जो हमारी समझ के लिए उन अनुभवों के अस्तित्व की प्राक्कल्पना को अप्राप्य बना देता है । जब यह कठिनाई दूर हो जाती है तो हमारे लिए यह संभव हो सकता है कि अन्य मनुष्यों के बारे में हमारे जो विश्वास हैं उनका औचित्य सादृश्यमूलक तर्कों के आधार पर बता सकते हैं । और ये अन्य व्यक्तियों के उद्देश्य मूलक व्यवहार एवं उनके द्वारा प्रयोग किए गए संकेतों के प्रेक्षण पर आधारित होते हैं । इस दृष्टि से एयर इस बात पर बल देता है कि अन्य व्यक्ति ऐसे संकेतों का प्रयोग करते हैं, जो हमको ऐसी सूचना प्रदान करते हैं जिसके बारे में हम पहले अनभिज्ञ थे । इस प्रकार वह अन्य मनुष्यों के अनुभवों को जानने का औचित्य सादृश्यमूलक तर्क के द्वारा प्रस्तुत करता है ।

इस बात में एयर बाद में संशय करने लगता है क्योंकि वह इस संभावना को स्वीकार करता है कि यद्यपि ऐसी परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिसमें हम यह कैसे कह सकते हैं कि एक ही अनुभव दो भिन्न व्यक्तियों में हो सकता है लेकिन तथ्य यह है कि वह एक अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति है कि यह ऐसा नहीं हो सकता है और इस कारण से सादृश्यमूलक तर्क उचित प्रतीत नहीं होता है । अत : एयर अन्य व्यक्तियों के अनुभव के बारे में पुन : व्यवहारवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है । लेकिन इस दृष्टिकोन के प्रति भी वह पूर्णतया आश्वस्त नहीं है ।[4]

एयर अपनी पुस्तक *Philosophical Essays* में अन्य मनस् के ज्ञान संबंधी समस्या के बारे में नये दृष्टिकोण से चिंतन करते हैं । कुछ दार्शनिक यह मान सकते हैं कि अन्य मनुष्यों के अनुभवों को हम मन :पर्याय द्वारा जान सकते हैं । साधारणतया ऐसा माना जाता है कि मन :पर्याय एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच की खाई का पाटने की काम करता है । लेकिन यदि यह खाई आनुभविक एवं व्यावहारिक है तब एयर सोचता है कि इसको मन :पर्याय के अलावा अन्य विधियों से भी पाटा जा सकता है । यदि यह खाई तार्किक है तो कोई भी इसको पाट नहीं सकता है । अन्य व्यक्तियों के अनुभव को जानने के लिए हमको उसके अनुभव का भागीदार होना पड़ता है और भागीदार होने का अर्थ है कि उसके अनुभव हमको 'रखने' चाहिए । अन्य के अनुभव हम तभी 'रख' सकते हैं जब कि हम स्वयं अन्य व्यक्ति बनें । लेकिन यह एक तार्किक असंभावना है क्योंकि हम स्वयं के रहते हुए हम अन्य व्यक्ति नहीं बन सकते हैं । जब हम यह कहते हैं कि हम अपने अनुभव जानते हैं तब उसका तात्पर्य यह है कि हम वास्तव में उन अनुभवों को 'रखते' हैं ; लेकिन इस अर्थ में हम यह नहीं कह सकते हैं कि हम अन्य व्यक्तियों के अनुभवों को जानते हैं, क्योंकि उनके अनुभवों को हम 'रख' नहीं सकते हैं ।[5]

ऐसा कहा जा सकता है यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ सह-चेतना रखता है तो शायद वह उसके अनुभवों के उसी प्रकार जान सकता है जिस प्रकार वह अपने अनुभवों को जानता है। ऐसा करने में वह एक ही समय में दो व्यक्ति होने में सफल हो सकता है। लेकिन यहां ध्यान देने की बात यह है कि दोनों व्यक्तियों के बीच की खाई आवश्यक रूप से रहती है क्योंकि कोई भी व्यक्ति अन्य व्यक्ति के अनुभवों को रखते हुए अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रख सकता है।

एयर इस बात को स्वीकार करता है कि यदि अन्य मनस् का ज्ञान करने का अर्थ अन्य व्यक्ति के अनुभवों में अक्षरश: भागीदार होना है तो हम कभी भी अन्य मनस् को नहीं जान सकते हैं। "ज्ञान" शब्द के इस कठोर अर्थ में अन्य मनस् के ज्ञान की समस्या एक मिथ्या समस्या है। एयर के शब्दों में "यदि इस बात को जानने में कि अन्य व्यक्ति क्या सोच रहा है या अनुभूत कर रहा है मुझे उसके अनुभवों में अक्षरश: भागीदार होना है और यदि उसके अनुभवों में अक्षरश: भागीदार होने का कोई अर्थ नहीं है, तब स्पष्टतया मेरे द्वारा उसके सोचने या अनुभूत करने के जानने का कोई अर्थ नहीं है।[६] इसलिए यदि अन्य मनस् के ज्ञान की समस्या को सार्थक बनाना है तो हमें कठोर अर्थ में "ज्ञान" शब्द के प्रयोग को त्यागना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि यद्यपि हम अन्य व्यक्तियों के अनुभवों के उसी प्रकार जानते हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके अनुभवों के अस्तित्व में हमारे विश्वास का कोई उचित कारण नहीं है।

अत: अन्य मनस् का ज्ञान उक्त अर्थ में न किया जा कर अनुमान द्वारा किया जा सकता है। एयर इससे सहमत हैं। प्रश्न उठता है कि अनुमान को न्याय संगत कैसे ठहराया जाए? इसका सामान्य उत्तर यह है कि सादृश्यमूलक तर्क द्वारा इसकी न्यायोचित ठहराया जा सकता है। साधारणतया, सादृश्यमूलक तर्क प्रत्यक्ष प्रेक्षण की एक प्रतिस्थापना माना जाता है। लेकिन अन्य मनस् के मामले में प्रत्यक्ष प्रेक्षण क्या है जिसके लिए सादृश्यमूलक तर्क एक प्रतिस्थापना है ? इसमें प्रत्यक्ष रूप से हम अन्य मनुष्यों के केवल व्यवहार के बारे में सूचना एकत्रित करते हैं। इसके अलावा हम उनके विचार एवं अनुभूतियों का ज्ञान नहीं कर सकते हैं। इसी कारण बहुत से दार्शनिक सादृश्यमूलक तर्क को अवैध मानते हैं। एयर भी इस तर्क को पारंपारिक रूप में स्वीकार नहीं करता है। वह यह मानता है कि "अन्य व्यक्तियों पर विचार अनुभूतियों एवं संवेदनाएं आरोपित करने का आंशिक कारण अवश्य ही यह है कि मेरे स्वयं में वे हैं"। उनके आधार पर एवं स्वयं के तथा अन्य व्यक्ति के नाड़ी तंत्र की समानता मानते हुए वह कहता है कि यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मेरे जैसी स्थिति में होने पर उसे ऐसा दर्द हुआ होगा जैसा मुझे हुआ था।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि एयर अपने स्वयं के दर्द की अनुभूति के आधार पर एवं अन्य व्यक्ति के द्वारा प्रदर्शित भौतिक संकेतों को

देख कर उस व्यक्ति पर भी अपने समान दर्द की अनुभूति होने की बात आरोपित करता है।

अन्य मनस् के ज्ञान के सम्बन्ध में हम अप्राधिकृत होते हैं क्योंकि प्राधिकृत होने का अर्थ अन्य मनस् हो जाना है। स्पष्टतया यह विरोध की बात है कि कोई व्यक्ति एक साथ अपने में और अन्य मनस् में कैसे हो सकता है? जैसा कि एयर कहता है "केवल वही (व्यक्ति) वास्तव में जानता है जब वह सोचता है एवम् अनुभूत करता है। मैं नहीं जानता और न जान सकता हूं क्योंकि मैं स्वयं हूं, वह नहीं।"[८] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हम प्राधिकृत स्थिति में नहीं होने के कारण अन्य मनस् के आंतरिक अनुभवों के वास्तविक रूप में नहीं जान सकते हैं। यद्यपि यह तर्क उचित प्रतीत होता है लेकिन एयर इसके प्रबल तर्क नहीं मानता है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति के अप्राधिकृत होने की बात किसी व्यक्ति के अनुभव के केवल मात्र वर्णन से निःसृत नहीं होती जब तक कि वक्ता के अभिज्ञान की ओर संकेत नहीं किया जाए। "वह" एवं "ते" एवं "तुम" नामक सर्वनाम का प्रयोग यही बतलाता है कि जिन अनुभवों की बात की गयी है वे वक्ता स्वयं के नहीं हैं।[९] और इसलिए उनको जानने के लिए वक्ता बहुत ही उपयुक्त स्थिति में नहीं है। लेकिन एयर के अनुसार वक्ता के अभिज्ञान का संकेत उन तथ्यों के लिएं कोई अर्थ नहीं रखते हैं जिनका वह वर्णन करता है। जब इन सर्वनामों के स्थान पर वर्णन की प्रतिस्थापना हो जाती है तब ये वक्ता की ओर संकेत नहीं करते हैं। एयर के अनुसार हमें यह जानना होगा कि ऐसे मामलों में व्यक्ति की संरचना के संदर्भ में कौन कौन से गुणों का हम चयन करते हैं। इस आधार पर हम किसी व्यक्ति के वर्णन की अभिव्यक्ति के समझ सकतें हैं।[१०]

दो व्यक्तियों के मध्य कभी भी पूर्ण सादृश्य नहीं हो सकता है क्योंकि वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते हैं। एयर की मान्यता है कि अनुभव व गुणों के मध्य समरूपता का संबंध होता है। (अर्थात् अमुक-अमुक गुण होने पर अमुक-अमुक प्रकार का अनुभव होगा)। सामान्यतया ऐसा कोई गुण नहीं है जिसकी हम सिद्धान्तत: परीक्षा नहीं कर सकते। एयर के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति निश्चित गुणों के अलावा कुछ नहीं है।[११] यह एक साधारण आगमनात्मक तर्क है और इसी आधार पर एयर अन्य मनस् के जानने की समस्या का औचित्य बताता है।

अन्य मनस् की समस्या के संबंध में कई दार्शनिकों ने व्यवहारवादी या भौतिकवादी विचारधारा को अपनाया है। इनमें रूडोल्फ कार्नाप एवं गिलबर्ट रायल प्रमुख हैं। इस विचारधारा के अनुसार किसी व्यक्ति के विचार, अनुभूतियां, संवेदना या किसी भी प्रकार के निजी अनुभव के बारे में कुछ कहने का तात्पर्य उसकी भौतिक दशा या व्यवहार के बारे में कहना है। एयर भी इस विचारधारा के प्रलोभन से अपने आपको

बचा नहीं पाये। उसने अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं में इसको अपनाया एवं एक व्यक्ति पर अनुभवों को आरोपित करने वाली प्रतिज्ञप्तियों के मानसिक विश्लेषण को अन्य व्यक्ति पर अनुभवों को आरोपित करने वाली प्रतिज्ञप्तियों के व्यवहारवादी विश्लेषण से सम्मिलित करने का प्रयत्न किया, लेकिन जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया [१२] वह इसके सत्य होने के बारे में पूर्णतया आश्वस्त नहीं था क्योंकि इसके निष्कर्ष आत्म-विरोधी प्रतीत होते हैं। अत: वह अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में इसे त्याग देता है और आगमनात्मक तर्क का सहारा लेता है जिसके द्वारा अन्य व्यक्तियों पर चेतना अनुभव आदि को आरोपित करने की समुचित व्याख्या की जा सके। इस सम्बन्ध में वह प्रो. हिलेरी पुतनाम के मत से सहमति रखता है जिसके अनुसार "अन्य व्यक्तियों की मानसिक स्थितियों के बारे में प्रतिज्ञप्ति के स्वीकार करना, व्याख्यात्मक आगमन के आधार पर साधारण आनुभविक सिद्धांतों को स्वीकार करने के समान भी है और असमान भी। [१३] वह कहता है "हमारी मानसिक स्थितियों के ज्ञान एवं हमारे द्वारा अन्य व्यक्तियों के व्यवहार के प्रेक्षण के आधार पर हम आगमन के द्वारा उन व्यक्तियों की मानसिक स्थितियों के बारे में विशेष प्राक्कल्पनाओं का एक समुच्चय स्थापित करते हैं।" [१४] ये विशेष प्राकल्पनाएँ मानव व्यवहार की व्याख्या करती हैं। इस दृष्टि से एयर का अन्य मनस् के बारे में सिद्धांत साधारण आनुभविक सिद्धांतों से समानता रखता है।

एयर सादृश्यमूलक तर्क को उसके परम्परागत रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उसके अनुसार परंपरावादी इस बिन्दू पर सही थे कि मानसिक स्थिति एवं भौतिक अभिव्यक्ति का संबंध व्यक्ति अपने स्वयं में अनुभव कर सकता है। लेकिन वे इस बिन्दू पर गलत थे कि अन्य व्यक्तियों पर चेतना, अनुभूति, संवेदना आदि आरोपित करना कोई ऐसी विशिष्टता है जिसका प्रेक्षण व्यक्ति अपने स्वयं में कर सकता है, लेकिन अन्य व्यक्तियों में नहीं कर सकता। अन्य व्यक्तियों पर चेतना आरोपित करना मेरे लिए केवल इस सामान्यीकरण को स्वीकार करना नहीं है कि घटनाओं की दो भिन्न-भिन्न श्रृंखलाएं एक मानसिक और एक भौतिक आदतन साथ-साथ होती हैं अपितु यह मेरे द्वारा सिद्धांत के समूचे ढाँचे (Whole body of theory) को स्वीकार किए जाने का परिणाम है, जो मुझे उन अन्य व्यक्तियों के व्यवहार की व्याख्या करने में सक्षम बनाती है जिन पर मैं चेतना, विचार एवं संवेदनाओं के आरोपित करता हूँ। [१५] इस प्रकार एयर के अनुसार सिद्धंत के ढांचे पर विचार करने की योग्यता अपने स्वयं के अनुभव से मानसिक स्थितियों के सीखने पर निर्भर करती है परन्तु उसके स्वीकार करने का औचित्य उसकी "सच्ची व्याख्यात्मक शक्ति" का होना है।

अन्य मनस् की समस्या के सम्बन्ध में सादृश्यमूलक तर्क पर अनेक तीव्र आक्षेप लगाए गए हैं। ऐसा कहा जाता है कि सादृश्य मूलक तर्क के प्रयोग करने वाले दार्शनिक

के पास "अन्य व्यक्तियों के विचार एवं अनुभूतियों के निर्धारण करने की कसौटी नहीं है"।[१६] इसी प्रकार कुछ दार्शनिकों का कहना है कि अपने स्वयं के सम्बन्ध में विचार एवं व्यवहार में सहसंबंध होने का हमारे पास बहुत ही उत्तम आगमनात्मक प्रमाण हो सकता है, लेकिन अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में उसके व्यवहार एवं विचार में सहसम्बन्ध होने की पुष्टि सिद्धांतत: नहीं की जा सकती है।[१७] ऐसा ही मत कुछ अन्य व्यक्तियों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है जो सादृश्यमूलक तर्क को सन्देहास्पद समझते हैं।[१८]

कसौटी के बारे में पहले से ही बताया जा चुका है, और एयर भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि अन्य व्यक्तियों के ज्ञान को अगर इस अर्थ में लिया जाए कि उनके विचार, अनुभूतियों एवम् संवेदनाओं को अक्षरश: हम रखते हैं तब इस दृष्टि से अन्य मनस् का ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है। हम अपने अनुभव में अपनी आंतरिक मानसिक स्थितियों एवम् उनकी बाह्य भौतिक अभिव्यक्तियों में संबंध देख सकते हैं और इसी के आधार पर अन्य व्यक्तियों के भौतिक संकेतों एवम् व्यवहार को देख कर उनके आंतरिक मानसिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। एयर के अनुसार अपने स्वयं के अनुभवों एवम् गुणों के आधार पर अन्य मनस् का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन यह आवश्यक रूप से सत्य नहीं होगा कि हमने जो ज्ञान प्राप्त किया है वह अक्षरश: सही है। हमारे अनुभव में जितने अधिक बार गुण और अनुभव का सम्बन्ध हम देखेंगे उतने ही दृढता से हम यह कह सकेंगे कि अन्य व्यक्ति में अमुक-अमुक गुण होने पर अमुक-अमुक अनुभव होगा। हम ऐसी भविष्यवाणी कर सकेंगे, लेकिन इसका पूर्ण रूप से सामान्यीकरण नहीं कर सकते हैं कि "ऐसा गुण होने पर सभी मनुष्यों में ऐसा अनुभव होगा" -[१९] क्योंकि हो सकता है कि व्यक्ति अनुभव कुछ और ही कर रहा है और व्यक्त और ही कर रहा है। एयर द्वारा सादृश्यमूलक तर्क के संशोधित रूप में स्वीकार करना एवम् आगमनात्मक तर्क के द्वारा अन्य व्यक्तियों पर चेतना, अनुभव आदि को आरोपित करने की व्याख्या करना उचित प्रतीत होता है।

अन्य मनस् की समस्या के सम्बन्ध में एयर का मत उचित प्रतीत होता है। अन्य मनुष्यों के अनुभवों का ज्ञान अक्षरश: हम नहीं कर सकते हैं क्योंकि हम अन्य व्यक्ति नहीं बन सकते हैं। एयर ने अनुभववादी होने के कारण अन्य मनस् के ज्ञान की समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है वह साधारण आनुभविक सिद्धान्तों से समानता रखता है।

दर्शनशास्त्र विभाग **निर्मला जैन**
कॉलेज ऑफ सोशल सायन्सेस अँड ह्यूमॅनिटीज
सुखाडिया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

संदर्भ

1. Margaret Chatterjee : *Our knowledge of Other Selves,* Asia Publishing House, Bombay, 1963, p. 51-52
2. A.J.Ayer; *The Foundations of Empirical Knowledge,* Macmillan & Co. Ltd., London, 1940, p. 168.
3. *Ibid.*
4. A.J.Ayer ; *Language Truth & Logic,* Dover, Revi., edition, p.20.
5. A.J.Ayer ; Philosophical Essays, Macmillan & Co. Ltd., London, 1954, P.196-97.
6. *Ibid*, p.198
7. A.J.Ayer ; *Philosophical Essays*, p. 202.
8. *Ibid;* p.208
9. A.J.Ayer ; *The Problem of Knowledge,* MacMillan & Co. Ltd. London, 1956, p.247.
10. A.J.Ayer; *Philosophical Essays,* p.211
11. *Ibid* p.214
12. A.J.Ayer; *Language, Truth & Logic,* Introduction to the Revised edition, p.202
13. Hilary Putnam; Other Minds, *Logic & Art,* Essays in honour of Nelson Goodman, p.82.
14. A.J.Ayer; *The Central Questions of Philosophy,* Weidenfield & Nicolson, London, 1973, p.134.
15. *Ibid*
16. Norman Malcolm; *Knowledge & Certainty,* Prentice Hall, Inc. Englewood Cliffs, N.J.1963, p.131.
17. Marjorie Weinzweig; "Our Knowledge of other Minds : A Pseudo - Problem ?" in *Philosophy & Phenomenological Research* Vol. XXIII, No. 2, 1962.
18. W.G.Burce Aune; "The Problem of other Minds" in *Philosophical Review, vol. LXX, July, 1961, p.323.*
19. निर्मला जैन ; ए. जे. एयर की ज्ञान मीमांसा , पी.एच.डी. की डिग्री के लिए सुखाड़िया विश्वविद्यालय को प्रस्तुत , उदयपुर , १९८५ , पृ. २०

सूचना

गतांक के पृष्ठांक ७३ से १५६ देने के बजाय भूल से १ से ८४ दिये गये हैं। पत्रिका के अंकों के पृष्ठांक आरंभ से हरेक खण्ड के १ से ४ अंकों तक अनुक्रम से इसलिये दिये जाते हैं कि हरेक खण्ड के चतुर्थांक में जो चारों अंकों की लेखक-लेख-सूचि दी जाती है उस पर से कौनसा लेख कौन से पृष्ठों पर प्रकाशित हुआ है इसका संगत संदर्भ उपलब्ध हो। गतांक में इसकी सतर्कता नहीं रह पायी। इसकी वजह से पाठकों की जो असुविधा हुई हो उसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। गतांक के पृष्ठांक ७३ से १५६ हैं ऐसा स्वीकार कर इस अंक के पृष्ठांक १५७ से आरंभ किये हैं। आशा है सुविद्य पाठक इसे उचित रूप में स्वीकार कर सहयोग देंगे।

कार्यकारी सम्पादक

युक्तिपरकता : कुछ सवाल, कुछ सुझाव

किसी भी ज्ञानशाखा के लिए 'युक्तिपरकता' का विचार बहुत महत्त्व रखता है। प्राचीन समय से यह स्वीकार किया गया है, कि ज्ञान , चाहे वह किसी भी शाखा का हो, युक्तिपरक होना चाहिए। लेकिन क्या सभी ज्ञानशाखाओं में 'युक्तिपरकता' का अर्थ एक ही है? क्या युक्तिपरकता का परिपूर्ण लक्षण करना संभव है? प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य है युक्तिपरकता की संकल्पना के विषय में उठने वाले ऐसे प्रश्नों की चर्चा करना।

- १ -

युक्तिपरकता की संकल्पना साधारणतया तीन तरह से समझी जा सकती है। पहले, हम उसे एक ऐसा गुणविशेष समझ सकते हैं, जो केवल मनुष्य प्राणि में ही पाया जाता है। इस दृष्टिकोण से युक्तिपरकता को 'बुद्धि' भी कहा जा सकता है। दूसरे, हम युक्तिपरकता को ज्ञान का अनिवार्य अंग मान सकते हैं। और तीसरे, हम उसे ऐसा निकष मान सकते हैं, जिससे विभिन्न युक्तियों का, सिद्धातों का तथा निष्कर्षों का मूल्यांकन किया जाता है।

ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के समय से यह एक प्रस्थापित सत्य माना जाता है, कि मानव एक तर्कसंगत सोचनेवाला प्राणि है। इससे यह सूचित होता है कि ज्ञान का युक्तिपरक होना अनिवार्य है, वरना वह 'ज्ञान' कहलाने के लायक नहीं है। युक्तिपरकता के अर्थ के बारे में हम चाहे कोई भी प्रश्न उठा लें, हम यह नहीं कह सकते कि ज्ञान होने की कोई जरूरत नहीं है। अगर हम ऐसा गंभीरतापूर्वक कहें तो इसका मतलब यह होगा कि हमने 'ज्ञान' की संकल्पना का पारंपरिक अर्थ अस्वीकार किया है, हम उसे किसी नये तरीके से इस्तेमाल करना चाहते हैं। इस तरह से हमें यह मानना पड़ता है कि युक्तिपरकता के ये दो अर्थ बिना किसी गंभीर आपत्ति के, स्वीकार किये जा सकते हैं।[१]

लेकिन जब हम युक्तिपरकता का विचार यक्ति के मूल्यांकन का निकष मान कर करने लगते हैं, तब कई समस्याएँ निर्माण होती हैं। जब कि सभी यह स्वीकार करते हैं कि युक्तिपरकता इस तरह का निकष है, इस बात पर एकमत प्राय: नहीं हो पाता कि इस निकष का सही आशय क्या है या किस आधार पर हम विशिष्ट युक्ति की

युक्तिपरकता या युक्तियुक्तता निश्चित कर सकते हैं ? परिणामत : यह पाया जाता है कि भिन्न लोग इस निकष का उपयोग भिन्न तरह से करते हैं । अगर हम इस संकल्पना के इतिहास पर एक नज़र डालें, तो यह बात काफ़ी स्पष्ट हो जाती है । फिर भी यह कहा जा सकता है कि इतिहास में युक्तिपरकता का अर्थ तार्किक निष्पत्ति या निगमन तक ही सीमित रखने की प्रवृत्ति प्रबल रही है ।

इस प्रवृत्ति का एक प्रकटीकरण हम प्राचीन ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के विचारों में देख सकते हैं । प्लेटा के अनुसार 'ज्ञान' उसे ही कहा जा सकता है, जो बुद्धि के द्वारा प्राप्त किया गया हो । इंद्रियजन्य ज्ञान (जिसे प्लेटो 'ओपिनिअन' (Opinion) कहते हैं) सही अर्थ में 'ज्ञान' नहीं होता, क्यों कि उसका विषय अशाश्वत होता है, जब कि प्लेटो के अनुसार सही ज्ञान का विषय शाश्वत होता है । प्लेटो की दृष्टि में भौमितिक ज्ञान के लिए बहुत सम्मान था । वे यह मानते थे कि भौमितिक ज्ञान, ज्ञान का आदर्श स्वरूप है, और किसी भी ज्ञानशाखा का स्वरूप ऐसा ही होना चाहिए । प्लेटो की 'ज्ञान' की संकल्पना तथा बुद्धि का सर्वोत्तम प्रकटीकरण भौमितिक ज्ञान इन दोनों के प्रति उनकी दृष्टि में सम्मान था । ये दोनो ही बातें युक्तिपरकता की संकल्पना के उत्तरकालीन विकास में बहुत प्रभावी रहीं ।

इसी प्रकार का प्रभाव बाद में देकार्त के विचारों का रहा । प्लेटो की तरह देकार्त भी यह मानते थे कि ज्ञान निश्चित और अनिवार्य रूप से सत्य होना चाहिए, और ऐसे ज्ञान का आदर्श भौमितिक ज्ञान है । वे चाहते थे कि हरेक ज्ञानशाखा की रचना भूमिति जैसी हो, याने कि उसका आरंभ स्वत प्रमाणित मूलाधारों से हो, जिनसे तार्किक नियमों के अनुसार निष्कर्षों की निष्पत्ति की जा सके । जो भी विधान इस पद्धति के अनुसार सिद्ध न किया जा सके, वह देकार्त की राय में ज्ञान और बुद्धि के क्षेत्र में अंतर्भूत नहीं होता । इस प्रकार देकार्त के विचारों में हमें युक्तिपरकता और निगमन ये दोनों स्पष्ट रूप में एक हुए दिखाई देते हैं ।

अनुभववादी दार्शनिकों ने "बुद्धि ज्ञान का एकमात्र प्रमाण है" यह देकार्त जैसे बुद्धिवादियों का सिद्धान्त तो गलत माना, लेकिन निगमन का श्रेष्ठत्व भी मान लिया । ब्रिटिश अनुभववादी दार्शनिक, डेव्हिड ह्यूम ने कारणता और निगमन पर जो आलोचना की, उसने निगमन के श्रेष्ठत्व के सिद्धान्त को और भी मजबूत बनाया । बाद में आधुनिक अनुभववादियों ने, खास तौर पर प्रत्यक्षार्थवादियों ने जब निसर्ग विज्ञान को ज्ञान का आदर्श रूप मानते हुए उसका चिकित्सापूर्ण अभ्यास किया, तब वे इस नतीजे पर पहुँचे, कि निगमन का निसर्गविज्ञान के पद्धतिशास्त्र में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अनुसार वैज्ञानिक स्पष्टीकरण नैगमनिक नियमशास्त्रीय प्रारूप पर आधारित था, जिसका आधार निगमन ही था ।

इस बहुत ही संक्षिप्त विवरण से युक्तिपरकता के अर्थ को निगमन तक ही सीमित रखने की प्रवृत्ति का प्रभाव जाहिर होता है। इस प्रवृत्ति की उचितता के बारे में प्रश्न उठाने से पहले, यह जान लेना जरूरी है, कि हम यह नहीं कहना चाहते कि इतिहास में युक्तिपरकता की संकल्पना का केवल यही अर्थ रहा है। हम सिर्फ यह निर्देशित करना चाहते हैं कि यक्तिपरकता का यह अर्थ प्राय: सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ रहा है। आज जब विज्ञान और दर्शनशास्त्र दोनों अपने - अपने एक विशिष्ट स्थान पर आ पहुँचे हैं, तब यह जरूरी हो जाता है कि इस अर्थ का हम ठीक तरह से परीक्षण करें। इस निबंध के अगले हिस्से में हम इस आवश्यकता की चर्चा करेंगे।

- २ -

युक्तिपरकता की संकल्पना के इतिहास के विवरण में हम देख चुके हैं कि प्रत्यक्षार्थवादियों के लिए निसर्गविज्ञान ज्ञान का एक मापदंड था। वे चाहते थे कि आकारिक शास्त्रों के अलावा बाकी सभी ज्ञानशाखाएँ निसर्गविज्ञान के पद्धतिशास्त्र का अनुकरण करें। प्रत्यक्षार्थवादियों की इस "पद्धति की एकता" की घोषणा का आधार था यह विश्वास, कि निसर्गविज्ञान हमें पूर्णत: वस्तुनिष्ठ और सार्वत्रिक ज्ञान देते हैं और अगर अन्य ज्ञानशाखाएँ निसर्गविज्ञान की पद्धति अपना लें, तो वे भी इस प्रकार का वस्तुनिष्ठ और सार्वत्रिक ज्ञान पा सकेंगी। हमने देखा है कि ज्ञान की संकल्पना से युक्तिपरकता तो अवश्य जुड़ी हुई थी। उसके साथ वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता और सार्वत्रिकता भी ज्ञान के आवश्यक गुणविशेष माने गये। ज्ञान, युक्तिपरकता, वस्तुनिष्ठता, सार्वत्रिकता इन सब संकल्पनाओं के एक दूसरे से विशिष्ट तरह से जुड़ जाने के परिणाम स्वरूप शायद युक्तिपरकता और वस्तुनिष्ठता, युक्तिपरकता और सार्वत्रिकता ये भी जुड़ी हुई संकल्पनाएँ मानी गयीं। इससे एक ऐसा आभास पैदा हुआ कि युक्तिपरकता के बिना वस्तुनिष्ठता या वस्तुनिष्ठता के बिना युक्तिपरकता कहीं पायी ही नहीं जा सकती। निसर्ग विज्ञान में तो इस तरह का संबंध कोई कठिनाई नहीं खड़ी करता, क्यों कि वहाँ जो ज्ञान युक्तिपरक है, वह किसी देश या काल से जुड़े हुए सब व्यक्तियों के लिए वैध होने के नाते वस्तुनिष्ठ भी है।

लेकिन जब हम समाजविज्ञान का विचार करते हैं, तब युक्तिपरकता और वस्तुनिष्ठता का यह संबंध इतना सरल नहीं दिखाई देता। निसर्गविज्ञान एवं समाजविज्ञान के अभ्यास विषय में जो मौलिक भेद पाया जाता है, वह उनके पद्धतिशास्त्र तथा उन में प्रयुक्त भाषा में भी परावर्तित होता है। इस फर्क के कारण समाजविज्ञान में वस्तुनिष्ठ और सार्वत्रिक नियमों की रचना करना प्राय: असंभव दिखायी देता है। वस्तुनिष्ठता और युक्तिपरकता को अगर एक-दूसरे से जुड़ा हुआ माना जाए, तो वस्तुनिष्ठता के न होने से यह निष्पन्न होगा, कि या तो समाजविज्ञान में युक्तिपरकता नहीं है, या जितनी भी युक्तिपरकता है, उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह

समाजविज्ञान को सही रूप से 'विज्ञान' (याने निसर्गविज्ञान) के स्तर तक पहुँचा सके।

समाजविज्ञान की युक्तिपरकता तथा वस्तुनिष्ठता से संबंधित और एक महत्त्वपूर्ण संकल्पना है 'मूल्यनिरपेक्षता'।

'पद्धति की एकता' का उद्घोष करने वाले प्रत्यक्षार्थवादी यह बात पूरी तरह से समझते थे कि समाजविज्ञानांतर्गत होने वाली चर्चा मूल्यविचारों से संबद्ध रहती है, और समाजविज्ञान को पूरी तरह से वस्तुनिष्ठ बनाने के मार्ग में यह मूल्यविचार ही सबसे बड़ी कठिनाई है। मॅक्स वेबर जैसे समाज वैज्ञानिकों की राय में समाजविज्ञान वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए, उसकी भाषा पूर्ण रूप से मूल्यनिरपेक्ष होनी चाहिए। अभ्यासकों के व्यक्तिगत मूल्यों का प्रभाव उनके विचारों में या लेखन में नहीं होना चाहिए। अगर उनके विषय के अनुसार किसी व्यक्तिसमूह के या समाज के मूल्यों की चर्चा करना अपरिहार्य हो, तो यह चर्चा भी मूल्यनिरपेक्ष भाषा में हो, याने कि वह मूल्यों के वर्णन तथा विवरण तक ही सीमित रहे और किसी भी तरह उन मूल्यों का अपने मूल्यों के आधार पर परीक्षण या मूल्यांकन न करे।

मूल्यनिरपेक्षता के इस सिद्धान्त पर कई आक्षेप उठाए गये। यह कहा गया कि ऐसी मूल्यनिरपेक्षता समाजविज्ञान में संभव भी नहीं है और समाजविज्ञान मूल्यनिरपेक्ष बनाने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। इस निबंध का विषय मूल्यनिरपेक्षता के बारे में कोई अंतिम निर्णय देना नहीं है। हम सिर्फ युक्तिपरकता के विचार के लिए उसका महत्त्व सूचित करना चाहते हैं। हम यह निर्देशित करना चाहते हैं, कि अगर हम वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता को वैज्ञानिक युक्तिपरकता का एक लक्षण मानते हैं, और इससे भी आगे चल कर अगर हम प्रत्यक्षार्थवादियों का अनुकरण करते हुए वैज्ञानिक युक्तिपरकता को ही सही युक्तिपरकता मानते हैं, तो हम समाजविज्ञान के लिए बहुत बड़ी समस्या निर्माण करते हैं।

प्रत्यक्षार्थवाद का प्रभाव दर्शनशास्त्र के विकास पर भी काफी गहरा रहा है। जैसा कि हम जानते हैं, मुख्यत: प्रत्यक्षार्थवादियों के प्रभाव से बीसवीं सदी में दर्शनशास्त्र की सबसे महत्त्वपूर्ण पद्धति माना गया। इसका एक नतीजा यह हुआ, नीतिशास्त्र का कार्य मूल्यविषयक विधानों के केवल भाषिक विश्लेषण तक ही मर्यादित किया गया, जिससे नीतिशास्त्र अपना पारंपारिक मूल्य एक तरह से खो बैठा। इस विचारधारा का आधार था युक्तिपरकता की वह संकल्पना, जिसे वैज्ञानिक साधनात्मक युक्तिपरकता कहा जाता है। यह दृष्टिकोण स्वीकार करने वाले यह मानते थे कि मूल्य तथा ध्येय की चर्चा अर्थपूर्ण नहीं है (और इसी कारण युक्तिपरक नहीं हो सकती) क्यों कि वे अनुभव के आधार पर सिद्ध नहीं किये जा सकते और वस्तुस्थितिवाचक विधानों से तार्किक नियमों के अनुसार निष्पन्न भी नहीं किये जा सकते। हम सिर्फ साधनों की चर्चा कर सकते हैं, और वह भी उनकी विशिष्ट साध्य के लिए होने वाली परिणामकारकता के बारे में।

आज अगर हम नीतिशास्त्र को इन मर्यादाओं में जकड़ना नहीं चाहते , अगर हम यह बात स्वीकार करने के लिए राजी नही हैं कि समाजविज्ञान निसर्गविज्ञान की तुलना में कनिष्ठ है , तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है , कि युक्तिपरकता की जो संकल्पना एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में निर्माण होकर हम तक पहुँची है , उसकी ध्यानपूर्वक चिकित्सा करें । इस प्रकार का प्रयत्न सद्य :कालीन दर्शनशास्त्र में अनेक तरह से किया जा रहा है । प्रत्यक्षार्थवाद के उपरान्त के विज्ञान - दर्शनशास्त्र को इस बात का एहसास हुआ है कि समाजविज्ञान या दर्शनशास्त्र के लिए निसर्गविज्ञान की पद्धति उचित नहीं है , और इस कारण उन्हें कनिष्ठ मानना भी गलत है । इस निबंध के आखिरी हिस्से में हम इस प्रश्न की चर्चा करेंगे कि अपने विचारों को युक्तिपरकता के सीमित अर्थ से मुक्त करने के लिए हम क्या कर सकते हैं ।

- ३ -

इतिहास में एक बात तो साफ नज़र आती है , और वह यह है कि युक्तिपरकता का अर्थ अधिकतर 'आदर्श ज्ञान' की संकल्पना से सम्बद्ध रहा है । प्राय : यह भी देखा जाता है , कि मानवी बुध्दि की सामर्थ्य और मर्यादाओं के प्रति होनेवाला दृष्टिकोण , 'ज्ञान' जो युक्तिपरक ही होता है , उसकी संकल्पना और युक्तिपरकता का एक निकष की हैसियत से होने वाला स्वरूप , इन तीनों में तार्किक तो नहीं , मगर बहुत गहरा संबंध होता है । बुद्धिमात्र को ज्ञान का प्रमाण मानने वाले बुद्धिवादी केवल बुद्धिजन्य आकारिक शास्त्रों को आदर्श मानते हैं और आकारिक वैधता को युक्तिपरकता का सबसे परिणत रूप मानते हैं । दूसरी तरफ अनुभव को भी प्रमाण मानने वाले अनुभववादी , तर्कशास्त्र की सामर्थ्य की तरह मर्यादाओं को भी ध्यान में रखते हुए निसर्गविज्ञान को अनुभवजन्य ज्ञान का आदर्श मानते हैं और इसीलिए वैज्ञानिक युक्तिपरकता की संकल्पना में वैधता के साथ-साथ वास्तविक सत्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है ऐसा स्वीकार करते हैं । फिर भी प्लेटो से ले कर प्रत्यक्षार्थवादियों तक यह प्रयास जारी है कि जिस ज्ञानशाखा को आदर्श माना गया है , उसी की पद्धति भी आदर्श मानी जाए , इतना ही नहीं , बाकी सभी ज्ञानशाखाओं में अपनायी जाए । सवाल यह है कि क्या इस प्रकार का प्रयास उचित है ?

हम इस बातसे अच्छी तरह से परिचित हैं कि ज्ञान कितने भिन्न भिन्न विषयों का , कितनी तरह का होता है । अपरिमित विविधता और नाविन्य से भरे हुए इस जगत् का ज्ञान क्या केवल किसी एक पद्धति से प्राप्त करना संभव है ? हमारी अपनी सुविधा के लिए हम ज्ञान का एक साधारण वर्गीकरण (१) निसर्ग का ज्ञान (२) समाज का ज्ञान और (३) स्वयं का ज्ञान इस प्रकार कर सकते हैं । ज्ञान के उपरोक्त तीन वर्ग ही नहीं बल्कि किसी भी एक वर्ग में अंतर्भूत होने वाली अनेक ज्ञानशाखाएँ भी एक दूसरे से कई तरह से अलग होती हैं । अगर हम निसर्गविज्ञान का उदाहरण लें , तो यह बात जाहिर है

कि भौतिकीशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र आदि शाखाएँ एक दूसरे से संबंधित होते हुए भी, एक दूसरे से भिन्न हैं और इसीलिए भिन्न प्रकार की पद्धति का उपयोग करती हैं। इन ज्ञानशाखाओं के परस्पर-संबंध के आधार पर हम यह ज़रूर कह सकते हैं, कि इन सब में अनुभव, प्रयोग और तर्कशास्त्र का उपयोग अनिवार्य है, लेकिन इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि जिस प्रकार का अनुभव, प्रयोग या तर्कशास्त्र, जिस तरह से किसी एक शाखा में इस्तेमाल किया जाएगा, उसी प्रकार के अनुभव, प्रयोग या तर्कशास्त्र का उसी तरह से इस्तेमाल बाकी शाखाओं में भी किया जाता है। वास्तव में हर एक ज्ञानशाखा अपनी-अपनी ज़रूरतों के अनुसार इन सबका उपयोग करती हैं और उसके विकास के साथ-साथ ही उसका पद्धतिशास्त्र भी निर्मित और विकसित होता रहता है।

इसी प्रकार युक्तिपरकता के विषय में हम यह कहना चाहते हैं कि युक्तिपरकता का निकष तो हरेक ज्ञानशाखा में अनिवार्य है फिर भी किसी भी विशिष्ट ज्ञानशाखा में उसका इस्तेमाल एक विशिष्ट प्रकार से किया जाता है। यह विशिष्टता उस ज्ञानशाखा का विषय, उसकी भाषा, उसके विकास की विशिष्ट अवस्था आदि पर मुख्यत: निर्भर होती है। इस दृष्टिकोण से देखा जाए, तो किसी एक ज्ञानशाखा को आदर्श मानते हुए उसके पद्धतिशास्त्र को और सभी ज्ञानशाखाओं के लिए आवश्यक समझना न तो संभव है, न ही उचित। अगर हम इस भ्रम में फसे हुए हैं कि समाजविज्ञान या दर्शनशास्त्र कम मात्रा में युक्तिसंगत है और इसलिए कनिष्ठ ज्ञानशाखाएँ हैं, और अगर हम इस भ्रम से मुक्त होना चाहते है, तो हमें ज्ञानशाखाओं की विविधता पर, उनके ऐतिहासिक विकास पर, उनकी वर्तमान कार्यपद्धति पर गौर करना चाहिए। इस प्रकार हम जान सकेंगे कि वस्तुनिष्ठता, युक्तिपरकता जैसे सार्वत्रिक भी माने जाएँ, तो भी यह भूलना नहीं चाहिए कि प्रत्येक ज्ञानशाखा में इनका उपयोग भिन्न प्रकार होता है, और यह प्रकार उस ज्ञानशाखा पर निर्भर है।[२]

इस पार्श्वभूमि के आधार पर हमें यह मानने में भी कठिनाई नहीं होगी कि युक्तिपरकता का अर्थ नैगमनिक युक्तिपरकता या वैज्ञानिक युक्तिपरकता तक सीमित रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में हम अनेक भिन्न प्रकार की जो युक्तियाँ इस्तेमाल करते है उनमें से कई प्रकार की युक्तियाँ अगर युक्तिपरकता के किसी भी एक सीमित अर्थ को मानते हुए परखी जाएँ, तो वे युक्तिपरकताहीन कहलाएँगी। लेकिन हम उन्हें युक्तिपरकताहीन नहीं मानते। ऐसी युक्तियाँ जो तर्कत: निष्पन्न भी नहीं हैं और जिन में वैज्ञानिक युक्तिपरकता भी नहीं पायी जाती, उन्हें भी हम कम या अधिक मात्रा में स्वीकरणीय मानते हैं और यह बात तो साफ है कि युक्तिपरकता के बिना कोई भी युक्ति स्वीकाराई नहीं होगी। इसका मतलब यह है कि वास्तविकता में जब हम भिन्न ज्ञानशाखाओं की भिन्न प्रकार की युक्तियाँ का मूल्यांकन करते हैं, तब हम युक्तिपरकता

के अर्थ को इस तरह से मर्यादित नहीं रखते । ज्यादा तर होता यह है कि नैगमनिक युक्तिपरकता के प्रभाव से हम जाने-अनजाने में ऐसा समझते हैं कि जो युक्ति तर्कत: निष्पन्न नहीं होगी वह युक्तिपरकताहीन तो नहीं, मगर पूरी तरह से युक्तिपरक भी नहीं है। जो निकष इस प्रकार की युक्तियों के मूल्यांकन के लिए इस्तेमाल किये जाते है, वे प्राय: क्षेत्र - निर्भर होते हैं। अगर हम क्षेत्र - निर्भरता की संकल्पना स्वीकार करते हैं, तो हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि नैगमनिक युक्तिपरकता या वैज्ञानिक युक्तिपरकता के स्तर तक न पहुँचने की वजह से जो युक्तियाँ समाजविज्ञान, इतिहास, दर्शनशास्त्र जैसे विषयों मे पायी जाती हैं, वे निसर्गविज्ञान की तुलना में कनिष्ठ हैं। इससे भी आगे चल कर हम यह सूचित करना चाहते हैं कि विभिन्न ज्ञानशाखाओं का और उनमें पायी जानेवाली युक्तिपरकता का श्रेणीबद्ध वर्गीकरण करना ज़रूरी भी नहीं है और उचित भी नहीं।[३]

दर्शनशास्त्र में नैगमनिक युक्तिपरकता तथा वैज्ञानिक युक्तिपरकता दोनों की मर्यादाओं की चर्चा ज़रूर होती आयी है, फिर भी इन दोनों के प्रभाव से दर्शनशास्त्र अभी भी पूरी तरह से मुक्त नहीं हुआ है। नैगमनिक युक्तिपरकता और वैज्ञानिक युक्तिपरकता का महत्त्व और बलस्थानों को नज़रअंदाज न करते हुए भी हम यह कहना चाहते हैं कि युक्तिपरकता का अर्थ इन दोनों में से किसी एक तक या दोनों तक सीमित रखना योग्य नहीं है। भिन्न ज्ञानशाखाओं में युक्तिपरकता जिस प्रकार कार्यान्वित होती है, उन सारे प्रकारों का अध्ययन, विवरण तथा स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है, जिससे उनके एक- दूसरे से साम्य-भेद स्पष्ट हो सकें और साथ ही साथ ज्ञान तथा युक्तिपरकता की समृद्धता, बहुआयामित्व और वैविध्यपूर्णता के प्रति हम संवेदनशील रहें।

दर्शन - विभाग, **दीप्ति गंगावणे.**
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११ ००७.

टिपणियाँ

१. अन्तत: इन दो अर्थों के बारे में भी प्रश्न उठाने होंगे, क्यों कि ये तीनों आपस में जुड़े हुए हैं।
२. यह विवरण एस् टुलमिन की क्षेत्र-निर्भरता (Field - dependence) और क्षेत्र-अपरिवर्तनीयता (Field - invariance) इन संकल्पनाओं के आधार पर किया गया है । Toulmin S., *Uses of Argument* Ch. I, The University Press, Cambridge, 1953.
३. इस विषय में और भी चर्चा होने की जरूरत है, लेकिन इस निबंध की मर्यादा में हम इस प्रकार की भूमिका निर्देशित कर सकते हैं।

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२३)

निरूपकता

पूर्व लेख के अन्तिम भाग में यह प्रश्न उठाया गया था कि जिस प्रकार प्रकारता धर्म और सम्बन्ध से निरूपित होती है उसी प्रकार प्रकारिता आदि भी धर्म और सम्बन्ध से नियमित होती है या नहीं ?

ज्ञान में रहने वाली विषयिता विशेष्यिता रूप होने से वह संसर्गावच्छिन्न नहीं होती है ।[1] ज्ञान में रहने वाली विषयिताओं में अभेद मानने पर विशेष्यिता और प्रकारिता में अभेद होने से विशेष्यिता की तरह प्रकारिता भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है । परन्तु ज्ञान , कृति , इच्छा आदि में रहने वाली विषयिता-रूप प्रकारिता आदि ज्ञानत्व , इच्छात्व , आदि धर्मों से नियमित होती है ।

पूर्व लेख में कहा गया था कि एक ही पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता में गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होता है तथा जगदीश के मत में निरूप्यनिरूपक भाव होता है । नैयायिकों के अनुसार प्रतियोग्यनुयोगिभाव इत्यादि के समान निरूप्यनिरूपभाव भी एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है ।

जिन दो वस्तुओं में से एक का ज्ञान होने के लिये दूसरे के ज्ञान की अपेक्षा रहती है उनमें परस्पर निरूप्यनिरूपभाव सम्बन्ध रहता है । निरूप्य शब्द का अर्थ बोध्य या ज्ञाप्य होता है तथा निरूपक का अर्थ बोधक या ज्ञापक होता है । उदाहरण के लिये , ज्ञान शब्द सुनने पर मन में उत्कंण्ठा होती है कि किस का (याने किस वस्तु का) ज्ञान । उसी तरह इच्छा सुनने पर जिज्ञासा होती है कि किस वस्तु की इच्छा ? उसके उत्तर में जब कहा जाता है कि घट का ज्ञान , या पट की इच्छा तब उक्त प्रकार की जिज्ञासा का निवारण होता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान विषय के बिना पूर्ण नहीं है । ज्ञान की पूर्णता उसके विषय में है । इसलिये विषय ज्ञान का बोधक तथा ज्ञान विषय का बोध्य कहलाता है । इस प्रकार ज्ञान विषय से निरूप्य होता है तथा विषय का निरूपक कहलाता है , जैसे कि कहा गया है - 'विषयनिरूप्यं हि ज्ञानं वित्तिवेद्यो विषय' इति ।[2] इस प्रकार ज्ञान विषय का निरूप्य होने से उसमें निरूप्यता तथा विषय में निरूपकता रहती है । यही

निरूप्यता और निरूपकता निरूप्यनिरूपकभाव के रूप में जाना जाने वाला ज्ञान और उसके विषय के बीच में होने वाला सम्बन्ध है।

जिस प्रकार ज्ञान और उसके विषय के बीच निरूप्यनिरूपक भाव - सम्बन्ध होता है उसी प्रकार प्रतियोगी और अनुयोगी के बीच भी यही सम्बन्ध होता है। 'अभाव' शब्द सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि किस का (याने किस वस्तु का) अभाव? घट का अभाव या पट का अभाव ऐसा उत्तर मिलने पर उक्त प्रकार की जिज्ञासा का शमन होता है। इससे स्पष्ट है कि अभाव का बोध उसके प्रतियोगी के बोध के बिना अपूर्ण है। प्रतियोगी के बोध से ही अभाव के वोध में सम्पूर्णता आती है। इस प्रकार प्रतियोगी अभाव का निरूपण करता है। अत: प्रतियोगी में निरूपकता तथा अभाव में निरूप्यता आती है। इसी प्रकार घट का प्रतियोगी के रूप में स्वीकार होने पर यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि घट किसका प्रतियोगी है? और घट उसके (घट के) अभाव का प्रतियोगी है ऐसा कहने पर उक्त जिज्ञासा शान्त हो जाती है। इससे स्पष्टतया यह ज्ञान होता है कि घटादि प्रतियोगी के रूप में ज्ञात होने पर ही घटज्ञान की पूर्णता होती है। इस प्रकार प्रतियोगी निरूप्य होता है, तथा अभाव निरूपक होता है। अत: दोनों में स्पष्टतया निरूप्य- निरूपक-भाव है। इसीलिये घटनिरूपक अभाव घटाभाव कहलाता है।[१]

इसी प्रकार कार्य और कारण में भी निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। दण्ड कारण है ऐसा सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि दण्ड किस का कारण है? तथा "घट एक कार्य है" ऐसा सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि घट किसका कार्य है? दण्ड घट का कारण है और घट दण्ड का कार्य है ऐसा ज्ञात होने पर उक्त जिज्ञासा शान्त होती है। इससे स्पष्ट है कि दण्ड का कारण के रूप में होने वाला ज्ञान तथा घट का कार्य के रूप में होने वाल ज्ञान क्रमशः घटज्ञान से तथा दण्डज्ञान से पूर्ण होता है। अत: कार्य के रूप में घट के होने वाले ज्ञान का पूरक होने से दण्ड, घट में रहने वाली कार्यता का निरूपक है, और घट, दण्ड के कार्य के ज्ञान का पूरक होने से दण्ड में रहने वाली कारणता का निरूपक है। अत: घट में रहने वाली कार्यता की निरूपकता दण्ड में होती है।

इसी तरह घट के आधार होने की चर्चा होने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि घट किसका आधार है? उसी तरह घट में आश्रितों के सम्बन्ध में सुनने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि गुणादि पदार्थ किसमें आश्रित हैं? घट आदि गुणों के आश्रय हैं तथा गुण आदि पदार्थ घटाश्रित हैं ऐसा उत्तर मिलने पर जिज्ञासा का शमन होता है। इससे ज्ञात होता है कि घट आदि गुणों के आश्रय के रूप में तथा गुण आदि आश्रित के रूप में ज्ञात होते हैं। इस प्रकार घट में होने वाली आश्रयता गुणों से ज्ञाप्य होने से गुण उसका (आश्रयता का) निरूपक है तथा आश्रयता निरूप्य है।

इसी प्रकार जहाँ दो वस्तुओं के साथ-साथ प्रयोग होते हैं - जैसे, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गृह-गृहपति, क्रिया-कर्ता, क्रिया-कर्म आदि - तब उनमें रहने वाले धर्मों में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। इस प्रकार नैयायिक मानते हैं कि युगल के रूप में प्रयुक्त होने वाले- प्रतियोगिता और अनुयोगिता, कारणता और कार्यता, प्रकारता और विशेष्यता, विषयिता और विषयता, उद्देश्यता और विधेयता आदि में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।

जिस प्रकार अभाव यह प्रतियोगिता का निरूपक होता है, उसी प्रकार घट में रहने वाली अनुयोगिता भी प्रतियोगिता की निरूपक होती है। इसीलिये घटाभाव को 'घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव जैसे कहते हैं उसी तरह ही उसे घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अनुयोगिताशालि अभाव भी कह सकते हैं। चूंकि प्रतियोगिता और अनुयोगिता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है इसलिये 'घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपित अनुयोगितावान् अभाव' को भी घटाभाव कह सकते हैं।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि निरूपकता और निरूप्यता क्या है? इसका और किसी में अन्तर्भाव होता है? दूसरी बात यह है कि यदि निरूपकत्व और निरूप्यत्व बोधकत्व और बोध्यत्व-रूप हैं तो निरूप्य ज्ञान के लिये निरूपक ज्ञान की अपेक्षा होगी और निरूपक ज्ञान के लिये निरूप्य ज्ञान की आवश्यकता होगी और ऐसी अवस्था में उनमें परस्पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, उसका क्या उत्तर है? प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि निरूप्यत्व और निरूपकत्व जिनका सम्बन्ध है वह उससे भिन्न नहीं है, और इसलिये सम्बन्धी का अन्तर्भाव जिस पदार्थ में होगा उसी पदार्थ में सम्बन्ध का भी अन्तर्भाव होगा। उदाहरणार्थ, जैसे अग्नि में रहने वाली विधेयता पर्वत में रहने वाले उद्देश्य से निरूपित होती है, उसी प्रकार पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता से निरूपित होने से वह पर्वत-निरूपित भी है, चूंकि पर्वत में रहने वाली उद्देश्यता पर्वत-रूप है इसलिये उनका निरूप्यत्व सम्बन्ध भी पर्वत-रूप है तथा पर्वत द्रव्य होने से निरूप्यता भी द्रव्य ही है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तुत: निरूप्यत्व और निरूपकत्व बोध्यत्व या बोधकत्व नहीं है। उनके स्वरूप को समझाने के लिये उनको वैसा कह सकते हैं। दोनों भी निरूपकता और निरूप्यता स्वरूप सम्बन्ध-रूप ही हैं। गदाधर भट्टाचार्य के अनुसार निरूप्य- निरूपक-भाव सम्बन्ध भी कार्यता, कारणता, आधेयता, आधारता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि के परस्पर सम्बन्ध के समान स्वरूप- सम्बन्ध-विशेष है या पदार्थान्तर (भिन्न पदार्थ) है।[४]

कहीं कहीं निरूपकत्व को प्रतियोगित्व-रूप तथा कहीं पर अनुयोगित्व-रूप भी माना गया है। दीधितिकार ने हेत्वाभास के लक्षण में आये अनुमिति पद की व्याख्या

करते समय कहा है कि "तत्रानुमितिपदं अनुमितिनिष्ठ कार्यतानिरूपक सम्बन्धत्वेनानुमिति तत्कारणज्ञानपरम्" ।[५] यहाँ आया हुआ निरूपकत्व प्रतियोगित्व - रूप नहीं है ऐसा गदाधर कहते हैं । नका कहना है कि यदि निरूपकत्व यहाँ प्रतियोगित्वरूप मानें तो कार्य कार्यता का प्रतियोगी न होने से कार्य कार्यता का निरूपक नहीं होगा ।[६] अत : यहाँ प्रतियोगित्वरूप निरूपकत्व नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि कहीं - कहीं निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप भी होता है ।

लेकिन निरूपकत्व कहीं-कहीं अनुयोगिता-रूप भी होता है । दीधितिकार के उपर्युक्त उद्धरण में निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप नहीं हो सकता । उसी तरह वह अनुयोगित्व-रूप भी नहीं हो सकता है यह बात टीकाकार ने स्पष्ट की है । गदाधार ने उक्त निरूपकत्व को विषयता रूप में स्वीकार किया है ।[८] किन्तु स्थल-विशेष के सन्दर्भ निरूपकता को विषयता-रूप न मान कर उसे अतिरिक्त पदार्थ के रूप में भी स्वीकार केया गया है । जैसे, 'वह्न्यभाववान्ह्रद :' इस प्रमा में 'वह्न्यभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्न - विलक्षण निरूपकताकत्व' माना जाता है । यह निरूपकत्व विषयता - रूप नहीं है, किन्तु अतिरिक्त ही है । उसे विषयता-रूप मानने पर ह्रद-ज्ञान भी विषयिता सम्बन्ध से 'वह्न्यभाववद्ह्रद' वाला है ऐसी प्रतीति होने लगेगी । परन्तु इस प्रकार का प्रत्यय नहीं होता है, क्योंकि उक्त ज्ञान में 'वह्न्यभाववद्ह्रदत्वावच्छिन्न विलक्षणनिरूपकता (विषयता से भिन्न) नहीं है ।[९]

प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि में रहने वाले निरूप्य-निरूपक-भाव से विषयताओं के बीच होने वाला निरूप्य-निरूपक-भाव कुछ विलक्षण है । जिन विषयताओं में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है, उन विषयताओं से निरूपित विषयिताओं के बीच नियमत : अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होता है यह बात पूर्व लेख में स्पष्ट की जा चुकी है । इनके अतिरिक्त जिसमें जिसका निरूपितत्व होता है उसमें उसके आश्रय का भी निरूपितत्व होता है । जैसे, दण्ड में रहने वाली कारणता से निरूपित घट में रहने वाली कार्यता होती है वैसे ही उस घट में रहने वाली कार्यता दण्ड से भी निरूपित होती है । अर्थात्, दण्ड भी घट में रहने वाली कार्यता का निरूपक होता है।[१०]

भिन्न भिन्न पदार्थों में रहने वाली विषयताओं में जिस प्रकार निरूप्य- निरूपक-भाव होता है उसी प्रकार एक ही पदार्थ में रहने वाली विषयताओं में मतभेद से अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव, निरूप्य-निरूपक- भाव आदि होते हैं । परन्तु एक ही पदार्थ में रहने वाली विषयताओं में केवल निरूप्य-निरूपक-भाव ही होता है ऐसा कुछ नैयायिक मानते हैं ।[११] मात्र संशय तथा समुच्चय में विलक्षणता लाने के लिये कोटिता-रूप विषयता से निरूपित विषयताओं में निरूप्य-निरूपक- भाव न स्वीकार कर के अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव स्वीकार किया जाता है ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्तराभासमान् पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता के बीच गदाधर भट्टाचार्य अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव मानते हैं। उनके अनुसार यदि जगदीश स्वीकर करते हैं उस तरह अगर उनमें निरूप्य-निरूपक-भाव माना जाएगा तो उससे गौरव दोष उत्पन्न होता है। उनका आशय यह है कि 'पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यक दण्डाभावत्वावच्छिन्न प्रकारकबुद्धि' (याने दण्डभाववान् पुरुष-बुद्धि) के लिये पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यक दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चय प्रतिबन्धक होता है। यदि एकत्र रहने वाली विशेष्यता और प्रकारता में अभेद स्वीकार करेंगे तो दण्डाभाववान् पुरुष इस बुद्धि के लिये 'सुन्दरपुरुषदण्डवान्देश:' यह बुद्धि भी प्रतिबन्धक (विरोधक) हो जाएगी। क्योंकि यहाँ भी सुन्दरत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित जो विशष्यता पुरुष में है वही पुरुषत्व से अवच्छिन्न प्रकारता भी है। अत: वह दण्डत्वावच्छिन्न विशेष्यता-रूप प्रकारता से भी निरूपित है। इस प्रकार वह निश्चय भी पुरुषत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चय है। उक्त प्रतिबध्य- प्रतिबन्धक-भाव नियम के अनुसार उक्त निश्चय भी प्रतिबन्धक होना चाहिये। परन्तु वस्तुस्थिति में ऐसा नहीं होता। जगदीश उक्त दोष के निवारण के लिये दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारतात्वावच्छिन्न निरूपकता से निरूपित निरूप्यतावान् पुरुषत्वावच्छिन्न विशेष्यताशालि निश्चय को प्रतिबन्धक मानते हैं, जिसके कारण 'सुन्दरपुरुषदण्डवान् देश:' यह ज्ञान 'दण्डाभावववान्पुरुष:' इस ज्ञान में प्रतिबन्धक नहीं होता है। क्योंकि सुन्दरत्व इस प्रकारता से निरूपित जो विशेष्यता पुरुष में है वह दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारतात्वावच्छिन्न निरूपकता से निरूपित निरूप्यता वाली नहीं है। परन्तु यहाँ जगदीश के मत में 'निरूपकतानिरूपितनिरूप्यता'- रूप अधिक पदार्थ की कल्पना करने की अपेक्षा एकत्र विद्यमान प्रकारता और विशेष्यताओं में भेद स्वीकार करके अवच्छेद्यावच्छेदक - भाव स्वीकार करना ही उचित है ऐसा गदाधर का विचार है।[१२]

सादृश्य वर्णन के प्रसंग में भी निरूप्य-निरूपक-भाव परिलक्षित होता है। जैसे, 'चन्द्रवतमुख' कहने पर चन्द्रनिरूपित सादृश्य मुख में परिलक्षित होता है। यह चन्द्र सादृश्य का निरूपक है। अत: उनमें निरूप्य -निरूपक-भाव होता है। यहाँ निरूपक के अर्थ में प्रतियोगी पद का व्यवहार भी देखा जाता है। अत: 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्ययुक्त मुख' कहने पर चन्द्रनिरूपित सादृश्य मुख में परिलक्षित होता है। यह चन्द्र सादृश्य का निरूपक है। अत: 'चन्द्रप्रतियोगिक सादृश्ययुक्त मुख का बोध होता है। इसलिये यहाँ का निरूपकत्व प्रतियोगित्व-रूप माना जाता है।

जिस प्रकार प्रतियोगित्व के तात्पर्य से निरूपकत्व का प्रयोग होता है उसी तरह निरूपकत्व के तात्पर्य से प्रतियोगित्व शब्द का भी प्रयोग होता है। जानकीनाथ भट्टाचार्य ने किसी का मत उद्धृत किया है कि "भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं प्रकारत्वं" है। यहाँ

टीकाकार ने प्रतियोगित्व का अर्थ निरूपकत्व किया है।[१३] क्योंकि प्रतियोगित्व को विरोधित्व के रूप में ग्रहण करने वाले के लिये प्रकार वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) का विरोधी न हो कर निरूपक होता है और वहाँ प्रतियोगित्व का अर्थ निरूपकत्व है।

कुछ नैयायिक विषयता से निरूपित ज्ञान आदि में रहने वाली विषयिता को अतिरिक्त न मान कर विषयित्व को विषयता- निरूपकत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार अवच्छिन्नत्व को भी निरूपकत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसे, अग्नि के अभाव को अग्नित्वावच्छिन्नाभाव कहा जाता है। यह अवच्छिन्नत्व अग्नित्वनिष्ठ (अग्नि में रहने वाली) अवच्छेदकता का निरूपकत्व ही है, क्योंकि अग्नित्व से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता अग्नि में रहती है वह अग्नित्व में रहनवाली अवच्छेदकता की निरूपक होने से उक्त अवच्छिन्नत्व निरूपकत्व-रूप होता है।

विशेष्यता और प्रकारता में जिस प्रकार निरूप्य-निरूपक-भाव होता है उसी प्रकार प्रकारता और विशाष्यता का संसर्गता के साथ भी निरूत्य- निरूपक-भाव होता है। जिसका जो सम्बन्ध जहाँ प्रतीत होता है उसकी विशेष्यता और उसकी प्रकारता का भी उस संसर्ग में रहने वाली संसर्गता के साथ निरूप्य-निरूपक-भाव होता है यह एक नियम है। यही कारण है कि विशेष्यता और प्रकारता में जो निरूप्य- निरूपक-भाव है वह संसर्गता के द्वारा ही होता है। अत : प्रकारता में विशेष्यता-निरूपितत्व है वह विशेष्यता-निरूपित संसर्गता- निरूपितत्व है, तथा विशेष्यता में प्रकारता-निरूपितत्व माने प्रकारता-निरूपित संसर्गता-निरूपितत्व है। कार्य-कारण-भाव में जहाँ प्रकारता और विशेष्यता का निवेश होता है वहाँ संसर्गता का निवेश होता ही है। अत : प्रकारता और विशेष्यता में स्वतंत्र रूप से निरूप्य-निरूपक-भाव न मानने पर भी कोई गौरव दोष नहीं है।[१४]

कुछ नैयायिककों का मत है कि विनिगमनाविरह होने से उन दोनों में भी स्वतंत्र निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है।[१५]

गदाधर का मत है कि घटत्वावच्छिन्नत्व जो घटनिष्ठ प्रकारता में है वह घटत्वनिष्ठ प्रकारता- निरूपितत्व ही है। अत : घटत्वनिष्ठ प्रकारता से घटनिष्ठ प्रकारता भी निरूपित होती है। प्रकारता और विशेष्यता के बीच में ही निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित घट में रहने वाली प्रकारता ही घटत्वनिष्ठ प्रकारता-निरूपित विशेष्यता-रूप होने से उन दोनों प्रकारताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है।[१६]

इस प्रकार प्रतियोगिता, अवच्छेदकता आदि नियमत : जिसकी आकांक्षा रखते हैं वह निरूपक तथा प्रतियोगित्व आदि निरूप्य (निरूपित) होते हैं। घट किसका प्रतियोगी है? यह आकांक्षा होने पर अभाव उसका निरूपक होता है, तथा प्रतियोगिता निरूपित होती है। उसी प्रकार ज्ञान को भी नित्य विषय की आकांक्षा होती है। अत : उसका विषय

निरूपक तथा ज्ञान निरूप्य होता है। परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा होने से प्राय: सर्वत्र परस्पर निरूप्य- निरूपक-भाव होता है, तथा जो निरूप्य होता है उसमें निरूपकता होती है। निरूप्यता और निरूपकता की स्थिति प्रत्यय पर अवलंबित है। प्रत्यय के आधार पर ही कौन निरूपक है और कौन निरूप्य है इसका निर्धारण होता है।

पूर्व में यह बतलाया जा चुका है कि घट का अभाव ज्ञात होने पर अभाव से निरूपित प्रतियोगिता घट में तथा उक्त प्रतियोगिता की निरूप्य या निरूपक अवच्छेदकता घटत्व में ज्ञात होती है। इस प्रकार घटत्व में रहने वाली अवच्छेदकता की निरूपक या निरूप्य प्रतियोगिता होती है। घट अवच्छेदकता का निरूपक नहीं है।

वस्तुत: अवच्छेदकता से निरूप्य अवच्छेद्यता होती है। प्रतियोगिता उसकी निरूपक होती है। परन्तु चूंकि अवच्छेद्यता प्रतियोगिता में रहती है अत: अवच्छेदकता के साथ होने वाला निरूप्य-निरूपक-भाव प्रतियोगिता के साथ भी होता है।

निरूपकता और निरूप्यता के सम्बन्ध में कुछ और बातों पर अग्रिम लेख में विचार किया जायेगा।

दर्शन विभाग **बलिराम शुक्ल**
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११ ००७.

टिप्पणियाँ

१. शिवदत्त मिश्र; हृदोजात्यभाववान् इत्यादौ जातिमज्ज्ञातिमत्वावच्छिन्न विषयताया: विशेष्यितारूपत्वेन संसर्गानवच्छिन्नतया संसर्गनिवेशे जातिमान् जातिमानित्यादि ज्ञानावारणाच्चेति वाच्यम्। सामान्यनिरूक्तिटीकायाम्।
२. विश्वनाथ; न्यायसिद्धान्तमुक्तावली; प्रामाण्यवादप्रकरणे
३. शिवदत्त मिश्र; अभावप्रतियोगित्वयो: परस्परनिरूप्य निरूपक भावादिति। जागदिशी, सिद्धान्तलक्षणस्य टीकायाम्।
४. गदाधार; संसर्गतया समं प्रकारताया विशेषतायाश्च निरूप्यनिरूपकभावाख्य सम्बन्धविशेषोऽभ्युपगन्तव्य:। स च सम्बन्ध: कार्यत्व कारणत्वाधेयत्वांधारत्व प्रतियोगित्वानुयोगित्वादीनां मिथ: वादृशसम्बन्ध: इव स्वरूपविशेष: पदार्थान्तरमेव वा। गादाधरी, विषयतावादे
५. रघुनाथ, दीधिति, सामान्यनिरुक्तिप्रकरणे।
६. गदाधर; निरूपकत्वश्चात्र यदि प्रतियोगित्वं तदा कार्यस्य कार्यताप्रतियोगित्वाभावादनुमित्यसंग्रह:। गादाधरी, सामान्यनिरुक्ति प्रकरणे।

७. शिवदत्त मिश्र; निरूपकत्वं यद्यनुयोगित्वरूपं तदा परामर्शाऽसंग्रहेण व्यभिचारादावव्याप्तिर्बोध्या । सामान्यनिरूक्ति टीकायाम् ।

८. गदाधर; सम्बन्धिपदं सम्बन्धिद्वयसाधारणस्य तत्साक्षात्कारजनक साक्षात्कार विषयतात्मक निश्चायकत्वस्य लाभाय । गादाधरी, सामान्यनिरूक्ति प्रकरणे ।

९. शिवदत्त मिश्र; तादृश्य निरूपकत्वं च न विषयतारूपं किन्त्वरिक्तमेव । सामान्यनिरुक्ति टीकांयाम् ।

१०. यन्निरूपितत्वं यस्य तदाश्रय निरूपितत्वभवितस्येति । वहीं

११. विषयितयो : परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव : । वहीं

१२. शिवदत्त मिश्र; इदमत्रतत्त्वम् । अन्तराभासमानपदार्थनिष्ठ विशेष्यताप्रकारतयो भट्टाचार्यमतेऽवच्छेद्यावच्छेदकभाव :। तेषामयमाशय : - पुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यक दण्डाभावत्वावच्छिन्न प्रकारक बुद्धिं प्रति पुरुषत्वावच्छिन्न दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारक निश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वम् । तयोरभेद स्वीकारे तु सुन्दरपुरुषदण्डवान्देश इत्यस्यादि प्रतिबन्धकत्वापत्ति : । अत्रापि सुन्दरत्व प्रकारता निरूपिता या पुरुषे विशेष्यता सैव पुरुषत्वावच्छिन्न प्रकारता इति तस्यां दण्डत्वावच्छिन्न विशेष्यतात्मक प्रकारतानिरूपितत्व सत्वात् । जगदीशस्तु दण्डत्वावच्छिन्न प्रकारत्वावच्छिन्न निरूपकता निरूपित निरूप्यतावत्पुरुषतात्वावच्छिन्न विशेष्यताशालिनिश्चयत्वेन प्रतिबन्धकतामभ्युपैति। सामान्यनिरुक्ति टिप्पण्याम् ।

१३. यादवाचार्य; अत्र प्रतियोगित्वं निरूपकत्वम् । न्यायसिद्धान्तमञ्जर्या : टीकायाम् ।

१४. गदाधर; यत्र प्रकारताविशेष्यत्वयोर्निवेश : तत्र संसर्गस्याप्यवश्यं निवेशात् तयोर्निरूप्यनिरूपक भावानभ्युपगमेऽपि गौरवानवकाशादिति । गादाधरी, विषयतावादे

१५. शिवदत्त मिश्र; विनिगमनाविरहादेव तयोरपि साक्षान्निरूप्यनिरूपकभावसिद्धिरिति । विषयतावाद टिप्पण्याम्

१६. गदाधर; वस्तुतस्तु ....तत्र घटादिनिष्ठाया : भूतलादिनिष्ठ विशेष्यतानिरूपित प्रकारताया एव घटत्वादिप्रकारतानिरूपित विशेष्यतात्मकत्वात् तादृश प्रकारतयोर्निरूप्यनिरूपकभावोपपक्षे : । गादाधरी, विषयतावादे

पदार्थ-स्वरूप

इसके पूर्व के निबन्ध में न्यायमतानुसार पद के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की गई थी। अब इस निबन्ध में पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या की जायेगी। व्युत्पत्ति के अनुसार भी 'पदार्थ' शब्द का तात्पर्य है पदस्य अर्थ:-पद का अर्थ। अर्थात् पद के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है उसे पदार्थ कहते हैं। पदाभिधेय = पदार्थ। प्रश्न उठता है कि पदार्थ क्या है ? वैशेषिकों के अनुसार पदार्थ सात हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य,विशेष, समवाय और अभाव। लेकिन इस निबन्ध में पदार्थ शब्द का तात्पर्य उपरोक्त अर्थ में न लेकर एक विशेष अर्थ में लिया ज़ायेगा। सार्थक शब्दों के वर्गीकरण में जिन तीन शब्दों का उल्लेख किया गया है- प्रकृति, प्रत्यय और निपात- उनमें से सिर्फ प्रकृति का और पुन: उसमें भी प्रातिपदिक का ही अर्थ निर्णय करना इस निबन्ध का प्रमुख उद्देश्य है। प्रातिपादिक में भी नैमित्तिक, औपाधिक और पारिभाषिक में सिर्फ नैमित्तिक संज्ञा पर ही हम अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। प्रसंगवश औपाधिक और पारिभाषिक संज्ञा का भी उल्लेख करना न भूलेगें।

नैमित्तिक संज्ञा के व्दारा जिस पदार्थ का बोध होता है वह जाति और आकृति विशिष्ट होता है। लेकिन इस विशिष्ट पदार्थ की व्याख्या करने के पूर्व 'पदार्थ' शब्द की अन्यान्य व्याख्यायें भी एक नज़र से देख लेना युक्तिसंगत होगा। 'पदार्थ' शब्द का तात्पर्य कभी-कभी पद व्दारा 'अभिव्यक्त तात्पर्य' से लिया जाता है। बोध की दृष्टि से यह अर्थ पद-वृत्ति पर निर्भर करता है। साधारणत: यह दो प्रकार के होते हैं- जैसे *वाच्यार्थ* और *लक्ष्यार्थ*। वैयाकरण आलंकारिक कभी-कभी व्यंगार्थ रूप भी स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए गंगा पद के व्दारा वाच्यार्थ रूप में जल प्रवाह रूप नदी का बोध होता है। 'गंगायाम् घोष:' यहाँ पर गंगा पद का *'लक्ष्यार्थ'* तीर रूप में होता है तथा 'पावनत्व', 'शैत्य', इत्यादि अर्थ का बोध व्यंगार्थ रूप में होता है।

कभी-कभी 'पदार्थ' का तात्पर्य ऐसी वस्तु से लिया जाता है जिसका बोध पद के व्दारा होता है और जिसकी सत्ता भी बाह्य जगत् में (देश और काल में) मौजूद रहती है। पद के व्दारा जिस पदार्थ का निर्देश किया जाता है वह पदार्थ वास्तविक होता है जिसका स्पष्ट उल्लेख *न्यायसूत्र* २.२.६९ से हो जाता है। उसकी व्याख्या आगे की जायेगी। यद्यपि न्यायमतानुसार सभी पदार्थ देश और काल में उपस्थित नहीं भी हो सकते हैं जैसे सामान्य (घटत्व,पटत्व आदि), समवाय (नित्य सम्बन्ध), विशेष, अभाव आदि। ये सभी नित्य पदार्थ

हैं। तथापि यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस निबन्ध में 'पदार्थ' शब्द का तात्पर्य एक विशेष अर्थ में ही किया गया हैं।

यह अनिवार्य नहीं है कि हम प्रयोग करते हैं वे सभी पद निर्देशात्मक हों। उदाहरण के लिए च , वा , इत्यादि पदों के व्दारा ऐसे किसी पदार्थ का बोध नहीं होता है जिसकी सत्ता बाह्य जगत् में हो। लेकिन उनका कोई न कोई अर्थ अवश्य होता है , क्योंकि हम जानते हैं कि इनका प्रयोग कब और कैसे किया जाता है। पर इन्हें देश और काल में दर्शाया नहीं जा सकता। फिलहाल ऐसे 'अर्थ' का उल्लेख करना भी हमारा ध्येय नहीं है।

नैयायिक जब पदार्थ का उल्लेख करते हैं तो वे साधारणत: एक ऐसे पदार्थ का निर्देश करते हैं जो जाति और आकृति से युक्त हो। क्योंकि जब एक ही पद विभिन्न सजातीय व्यक्तियों के लिए व्यवहृत होता है तो वे सभी एक श्रेणी के पदार्थ माने जाते हैं। उदाहरण के लिए 'घट' पद के व्दारा पृथ्वी के यावत् घटों का बोध होता है चाहे वे किसी भी रंग के हों, किसी भी उपादान के बने हों इत्यादि। उन सभी घटों में घटत्व जाति और घटाकृति वर्तमान है। न्याय मत की विशद आलोचना आगे की जायेगी।

इस सन्दर्भ में वैयाकरणों के व्दारा दी गयी पदार्थ शब्द की एक और व्याख्या का उल्लेख किया जा सकता है। उनके अनुसार पद के व्दारा निर्देशित अर्थ कभी बोद्धार्थ और कभी बाह्यार्थ होता है। उदाहरण के लिए 'घट' पद के व्दारा जिस अर्थ का बोध होता है वह बाह्यार्थ है, क्योंकि उसकी सत्ता बाह्य जगत् में है। परंतु 'शश-विषाण' पद के व्दारा निर्देशित अर्थ कहीं भी न रहने के कारण उसके व्दारा हमें जो अर्थ-बोध होता है वह बौद्धार्थ की श्रेणी में आता है। क्योंकि उपर्युक्त पद के व्दारा किसी वास्तव पदार्थ का बोध नहीं होता है; लेकिन एक ऐसा बोध होता है जो बुध्दिगत है। यदि इस बौद्धार्थ की सत्ता न स्वीकार की जाय तो अतीत की घटनाओं, काल्पनिक कथाओं, ऐतिहासिक तथ्यों इत्यादि के बारे में पढ़ कर भी शाब्दबोध नहीं हो सकेगा। लेकिन उपयुक्त प्रसंगों में हमें न केवल शाब्दबोध होता है बल्कि एक विशेष प्रकार के आनन्द की भी अनुभूति होती है।

वैयाकरणों के अनुसार शब्द कभी-कभी अपने स्वयं के स्वरूप को भी प्रकाशित करता है। पाणिनि इसका उल्लेख 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा'(१.१.६७.)सूत्र में करते है। उदाहरण के लिए 'अग्नेर्ढक' इस सूत्र के व्दारा 'अग्नि' शब्द में 'इञ' प्रत्यय का योग किया जाता है,'अग्नि' पदार्थ में नहीं। भर्तृहरि कहते हैं कि पद अपनी शक्ति के व्दारा अपने आकार और उपादान का ही बोध कराता है, जैसे- प्रकाश वस्तु को प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है। इसी तरह पद भी अपने स्वरूप का उल्लेख करने के साथ-साथ बाह्यार्थ का भी बोध कराता है।

'आत्मरूपं यथा ज्ञानं ज्ञेयंरूप च दृश्यते
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ।
ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च ब्दे शक्ति तेजसो यथा ।
तथैव सर्वशब्दानमेते पृथग् इव स्थिते ।

(वाक्यपदीय , १/५०-५५)

इस निबन्ध में वैयाकरणों के व्दारा प्रदत्त इस अर्थ की व्याख्या की आलोचना करना हमें अभीष्ट नहीं है । इसकी व्याख्या योग्यता ज्ञान के प्रसंग में ही करना उचित है । यहाँ पर हम यह मानकर चलते हैं कि 'पदार्थ' किसी देश और काल में स्थित ऐसी सत्ता है जिसका अस्तित्व वास्तविक जगत् में है । अब हमें यह विचार करना है कि इस पदार्थ का स्वरूप क्या है ?

साधारणत: नैयायिक ऐसा मानते हैं कि पद के व्दारा जिस पदार्थ का बोध होता है वह व्यक्ति पदार्थ, जाति और आकृति से विशिष्ट होता है।

'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' *(न्यायसूत्र २/२/६८)*.

उदाहरण के लिए 'घट' पद एक ऐसे व्यक्ति घट पदार्थ का निर्देश करता है जो घटत्व जाति और घटाकृति(कम्बुग्रीवादि) के व्दारा विशिष्ट है । अर्थात् हमारे बोध के धरातल में तीन चीजें भासमान होती हैं- घट, घटत्व और घटाकृति । लेकिन सूत्र में 'पदार्थ' शब्द के साथ एकवचन का प्रयोग किया गया है, क्योंकि तीन भिन्न-भिन्न विषय प्रतीयमान होने पर भी तीनों मिल कर एक ही पदार्थ का बोध कराते हैं ।

'जात्याकृतिविशिष्टाया' व्यक्तौशक्तेरैक्यम् । जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थ इति न्यायसूत्रे । बहुवचपमुपेक्ष्य पदार्थ इत्येकवचनान्तं निर्दिष्टवतो महर्षेप्यनुभवं ।'

शक्तिवाद पृ.१७२

लेकिन उपर्युक्त सूत्र में विधेय वाचक 'पदार्थः' पद के पश्चात् प्रथमा विभक्ति एकवचन का निर्देश है, जबकि उद्देश्य वाचक 'जात्याकृति व्यक्ति' पद के पश्चात् प्रथमा विभक्ति बहुवचन का निर्देश है , इससे उद्देश्य और विधेय वाचक पद में समानवचनत्व का नियम व्याहत हो जायेगा । अर्थात् नियम है कि उद्देश्य वाचक और विधेय वाचक पद में समान वचन का प्रयोग होने पर ही उनमें परस्पर अन्वय हो सकता है । इसका उत्तर है कि सूत्रोक्त 'पदार्थ' पद के अन्तर्गत 'अर्थ' पद का शक्य रूप अर्थ ही गृहीत है । अतएव पदार्थ के पश्चात् प्रथमा एकवचन 'सु' विभक्ति का अर्थ ही एकत्व यदि पदशक्यरूप पदार्थ में अन्वित हो तो उक्त वाक्य अयोग्य हो जायेगा, कारण उक्त अर्थ एक नहीं है । इसलिए पदशक्यरूप पदार्थ के एक देश में जो शक्ति है उसी में 'सु' विभक्ति का अर्थ एकत्व संख्या का अन्वय स्वीकार करके उक्त वाक्य को योग्य कहा जाता है । इस अभिप्राय से सूत्रकार जाति ,आकृति एवं व्यक्ति त्रिविध अर्थ में गवादि पद में एक शक्ति व्यक्त करने के लिए 'पदार्थाः' बहुवचन का

निर्देश न करके पदार्थः एकवचन का निर्देश करते हैं। यदि बहुवचन के निर्देश में जाति , आकृति एवं व्यक्ति में विभिन्न शक्ति कल्पित्त की जाय तो विशकलित अर्थात् विशेष्य - विशेषण - भावशून्य गोत्वादि रूप जाति , संस्थान रूप आकृति, गवादि व्यक्ति एतद् समुदाय में स्वतंत्र रूप से शाब्दबोध की आपत्ति हो जायेगी ।

इसके अलावा एक और महत्त्व की बात इस सूत्र में ध्यान रखने की है कि सूत्र में जाति , व्यक्ति और आकृति तीनें का समान स्तर पर ही उलेख किया गया है अर्थात् पद श्रवण के पश्चात् जाति, व्यक्ति और आकृति का बोध एक साथ ही हो जाता है । लेकिन यदि ऐसा कहा जाय कि पदार्थ जाति और आकृति विशिष्ट व्यक्ति है तो सवाल उठेगा कि तब स्वाभाविक रूप से जाति का बोध पहले और व्यक्ति का बोध बाद में होगा ।

क्योंकि नियम है' शाब्द बोधे प्राक्प्रतीयमानत्वं विशेषणम् ।' शाब्दबोध में जिसका भान पहले होता है वह विशेषण होता है। 'घट' पद के व्दारा 'घटत्वविशिष्ट घट' का बोध होता है , जिसमें घटत्व विशेषण है तथा घट विशेष्य है। इसी तरह उपर्युक्त सूत्र में जाति विशेषण और व्यक्ति विशेष्य रूप से भासमान होता है। वात्सायायन भी इस मत का समर्थन करते हैं।

'न द्रव्यमात्रविशिष्टं जात्याऽभिधीयते, किं तर्हि जातिविशिष्टं'।

-*न्यायसूत्रभाष्य* (२.२.६०)

वाचस्पति भी जातिमतीव्यक्तिः (२.२.५५)कहकर जातिविशिष्ट व्यक्ति मत का ही समर्थन करते हैं। विश्वनाथ *सिध्दान्त मुक्तावली* में जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध विशेषण-विशेष्य रूप में स्वीकार करते हैं-

'तस्मात् तज्जात्याकृतिविशिष्ट तद् व्यक्ति बोधानुपपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिजात्याकृति विशिष्ट व्यक्तावेव विश्रामयतीति ।'

(पृ. ४३९-४४०)

लेकिन वाचस्पति दूसरी ओर यह भी मानते हैं कि जाति, आकृति और व्यक्ति का बोध सूत्र में क्रम से नहीं होता है बल्कि वे एकबारगी ही ग्रहीत हो जाते हैं क्योंकि यदि यहाँ पर तीन पृथक् -पृथक् पदार्थ होते तो तीन पृथक् पृथक् शक्तियाँ भी स्वीकार की जातीं। लेकिन नैयायिकों की मान्यता है कि पद अपनी एक ही शक्ति के व्दारा एक विशिष्ट पदार्थ का बोध कराता है। उसमें तीन विशकलित पदार्थ नहीं होते, तीनों की समष्टि एक साथ भासमान होती है। अतएव ऐसा कहना वांछनीय नहीं है कि जाति का बोध पहले और व्यक्ति का बाद में होता है। समग्ररूप से (gestaltic)दोनों ही एकसाथ शाब्द बोध के विषय होते हैं।

व्यक्त्याकृति जातयस्तिस्रोऽस्माकं पदार्थः, गुणप्रधानभावस्तु क्वचिदेव कस्यचिद् , जातिमद्व्यक्तिभिधाने व्दिविधमप्यस्वतंत्रं न सम्भवति शब्दानाम् । न तावत् व्यक्तिज्ञाने जनयितव्ये तदर्थ जातिज्ञानं पूर्वमपेक्षन्ते शब्दा इति सम्भवति । योरप्येकज्ञानवेद्यत्वनियमेन पौर्वापर्यायोगात् । बुध्दि परिप्लवात् तद् विनिश्चयाय विशेष शब्दोपक्ष स्वातन्त्र्यम् ।

(२.२.५६)

यद्यपि गदाधर *शक्तिवाद* ग्रन्थ में इस मान्यता का खंडन करते हैं कि जाति , आकृति और व्यक्ति में एक ही शक्ति के व्दारा तीनों का बोध हो जाता है, उनका कहना है कि यह तो एक प्रवाद रूप में ही प्रसिद्ध है । वास्तव में वहाँ तीन विषय होने के कारण - विशेष्य , विशेषण और संसर्ग - तीन शक्तियाँ ही स्वीकृत होनी चाहिए , चाहे पदार्थ भले ही एक हो ।

'घटघटत्वसंसर्गेषु संकेतविषयतानां वैलक्षण्येऽपि तन्निरूपकबोधनिष्ठविषयताया ऐक्यात् शक्त्यैक्य प्रवादि न तु संकेतैक्यात् ।'

शक्तिवाद, पृ. ४८.

गदाधर इसलिए मानते हैं कि ईश्वर की इच्छाएँ भी यहाँ तीन होनी चाहिए क्योंकि विषयतायें तीन हैं । लेकिन जिनका यह मानना है कि इन तीनों का बोध एक ही शक्ति के व्दारा हो जाता है, उनका कहना है कि विशिष्टज्ञान की विषयता यद्यपि विशेष्य विशेषण और संसर्ग तीनों में रहती है परन्तु उनका बोध पृथक् पृथक् रूप से न होने के कारण जातिविशिष्ट व्यक्ति के रूप में होता है । फलत: एक ही शक्ति-ज्ञान से काम चल जाता है, तीन की आवश्यकता नहीं है ।

इस तरह सूत्रोक्त पदार्थ का तात्पर्य नैयायिक 'जात्याकृति विशिष्ट' व्यक्ति अथवा 'जाति, आकृति एवं व्यक्ति' दोनों ही रूप में स्वीकार करते हैं । सिध्दान्तत: दोनों बोध-विषयताओं का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने पर भी व्यवहार में कोई फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि तीनों का बोध हमें किसी क्रम से नहीं होता है, वरन् एक साथ ही होता है ।

अब प्रश्न उठता है कि जाति, आकृति और व्यक्ति का लक्षण क्या है ? *न्यायसूत्र* २.२.५९ में व्यक्ति का लक्षण इस प्रकार से किया गया है---

'व्यक्ति गुण विशेषाश्रयो मूर्तिः।' इसकी व्याख्या भाष्यकार वात्स्यायन इस प्रकार करते हैं- 'व्यक्त्यते इति व्यक्तिरिन्द्रिय ग्राह्येति न सर्व द्रव्यं व्यक्तिः । यो गुणविशेषाणां स्पर्शान्तानां गुरुत्व घनत्वद्रवत्वं संस्कारणां व्यापिनः परिमाणस्याश्रयो तथा संभवं तद्द्रव्यं मूर्तः मूर्तितव्यत्वादिति ।'

न्यायभाष्य २.२.५७

गुणविशेष का आश्रय जो मूर्ति है अर्थात् आकृति विशिष्ट द्रव्य विशेष ही व्यक्ति है। गुणविशेष के व्दारा रूप रसादि विशेष को ग्रहण किया गया है एवं गुरुत्व, घनत्व, द्रव्यत्य, संस्कार एवं अव्यापक परिणाम - से सभी द्रव्य के आश्रित हैं। आकाश द्रव्य है , पर वह व्यक्ति नहीं है क्योंकि वह इन्द्रिय व्दारा ग्राह्य नहीं है। इन्द्रिय - ग्राह्य द्रव्य ही व्यक्ति हो सकता है। आकाशादि द्रव्य में आकृति न रहने के कारण आकृतिशून्य व्यक्ति महर्षि का लक्ष्य नहीं है। इसलिए व्यक्ति शब्द का समानार्थक मूर्ति शब्द का उल्लेख किया गया है। 'मूर्च्छ' धातु से 'मूर्ति' शब्द बना है। जिस द्रव्य के अवयव मूर्च्छित अर्थात् परस्पर संयुक्त हों, ऐसे द्रव्य को मूर्ति कहते हैं। आकाशादि द्रव्य में अवयव न रहने के कारण वह मूर्ति द्रव्य नहीं कहलाता है। इसके अतिरिक्त आकाश में रूप रसादि गुण न रहने के कारण भी वह व्यक्ति नहीं हो सकता है।

भाष्यकार की इस व्याख्या को उद्योतकर अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सभी द्रव्य, गुण और कर्म को व्यक्ति पदार्थ मानना चाहिये। वे सूत्रोक्त गुण के व्दारा रूपादि गुण पदार्थ और विशेष शब्द के व्दारा उत्क्षेपणादि कर्म पदार्थ एवं आश्रय शब्द के व्दारा गुण और कर्म का आधार द्रव्य पदार्थ को ग्रहण करके, द्वन्द्व समास के व्दारा पूर्वोक्त द्रव्यादि पदार्थ-त्रय को ही व्यक्ति कहते हैं। उद्योतकर पुनः 'मूर्ति' शब्द के व्दारा समवाय सम्बन्ध विशिष्ट अर्थ लेते हैं। 'मूर्च्छ' धातु का अर्थ सम्बन्ध है, जो यहाँ पर समवाय अभिप्रेत है। पूर्वोक्त द्रव्य, गुण और कर्म तीनों पदार्थ ही समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी हैं। इस अर्थ में पदार्थ-त्रय को मूर्ति कहा जाता है। लेकिन यह व्याख्या भाष्यकार को अभिप्रेत नहीं है।

गौतमसूत्रवृत्ति में व्यक्ति पद की व्याख्या प्रमयेत्व रूप में की गई है। विश्वनाथ कहते हैं - यद्यपि 'जात्यादेरपि व्यक्तिवात् प्रमेयत्वमेव व्यक्तित्वम्' (२.२.६७)

इस तरह से सभी पदार्थ इस व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं क्योंकि सभी पदार्थ प्रमेयत्व स्वरूप हैं। पर हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि इस निबन्ध का उद्देश्य सभी पदार्थ की चर्चा करना नहीं है।

आकृति किसे कहते हैं ? अवयवों के परस्पर संयोग से जो पश्वादि की संरचना तैयार होती है उसे आकृति कहते हैं, यथा हस्त, पाद , मस्तक- इत्यादि परस्पर संयोग से मनुष्य आकृति बनती है। जयन्त भट्ट कहते हैं-

संस्थानमेवाकृति मन्यते। अवयवविशेष एव आकृति उच्यते।

न्याय मंजरी, खण्ड-२, पृ.३९

न्यायभाष्यकार वात्सायन कहते हैं जिसके व्दारा जाति और जाति के लिंग अवयव विशेष आख्यात होते हैं,उसे आकृति कहते हैं-

'आकृतिर्जातिलिंगाख्या' *(न्यायसूत्र* २.२.६८)

आकृति जाति का व्यञ्जक है इसलिए आकृति को जातिलिंग कहा जाता है। गवादि प्राणियों के हस्तपादादि अवयवों के परस्पर विलक्षण संयोग रूप आकृति के व्दारा गोत्वादि जाति का बोध होता है। इसी तरह से हस्तपादादि अवयवसमूह के भी जो अवयव हैं वे भी परस्पर विलक्षण संयोग रूप आकृति व्दारा जाति के लिंग मस्तकादि अवयव विशेष आख्यात होते हैं क्योंकि मस्तकादि अवयव विशेष के ज्ञान से गोत्वादि जाति का ज्ञान होता है। इसलिए मस्तक , चरणादि अवयव के अवयव-संयोग विशेष को जातिव्यजंक न मानकर जाति लिंग का व्यंजक है। अर्थात् कर चरणादि माना गया मनुष्यत्व जाति का व्यंजक है पर कर चरणादि का अवयव समूह मनुष्य जाति का लिंग कर चरणादि का व्यंजक है।

भाष्यकार पुन: कहते हैं कि मृत्तिका, सुवर्ण, रजतादि द्रव्य की जाति, आकृति व्दारा व्यंग नहीं होती है। अत: मृत्तिकात्व प्रभृति जाति आकृति व्यंग्य नहीं है। ऐसे स्थलों पर जाति और व्यक्ति को ही पदार्थ कहा जाता है। समस्त जाति आकृति व्यंग्य नहीं होती है। मृत्तिका, सुवर्ण, रजत द्रव्य के विशेष रूप के व्दारा जाति का बोध होता, इसलिए वे सभी जातियाँ रूप व्यंग्य हैं। ब्राह्मणत्व जाति योनिव्यंग्य है। घृततैलादि की जाति गन्ध विशेष या रस विशेष के व्दारा व्यंग्य है। इस तरह से समस्त जाति ही आकृति व्यंग नहीं होती है, और ऐसे स्थलों में व्यक्ति और जाति ही पदार्थ का तात्पर्य होता है। महर्षि गौतम ने 'गौ' नाम पद को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है, कारण यहाँ व्यक्ति, आकृति, जाति तीनों ही उपलब्ध हैं। परन्तु यदि कहीं पर तीनों उपलब्ध नहीं हैं तो व्यक्ति, आकृति अथवा व्यक्ति, जाति को ही पदार्थ माना जाता है। जैसे-पिष्टक निर्मित गौ व्यक्ति में गोत्व जाति न रहने से केवल गौ-व्यक्ति और गवाकृति ही उपलब्ध होती है। कोई कोई नैयायिक पिष्टक निर्मित गौ में 'गो' शब्द का मुख्य प्रयोग स्वीकार नहीं करते हैं। जहाँ पर गो शब्द का मुख्य प्रयोग होता है, वहां व्यक्ति, आकृति जाति तीनों ही उपलब्ध होते हैं। वैशेषिक सूत्रकार भी कहते हैं कि जिन स्थलों पर आकृति उपलब्ध न हो वहाँ जाति और व्यक्ति ही पदार्थ होते हैं यथा गुण कर्मादि स्थल में।

'गुण कर्मादि वाचक पदानाम् जातिव्यक्ति: एवार्थ:'

(७.२.९०)

उदाहरण के लिए 'रक्तम् गमनम्' स्थल में आकृति उपलब्ध न होने के कारण जाति और व्यक्ति ही अर्थ बोध की परिधि में भासमान होंगे।

जाति क्या है ? न्यायसूत्रकार कहते हैं 'समान प्रसावात्मिका जाति :'

(२.२.६९)

जो पदार्थ विभिन्न अधिकरण में समान बुद्धि उत्पन्न करे , जिसके द्वारा बहु पदार्थ परस्पर व्यावृत्त न हों, अथवा विभिन्न पदार्थों में विजातीय प्रतीती न हो, जो पदार्थ अनेक पदार्थों में प्रत्ययानुवृत्ति या एकाकार ज्ञान का निमित्त हो , वही सामान्य है । इसके अतिरिक्त जो पदार्थ किसी पदार्थ समूह में अभेद और किसी अन्य में भेद का साधक हो उसे सामान्य या जाति कहते हैं ।

'या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यथा बहुनीतरेतरतो न व्यावर्तन्त याऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्ति निमित्तं तत् सामान्यं । यच्च केषाञ्चिद्भेदं । कुतश्चिद्भेदं करोति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति । '

-न्यायभाष्य

सकल गो - गत सामान्य धर्म का नाम गोत्व है । घटादि उससे विजातीय पदार्थ हैं क्योंकि इसमें गोत्व नहीं है. । गो -मात्र में ही ' यह गौ है ' ऐसी प्रतीती होती है । इस एकाकार और समानबुद्धि का कारण गो - गत सामान्य धर्म गोत्व ही है । जो यह मानते हैं कि जाति प्रत्यक्ष योग्य है , उनके अनुसार गौ प्रत्यक्ष करने के समय ही गोत्व भी प्रत्यक्ष हो जाता है । पर जो नैयायिक यह मानते हैं कि जाति अनुमेय है, उनके अनुसार 'अनुवृत्त प्रत्यय' का कोई निर्मित अवश्य ही होगा । यथा 'गौ, गौ, गौ,.....' इस अनुगत प्रतीति का कारण गोत्व नामक सामान्य धर्म ही है जिसका अनुमान अनुवृत्त बुध्दि के व्दारा होता है ।

व्यक्ति, जाति और आकृति का पृथक् पृथक् लक्षण करने के पश्चात् पुन: प्रश्न उठता है कि पदार्थ के व्दारा इन तीनों का ही बोध समाविष्ट रूप से ही होता हैं । फिर भी देखा जाता है कि व्यक्ति की सत्ता के बिना जाति और आकृति का बोध नहीं हो सकता है। व्यक्ति पदार्थ ही एकमात्र देश और काल में अवस्थित हो सकता है । अतएव व्यक्ति पदार्थ न्यायमतानुसार एक वास्तव पदार्थ है । जिसका अस्तित्व हम बाह्य जगत् में अनुभव करते हैं । वैयाकरणों की तरह इसकी बोद्धार्थ सत्ता नहीं है । *न्यायसूत्र* २.२.६९ से भी स्पष्ट हो जाता है कि नैयायिक व्यक्ति सत्ता को वास्तविक सत्ता ही मानते हैं।

(२)

इस प्रसंग में हम उन सभी दार्शनिकों के मतों की चर्चा करना उचित समझते हैं, जो सिर्फ व्यक्ति को अथवा सिर्फ जाति को ही पदार्थ रूप में स्वीकार करते हैं । कुछ के अनुसार पद का मुख्यार्थ *व्यक्ति* ही होता है क्योंकि प्रत्यय, कारण, लिंग, संख्या इत्यादि का प्रयोग व्यक्ति के ही स्थल में किया जा सकता है, जाति के स्थल में नहीं । न्यायसूत्रकार कुछ ऐसे प्रकरणों का उल्लेख २.२.६२ सूत्र में करते हैं जहाँ व्यक्ति ही पदार्थ रूप में उपस्थित होता है---

'या शद्बसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यापचयवर्ण-समासानुबन्धानाव्यक्तावुपचाराद् व्यक्ति :।'

यथा - (१) सर्वनाम प्रयोग के स्थल में *यह* गाय जो खड़ी है-यहाँ पर यह व्यक्ति - 'गाय' का ही बोध कराती है। (२) समूह के अर्थ में, जैसे - 'गायों का समूह'। यहाँ विशेष गाय व्यक्ति का बोध होता है क्योंकि व्यक्ति गायों का ही समूह हो सकता है जाति का नहीं। (३) कर्मत्व का सम्बन्ध रहने से भी व्यक्ति का प्रयोग होता है-यथा 'वह ब्राह्मण को गाय देता है यहाँ ब्राह्मण व्यक्ति विशेष है जिसे दान दिया जा सकता है, जाति दान लेने के अयोग्य है। (४) संख्या प्रत्यय और संख्या विशेषण रूप में भी व्यक्ति बोध होता है -- गायें, दो गायें इत्यादि। (५) वृद्धि, अपचय इत्यादि मे भी व्यक्ति की वृद्धि या अपचय हो सकती है जैसे - गाय मोटी हो गई, अथवा गाय दुबली हो गई इत्यादि। जाति नित्य होने के कारण वृद्धि ऱ्हास के योग्य नहीं है। (६) वर्ण व्यवहार भी व्यक्ति के स्थल में ही हो सकता है यथा गाय सफेद है। जाति वर्णविहीन होने के कारण जाति के स्थल में ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता है। (७) समासानुबन्धता व्यक्ति - कुछ ऐसे प्रसंग हैं जहाँ पर किसी शब्द का अन्वय किसी व्यक्ति के साथ ही होकर अर्थ की प्रतीति होती है यथा - गाय का सींग गाय का कल्याण इत्यादि।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्तिवादी यह मानते हैं कि 'गाय', 'घोड़ा', इत्यादि पद व्यक्ति के ही वाचक हैं क्योंकि व्यक्ति में ही कार्यशीलन की क्षमता होती है। इसके प्रतिवाद में जातिवादी दार्शनिकों का मत है कि जाति अथवा आकृति के बिना पद व्यक्ति का वाचक नहीं होता है। व्यक्ति असंख्य और अनन्त होने के कारण तथा उनमें कोई निर्दिष्ट आकार प्रकार न होने के कारण व्यक्तिपद का वाच्य नहीं हो सकता है। ऐसा करने से आनन्त्य और व्यभिचार का दोष भी होगा। अर्थात् व्यक्ति असंख्य होने के कारण हमें हर एक व्यक्ति के लिए अलग-अलग शब्द-व्यवहार करना पड़ेगा। फलस्वरूप एक ही 'गाय' पशु के लिए असंख्य शब्द प्रयोग करने पड़ेंगे। दूसरी ओर एक गाय व्यक्ति के लिए जिस 'गाय' शब्द का प्रयोग हो चुका है, उसे दूसरी गाय के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न हैं। जैसे, किसी बच्चे को गाय दिखला कर कहा जाय कि 'यह गाय है', तो पुनः दूसरी गाय को भी दिखला कर कहा जाय कि 'यह गाय है' तो इसका तात्पर्य है कि दोनों व्यक्ति गाय में कुछ सामान्य धर्म है जिसके कारण दोनों ही पशु गाय कहलाते हैं। अतएव जातिवादी समर्थक मानते हैं कि पद जाति का ही वाचक होता है, व्यक्ति का बोध जाति के व्दारा ही होता है।

व्यक्तिवादी कहते हैं कि इससे यह कहाँ सिध्द होता है कि पद

जाति का व्याचक होता है। पद से जाति का बोध अवश्य होता है, लेकिन जाति कभी भी अर्थ बोध के दायरे में प्रवेश नहीं करती है। जिस तरह से कारणतावच्छेदक , कारण नहीं माना जाता है वैसे ही जाति भी अर्थबोध के दायरे में प्रविष्ट नहीं होती है , यद्यपि वह व्यक्ति का नियंत्रण अवश्य करती है। यदि ऐसा नहीं होता, तो *गाय* शब्द के द्वारा घोड़े का बोध हो जाता। लेकिन ऐसा नहीं होता है , अतएव जाति का बोध मानना आवश्यक है , पर उसे वाचक मानना आवश्यक नहीं है।

इस प्रसंग में बौध्द मत का संक्षेप में प्रतिपादन अप्रासंगिक नहीं होगा। नैयायिक वस्तुवादी दार्शनिक हैं। उनके अनुसार पदार्थ वास्तव जगत् में विद्यमान है। अर्थात् पदार्थ की सत्ता भाव रूप है , जबकि बौध्दों के अनुसार पदार्थ की सत्ता अभाव - मूलक है। बौध्द मतानुसार पदार्थ एक विशिष्ट वस्तु है जिसके द्वारा एक विशेष पदार्थ को छोड़ कर अन्य सभी का व्यावर्तन हो जाता है। इस सिद्धान्त को वे अपोहवाद का सिद्धान्त कहते हैं। उदाहरण के लिए, गो पद के द्वारा ऐसे किसी जानवर का बोध नहीं होता है, जो सास्नादि, खुर इत्यादि विशिष्ट है। परन्तु इसके द्वारा सभी पशुओं का व्यावर्तन हो जाता है जो अ - गौ हैं। पदार्थ तो विकल्प बुद्ध्यात्मक है जिसके नाम के अनुरूप बाह्य जगत् में कोई पदार्थ नहीं है। गो पद के द्वारा लाल, काली, सफेद सभी गायों का बोध यदि होता है तो इसलिए नहीं कि उनमें गोत्व नामक कोई सामान्य धर्म है , बल्कि इसके व्दारा सभी अ - गो पदार्थ का व्यावर्तन (अन्यापोह) हो जाता है। इस तरह से बौध्द सामान्य (जाति) का खंडन भी करते हैं क्योंकि उनके अनुसार पदार्थ क्षणिक हैं। अतएव नित्य और सामान्य पदार्थ का बोध संभव नहीं हो सकता है। वे सामान्य की जगह स्वलक्षण स्वीकार करते हैं। पर उस विषय की चर्चा करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है।

'अत्यन्ताविलक्षणानां सालक्षण्यम् अन्यव्यावर्तिकत्वमेव। यथा गवाश्वमहिष्मातंगानामतयन्त विलक्षणानामपि सिंहव्यावृत्त्या सालक्षण्यम्।

--*न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका* २.२.६६

'गो' पद व्दारा गौ पदार्थ का बोध सर्वप्रथम उचित है उसके पश्चात् ही अ-गो का व्यावर्तन हो सकता है। बिना गौ को जाने - अ - गौ का व्यावर्तन नहीं किया जा सकता है।

'यथा गौरिति पदस्यार्थोऽगौर्न भवतीति यावच्च गां न प्रतिपद्यते तावद् गवि प्रतिपत्तिर्न युक्ता, यावच्च गां न प्रतिपद्यते तावदगतीत्युभय प्रतिपत्तयाभावः।

--*न्यायवार्तिक* २.२.६६ (६८६)

यदि मान भी लिया जाय कि 'गो' पद के व्दारा 'अ-गो' का बोध होता है तो 'नीलोत्पलम्' के प्रसंग में अर्थ-बोध कैसे होगा ? 'नील' पद के व्दारा अ-नील और 'उत्पल' पद के द्वारा अ-उत्पल पदार्थ का बोध होगा-

तो दो अभाव पदार्थों का समानाधिकरण कैसे होगा ?

"यस्य चान्यापोहः शब्दार्थस्तेनानीलमुत्पलव्युदासौ कथं समानाधिकरणमिति वक्तव्यम् --

न्यायवार्तिक (२.२.६६,पृ .६८८)

यस्य पुनर्विधीयमान शब्दार्थस्तस्य जाति गुण विशिष्टं नीलोत्पलशब्दाभ्यां द्रव्यमभिधीयते जातिगुणौ च द्रव्ये वर्तते न पुनरनीलानुत्पल व्युदासौ , तस्मात् समानाधिकरणार्थो नास्तीती ।"

इसके अलावा 'सर्व' पद का क्या अर्थ होगा ? 'सर्व' पद से किसी का भी व्यावर्तन संभव नहीं है । इसी तरह से "दो पद से किस अर्थ का बोध होगा ?" 'एक' का व्यावर्तन नहीं किया जा सकता है क्योंकि दो संख्या एक और एक योग करके ही बनती है । उद्द्योतकर कहते हैं --

'न पुनः सर्वपदं एतदस्ति , न ह्यसर्व नाम यत्सर्वपदेन निवर्त्येत । ....द्व्यादिशब्दानांच समुच्चयविषयत्वादेकादिप्रतिषेधे प्रतिषिध्यमाना नामसमुच्चायकं द्व्यादिशब्दानामनर्थकत्वम् ।'

-*न्यायवार्तिक* २.२.६६ (पृ.६८७)

विभिन्न असुविधाओं को ध्यान में रखते हुए बौध्द दार्शनिक दिङ्नाग, शान्तरक्षित और रत्नकीर्ति आदि ने इन मतों में कुछ परिवर्तन भी किया । फिलहाल उसकी चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं हैं ।

एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि बौध्दों के व्दारा सामान्य के खण्डन के फलस्वरूप ही मीमांसकादि दार्शनिक जोर शोर से जाति को पद का वाच्य स्वीकार करने की घोषणा करते हैं ।

व्यक्तिवादी और जातिवादी के इस मतभेद की शुरूआत हम पाणिनि सूत्र १.२.५८ और १.२.६४ के अनुसार वाजप्यायन और व्याडि से मान सकते हैं । 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (१.२.६४) सूत्र के अनुसार पद का वाच्य व्यक्ति ही हो सकता है, क्योंकि सूत्र-गत एकशेष नियम के अनुसार दो या दो से अधिक एक जातीय पदार्थ विषयक पद में एक वचन अथवा बहुवचनान्त प्रत्यय जोड़कर एक शब्द में परिणत किया जाता है । उदाहरण के लिए दो या दो से अधिक वृक्ष पदार्थ का बोध करवाने के लिए बार-बार वृक्ष शब्द का उच्चारण न करके वृक्षौ, वृक्षाः कहने से दो या अधिक वृक्ष का बोध हो जाता है । यदि पद की वाच्य जाति होती तो वृक्षत्व कहने से दो या अधिक वृक्ष की बोध होना चाहिए । पर ऐसा नहीं होता है । अतएव द्रव्य या व्यक्ति ही पद का वाच्य है ।

'द्रव्याभिधानं व्याडिः' *(कात्यायन वार्तिक सूत्र १.२.६४)*

वाजप्यायन इसके विपरित कहते हैं कि पद का वाच्य जाति ही होता है। 'जात्याख्यमेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा. सू. १.२.५८) । इस सूत्र के अनुसार एकशेष का नियम व्यर्थ है क्योंकि वृक्ष - जाति एक है अतएव असंख्य वृक्ष पदार्थ का बोध करवाने के लिए असंख्य 'वृक्ष' शब्द का उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं है। 'वृक्ष' शब्द यदि वृक्षत्व जाति का बोध करवाये तो उससे यावत् वृक्ष का बोध हो जायेगा। एकवचन , व्दिवचन इत्यादि के द्वारा एक, दो इत्यादि अधिकरण का बोध होता है जिनमें जाति वर्तमान है।

जाति का लक्षण है - 'यत्तर्हि तत् भिन्नेषु अभिन्नं छिन्नेषु अछिन्नं सामान्यभूतं स शब्द : ' (*महाभाष्य* १.१.१) अर्थात् जो एक है , नित्य है , अनुगत प्रतीति का कारण है तथा जिसकी सत्ता भी है वही जाति पदार्थ है।

वाजप्यायन जाति को पदार्थ मानते हैं और व्याडि व्यक्ति को पदार्थ मानते हैं। वाजप्यायन का जाति को पदार्थ मानने का उद्देश्य है कि असंख्य व्यक्तियों में निहित जाति एक होने के कारण पदगत शक्ति भी एक ही स्वीकारने से काम चलेगा , अन्यथा पद की अनन्त शक्तियाँ स्वीकारनी पड़ेंगी। कैयट कहते हैं--

"तत्र जातिवादिन आहु :- जातिरेव शब्देन प्रतिपाद्यते , व्यक्ति नामानन्त्यात् सम्बन्धग्रहणासंभवात्, व्यक्तिवादिनः तु आहुः- शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्यः,जातेः तु उपलक्षण भावेनाश्रयणादानन्तर्यादि दोषानवकाश : । "

पंतजलि इन दोनों ही मतों का सामंजस्य विद्वत्तापूर्वक करते हैं। वे पद का वाच्य व्यक्ति और जाति दोनों को ही मानते हैं। 'किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यं ? उभय इत्याह ? कथं ज्ञायते- उभयथा हि आचार्येण सूत्राणि पाठितानि।'

(*महाभाष्य* १.१.१)

वैयाकरणों के इस विश्लेषण को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो नैयायिकों का विचार भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है। उनके अनुसार पद के व्दारा जिस पदार्थ का बोध होता है वह व्यक्ति और जाति दोनों ही होता है। *न्यायसूत्र* २.२.६३ 'न। व्यक्ति :पदार्थ : तदनवस्थानात्' में गौतम कहते हैं कि पद का अर्थ सिर्फ व्यक्ति नहीं हो सकता है क्योंकि व्यक्तियों की संख्या अनन्त है। यदि पद का अर्थ व्यक्ति ही माना जाय तो एक ही गौ पद की असंख्य शक्तियाँ स्वीकारनी पड़ेंगी, जो असंभव है। इसके विपरीत पद का अर्थ यदि सिर्फ जाति ही स्वीकार किया जाय तो व्यक्ति का बोध कैसा होगा ? उदाहरण के लिए-'गाय लाओ' स्थल में गाय पद के व्दारा व्यक्ति का बोध होगा तभी 'लाना' क्रिया संभव हो सकती है। जाति बोध होने से गोत्व जाति को लाना संभव नहीं होगा। ऐसे स्थलों में व्यक्ति का बोध करवाने के लिए लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा। गौतम *न्यायसूत्र* २.२.६४ में ' सहचरण - स्थान - तादर्थ्य - वृत्त मानधारण - सामीप्य - योग - साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण - मंच - कट - राज - सक्तुचंदन - गंगा - शाटकान् पुरूषाश्व्वतृतद्भावेऽ पितदुपचारः' उन सभी स्थलों का उल्लेख करते

हैं जहाँ प्रसंगवश व्यक्ति को पदार्थरूप में स्वीकारने के लिए - (क) सहचरण के कारण - जैसे - 'यष्टी प्रवेश्य' यहाँ पर यष्टि से तात्पर्य यष्टिधारी ब्राह्मणों से है। (ख) स्थान के कारण - जैसे - मञ्चा क्रोशन्ति यहाँ पर मंच से तात्पर्य मंच स्थित पुरुष से है। (ग) तादर्थ्य के कारण - जैसे - चटाई के लिए तृण विशेष के चयन करने वाले पुरुष के लिए भी 'चटाई बन रही है' यह प्रयोग होता है। (घ) वृत्त के कारण - यथा - 'यह राजा यम है'। (क्रूर बर्ताव करने से) या 'यह राजा कुबेर है'। (दान करने से) यह प्रयोग होता है। (ङ) मान के कारण - आढक परिमाण से तोले हुए सत्तु को लोक 'आढ़क सत्तु' भी कहते हैं। (च) धारण हेतु से - तुला में रखा हुआ चन्दन 'तुलाचन्दन' कहलाने लगता है। (छ) सामीप्य के कारण - लोक गंगा के समीपवर्ती देश को लेकर 'गंगा में गायें चर रही हैं ' ऐसा प्रयोग करते हैं। (ज) योग के कारण - काले रंग में टंगी हुई साड़ी 'काली साड़ी' कहलाती है। (झ) साधन के कारण - अन्न प्राण का साधन होने के कारण 'अन्न प्राण है ' ऐसा कहा जाता है। (ञ) आधिपत्य के कारण - किसी विशिष्ट प्रभाव वाले पुरुष को लेकर 'यही कुल है ', 'यही गोत्र है' --- ऐसा लोक में प्रयोग देखा ज़ाता है। इस तरह से जातिवादी मानते हैं कि गौ पद से गोत्व जाति का ही बोध होता है, पर इसका व्यवहार गो पशु के लिए लक्षणा द्वारा होता है। मीमांसक भी इस मत का समर्थन करते हैं।

इन सबसे अलग आकृतिवादी मानते हैं कि 'गौ' के द्वारा गवाकृति का बोध होता है , क्योंकि गाय और अश्व आदि पशुओं का परस्पर भेद आकृति के ऊपर निर्भर करता है। लेकिन आकृति तो प्रति व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है। पद का सम्बन्ध सभी आकृतियों से होना संभव नहीं है। पद का सम्बन्ध केवल कुछेक आकृतियों के साथ नहीं हो सकता है, क्योंकि तब प्रश्न उठेगा कि वे कुछेक आकृतियाँ कौन होंगी ? सारे विश्व में विखरी हुई गायों में किसी एक सामान्य आकृति का मिलना मुश्किल है। अतएव आकृति पदार्थ नहीं हो सकता है। अन्यथा असंख्य आकृतियों के लिए असंख्य पद - शक्ति स्वीकारनी पड़ेगी। इसके अलावा आकृति का सम्बन्ध 'लाना' क्रिया के साथ भी नहीं जोड़ सकते हैं। व्यक्ति एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता है पर आकृति नहीं। 'गाय लाओ' सुनकर कोई भी बुध्दिमान् व्यक्ति गवाकृति नहीं लाता है-- जैसे कागज़ पर खींची हुई गवाकृति या मिट्टी की बनी गवाकृति इत्यादि।

[1]न च त्रैलोक्यान्तर्गत सकल गोपिण्डसन्निवेश वचनत्वमनुगतम् शक्यम्, आनन्त्यात् , ततश्च नाकृतिः शब्दार्थः तस्याम् क्रियानुपपत्तेः, न हि प्रेषणादि क्रियासाधनं सन्निवेशः, अपि तु व्यक्ति : न च गामानयेत्युक्त : सत्यामपि तथाकृतौ (*न्यायमंजरी* खण्ड २ पृ.३२)। चित्रकृम्त्सामयी कश्चिद् गामानयति बुध्दिमान्।

आकृति पदार्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि आकृति जाति के साथ संयुक्त नहीं होती है। एकमात्र व्यक्ति ही जाति का अधिष्ठान होता है।

जिन स्थलों पर आकृति संभव ही नहीं है उन स्थलों में जाति को ही पदार्थ माना जाता है, यथा मृत्तिका , सुवर्ण इत्यादि ।

मीमांसकों के अनुसार जाति ही पदार्थ हो सकता है । वे आकृति शप्द का जाति के अर्थ में व्यवहार करते हैं । भट्ट कहते हैं 'जातिमेवाकृति प्राहुर्व्यक्ति सक्रियते यया ।'

(श्लोकवार्तिक ५/३)

यद्यपि हमारे सभी व्यवहार व्यक्ति को ही लेकर होते हैं तथापि पदार्थ - बोध जाति विषयक ही होता है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है , यदि व्यक्ति को पदार्थ माना जायेगा तो 'गौ' पद के द्वारा असंख्य गौ पशु का बोध असंभव हो जायेगा । इसके अतिरिक्त यदि 'गौ' पद के द्वारा श्वेत गाय का बोध होगा तो उंसी पद के द्वारा अश्वेत गाय का बोध नहीं हो सकेगा । अतएव मीमांसक कहते हैं कि जब हम 'गौ' इत्यादि पद सुनते हैं तो उससे गोत्वादिजाति का ही बोध प्रथमत: होता है ।

इसके अलावा शाब्दबोध में नियम है कि जिसका भान सर्वप्रथम होता है वह जाति या प्रकार होता है । अतएव पद के द्वारा पहले जाति का बोध होता है । पुन: लक्षणा के द्वारा व्यक्ति का बोध होता है । व्यक्ति का बोध जाति के द्वारा इसलिए भी होता है क्योंकि व्यक्ति और जाति में नियत सम्बन्ध है । एक ही ज्ञान में जाति और व्यक्ति दोनों ही भासमान होते हैं । पार्थसारथी ने *शास्त्रदीपिका* में मीमांसकों के द्वारा जातिपक्ष के सभी तर्कों का उल्लेख सुन्दर ढंग से किया है ।

'आनन्त्य व्यभिचारस्य शक्त्यनेकत्वदोषता ।
आकृते: प्रथमज्ञानात् तस्या एवाभिधेयता ।
व्यक्त्याकृत्योरभेदाच्च व्यवहारोपयोगिता
लिङ् संख्यादिसम्बन्ध: सामानाधिकरण्यधी:
सर्वं संमजसं एतद् वस्तु अनेकान्तवादिन:
लक्षणा बाह्युपेतव्या जातेर्हेताभिधेयता ।

१/३/१०

मीमांसक मत में तीन प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख किया जा सकता है-- भाट्ट, प्राभाकर और मण्डन मिश्र ।

भाट्ट मतानुसार पद के व्दारा जातिविषय का ही बोध होता है, पर व्यक्ति का भान भी शाब्दबोध में आक्षेप के व्दारा हो जाता है । 'गाय लाओ' इस वाक्य को सुनकर 'व्यक्ति-गाय' को ही लाने की प्रक्रिया होती है, अतएव व्यक्ति का बोध आक्षेप-लभ्य ही मानना पड़ेगा । आक्षेप का अर्थ है अनुमान या अर्थापत्ति ।

गदाधर *शक्तिवाद* ग्रन्थ में कहते हैं --

पदात्र व्यक्ते : स्मरणानुभवो वा किन्तु आक्षेपादेव व्यक्तिधी : आक्षेपिका च जातिरेव आक्षेपश्चानुमानमर्थापत्तिर्वा ...तादात्म्य सम्बन्ध जातिराधेयता सम्बन्धेन् व्यक्त्याक्षेपकतायाम् विरोधाद्

(पृ.१०३)

अनुमान और अर्थापत्ति का बोध इस प्रकार होगा :-

"गोत्वं गवाश्रितं व्यक्त्याश्रितं वा गोत्वादि जातेः वा । यन्नैवं तन्नैवं इति अनुमानं , व्यक्त्याश्रितत्वं विना जात्याऽनुपपन्ना इत्यादि अर्थापत्तिः इति भावः ।

--*शक्तिवाद* (हरिनाथी टीका पृ. १८३)

इस तरह भाट्ट सम्प्रदाय के अनुसार यद्यपि पद के द्वारा जाति पदार्थ का ही बोध होता है , परन्तु व्यक्ति का बोध भी अनुमान या अर्थपत्ति के द्वारा कर लिया जाता है ।

भाट्ट सम्प्रदाय के विरुध्द प्रथमतः आक्षेप किया जाता है कि यदि 'गौ' पद के द्वारा गोत्व जाति का बोध होता है तो गोत्व पदार्थ गोत्वत्व रुप में ही उपस्थित होना चाहिये , क्योंकि निष्प्रकारक बोध तो स्वीकृत नहीं है । इस तरह शाब्दबोध का आकार 'गोत्वविशेष्यक गोत्वत्व कारक होगा, अथवा, 'गो विशेष्यक गोत्व प्रकारक होगा ।

लेकिन भाट्ट इन दोनों ही प्रकार के अनुभव को अस्वीकार करते हैं । उनके 'गो' पद के द्वारा हमेशा ही निष्प्रकारक गोत्व ही पदार्थरूप में उपस्थित होता है, लेकिन व्यवहार में व्यक्तिविषयक ही होता है । गो पद के व्दारा गोत्व जाति ही उपस्थित होती है । परन्तु व्यक्ति विषयक संस्कार उद्बुध्द हो जाने के कारण व्यक्ति का भान भी जाति के साथ हो जाता है--

गोत्वप्रकारक स्मरणे व्यक्तेः विशेष्यतया भानानियमात् , तद्विशेष्यकस्मरणे च व्यक्तिघटित गोत्वत्वाप्रकारतया भानानियमाद, व्यक्त्यघटित प्रकारस्य संभवेऽपि स्वरूपत एवं जाते शक्यतया निर्विकल्पकस्य संस्काराजनकत्वेऽपि विशिष्टज्ञानाहित विशिष्ट गोचर संस्काराव्दिशिष्यानुद्बोधदशायां केवल विशेषांश स्मरणे न विरोध ।

(*शक्तिवाद*, पृ.१८४)

गदाधर उक्त भाट्ट मत का खंडन यह कह कर करते हैं कि

'आनयन कर्मत्व विशेषित गोत्वादेरानयन कर्मत्वादिपु गवादि साधारण्येन व्यभिचारात् सामानाधिकरण्य सम्बन्धेनानयन कर्मत्वादि विशिष्टस्य विशेषणा व्यभिचरितत्वेऽपि साध्यस्य पक्ष सन्देह दशायां साध्यहेत्वोः पक्षे दुर्निश्चयत्वादऽक्षतो व्यक्तेः, शब्दं बोधे विशेष्यविधया भानमावश्यकम् इत्यादि बोधयम ।'

(*शक्तिवाद* पृ.१८५)

इसके अलावा निष्प्रकारक शाब्दबोध भी संभव नहीं है ।

'एवंगौरा नित्यतामित्यादौ स्वरूपत: उपस्थितस्य गोत्वादेरैव विशेष्यतया भानोपगमे निर्गमितावच्छेदक शाब्दधी स्वीकारापत्ते : ।'

-*शक्तिवाद*, पृ. १८५

प्राभाकर मत के अनुसार 'गो' पद गोत्व जाति का ही वाचक है , पर शाब्दबोध के समय गो व्यक्ति का भी बोध होता है । क्योंकि गोत्व जाति का निष्प्रकारक बोध संभव नहीं है । 'गो' पद श्रवण के पश्चात् गोत्व पदार्थ का ही स्मरण होता है पर उसके बाद गोव्यक्ति शाब्दबोध में भासमान होता है । दूसरे शब्दों में , गोत्वप्रकारक शाब्दबोध गो - विशेष्यक हो जाता है । इस तरह जाति और व्यक्ति का बोध एक ही श्रवण से हो जाता है ।

'जातिशक्ति ज्ञानादेव जातिप्रकारेण व्यक्ते: स्मरणं शाब्दबोधश्च, न तु निर्विकल्पकं रूप जातिस्मरणं निर्विकल्पकानभ्युपगमाद् व्यक्ति सम्बन्धज्ञानं विरहेण तदनसानुदबोधकृत्य स्वरूपतो गोत्वादिज्ञानसंभवेन गोत्वाद्युद्बोधकस्यैव व्यक्त्युदबोधकत्वादुद् बोधकस्य फलं बलं कल्प्यत्वात् ।'

शक्तिवाद -पृष्ठ १९०

उदाहरणस्वरूप - 'हस्ति हस्तिरूपक सम्बन्धी' यहाँ पर सम्बन्धितावच्छेदक हस्तित्व है जो हस्तिरूप के साथ बोध का विषय नहीं होता है परन्तु जब हम हस्तिरूप को देखते हैं तो हस्ति का स्मरण हो जाता है जो हस्तित्व प्रकारक रूप में ही बोध का विषय बनता है । इसी तरह पद प्राथमिक रूप से जाति का ही संकेत करता है परवर्ती काल में व्यक्ति का बोध स्वत: हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति ही जाति का अधिष्ठान होता है । अतएव जाति पदार्थ का स्मरण होने से व्यक्ति का संस्कार भी उद्बुध्द हो जाता है ।

प्राभाकर पुन: कहते हैं कि जैसे 'दरवाजा' शब्द सुनने के बाद हम 'बंद करो' अर्थ का अध्याहार स्वत: कर लेते हैं, वैसे ही 'गो' पद से गोत्व पदार्थ का बोध होने से गौ व्यक्ति का बोध भी स्वत: अध्याहार से हो जाता है । इसके लिए पृथक् शब्द की आवश्यकता नहीं होती है ।

गदाधर यहाँ पर आक्षेप करते हैं कि 'शाब्दी हि आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते' इस नियम के व्दारा एक शब्द की आकांक्षा अन्य शब्द के व्दारा ही पूर्ण होती है । उदाहरण के लिए - 'दरवाजा' शब्द सुनने से इसकी आकांक्षा 'बंद करो' इस शब्द श्रवण से पूर्ण होती है सिर्फ अर्थ का अध्याहार करने से नहीं होती है । अतएव यदि पद के व्दारा जाति का बोध हो जाय तो व्यक्ति बोध के लिए अन्य पद की आवश्यकता पड़ेगी । लेकिन ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि एक ही पद के श्रवण के व्दारा जाति और व्यक्ति का बोध हो जाता है । नैयायिक मानते हैं कि पद के व्दारा जातिविशिष्टव्यक्ति का ही बोध होता है ।

मीमांसक जहाँ मानते हैं कि गोत्व 'गो' पद का शक्य है , वहीं नैयायिक शक्यतावच्छेदक मानते हैं तथा 'गो' को ही शक्य मानते हैं । मीमांसक या तो गोत्व का बोध स्वरूपतः मान सकते हैं अथवा गोत्वत्व विशिष्ट गोत्व रूप में मान सकते हैं । नैयायिक दोनों ही विकल्प को अमान्य कर देते हैं ।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि यदि पद के द्वारा जाति का ही बोध होता है तो पशु पद के द्वारा जब पशुत्व विशिष्ट पशु पदार्थ का बोध होता है तो उसमें पशुत्व जातिरूप में स्वीकृत नहीं है । पशुत्व तो सखण्डोपाधि है जिसका अर्थ है --- लोमवत्लांगूलवत् । अर्थात् मीमांसक मानते हैं कि 'पशु' पद पशुत्व के साथ पशु का भी वाचक है क्योंकि वह पशुत्व का आश्रय है । लेकिन 'गो' पद के स्थल में वे गोत्व को ही वाच्य मानते हैं । गो-व्यक्ति का बोध आक्षेपादि के व्दारा लभ्य मानते हैं । इस तरह की असंगति के निवारण के लिए नैयायिक जाति विशिष्ट व्यक्ति का बोध ही पदार्थ रूप में स्वीकार करते हैं ।

मण्डन मिश्र कहते हैं कि पद की शक्ति जाति पदार्थ में ही निहित है, पर व्यक्ति का बोध लक्षणा के व्दारा होता है ।

जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिदविवक्षति
नित्वत्वालक्ष्यमाणाया व्यक्तेशक्तिर्हि विशेषणे।

-- --*शक्तिवाद.*

अर्थात् जाति नित्य होने के कारण अस्तित्व और अनस्तित्ववान् नहीं होती है क्योंकि व्यक्ति ही (लक्षणा के व्दारा) अस्तित्ववान् और अनस्तित्ववान् हो सकता है। यथा 'गाय मृत है' या 'गाय जन्मी है' यहाँ पर जन्म और मृत्यु का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ होता है, जाति के साथ नहीं । जाति नित्य है, जिसका न जन्म है, न मृत्यु है । इसके अतिरिक्त 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति ' इस नियम के अनुसार एक शब्द का उच्चारण यदि एक बार होता है तो उसका एक ही अर्थ - बोध होता है । अन्य अर्थ - बोध के लिए पुनः उसी पद का उच्चारण करना पड़ेगा । उदाहरण के लिये गो शब्द के उच्चारण से एक बार गोत्व जाति का बोध होता है, दूसरी बार उच्चारण करने से गो - व्यक्ति का बोध होता है । अन्यथा लक्षणा के सहारे व्यक्ति का बोध स्वीकार करना पड़ेगा । क्योंकि 'शब्द - बुध्दि कर्मणां विरम्य व्यापाराभाव :' इस नियम के अनुसार शब्द, बुध्दि और कर्म एक बार अपने कार्य को उत्पन्न करके पुनः विरत हो जाते हैं । जैसे, गो पद का मुख्यार्थ गोत्व जाति मानने पर गो - व्यक्ति का बोध गो पद के व्दारा नहीं होगा । उसके लिए लक्षणा स्वीकारनी पड़ेगी ।

नैयायिक पूर्व की तरह इस मत का भी खंडन करते हैं। उनके अनुसार गो पद कभी भी गो - व्यक्ति से विलग होकर गोत्व जाति का बोध नहीं कराता है। इसलिए यह कहना सर्वथा गलत है कि गोत्व ही पद का मुख्यार्थ है। अन्यथा 'गाय' नित्य है ' इस वाक्य को भी प्रामाणिक मानना चाहिये, क्योंकि गोत्व जाति नित्य है। परन्तु यह वाक्य प्रामाणिक नहीं है। अतएव ऐसा कहना ही सही है कि जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही पद की शक्ति निहित है। व्यक्ति और जाति के लिए लक्षणा और शक्ति दो पृथकृ - पृथक् वृत्तियाँ मानने की आवश्यकता नहीं है।

जयन्त भट्ट भी *न्यायमंजरी* ग्रन्थ में मीमांसक मत का खंडन करते हैं। उनके अनुसार पद का लक्षण 'पदं विभक्त्यन्तं' है। अतएव प्रकृति के साथ विभक्ति प्रत्यय युक्त होकर ही पद बनता है। विभक्ति प्रत्यय का अर्थ वचन, कारक, लिंग होता है , जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के साथ होता है , जाति के साथ नहीं।

न जातिः पदास्यार्थो भवितुर्महति । पदं हि विभक्त्यन्तो वर्णसमदुयो न प्रातिपदिकमात्रं । तत्र च प्रकृतिप्रत्ययावितरेतरान्वितमर्थमभिधत्त इति स्थितम्। व्दितीयादिश्च विभक्तिः प्रातिपदिकादुच्चरित प्रातिपदिकार्थ गतत्वेन स्वार्थमाचष्टे। युगपच्च 'तृतीयं विभक्तर्थः कारकं लिंगं। संख्या च, न चैतत् तृतीय प्रातिपदिकार्थे जातावन्वति न जातिः कारकं, न च जाते स्त्रिपुनपुसंक विभागः न चास्या व्दितवादियोग इति।

--*न्यायमंजरी* , खण्ड - २ , पृ.३६

हम यह भी नहीं कह सकते कि व्यक्ति का बोध लक्षणा के व्दारा होता है, क्योंकि तब लिंग वचनादि भी व्यक्ति के साथ परोक्ष रूप से ही सम्बन्धित हो सकेंगें।

व्दितीयतः विशिष्ट ज्ञान के स्थल में प्रकार का ज्ञान पहले होता है। लेकिन प्रकार (जाति) प्रत्यक्ष में जिस सन्निकर्ष की आवश्यकता पड़ती है वह है संयुक्त समवाय, जिसका तात्पर्य है कि जाति प्रत्यक्ष में व्यक्ति का प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष अधिष्ठान रूप में अवश्य ही होता है। जाति का प्रत्यक्ष व्यक्ति के प्रत्यक्ष के बिना नहीं हो सकता है।

प्रत्यक्षे तावद् द्वयोरपि विशेषणविशेष्योरिन्द्रिय विषयत्वं, सामान्येऽपि संयुक्त - समवायादीन्द्रियं प्रवर्तमानं विशेषणवद् विशेष्यमपि विषयीकरोति । न दि सामान्यं प्रत्यक्षं विशेषोऽनुमेय इति व्यवहारः। एवं गुणमात्र ग्राहिणीन्द्रिय गुणिनोऽनुमेयत्वं स्यात्। न चैवमस्तीति तस्माद् विशेष्य पर्यन्तं प्रत्यक्षम्।

-*न्यायमंजरी*, खण्ड-२, पृ.३९

अतएव गो पद के श्रवण से जिस पदार्थ का बोध होता है वह जाति आकृति और व्यक्ति तीनों ही होता है। लेकिन प्रसंगवश कभी व्यक्ति प्रधान होता है, कभी आकृति और कभी जाति। उदाहरण के लिए, 'गौर्न पदा स्पृष्टव्या'

उदाहरण के लिए, 'गौर्न पदा स्पृष्टव्या' यह दृष्टान्त एक सामान्य वाक्य है जो सभी गायों पर लागू होता है। अतएव गोत्व जाति ही यहाँ पर प्रधान अर्थ है। 'गाम् बधान ' स्थल में व्यक्ति ही प्रधान है, जाति और आकृति अप्रधान है। 'पिष्टकमयो गाव: क्रियन्तामिति ' स्थल में गवाकृति ही प्रधान है , जाति और व्यक्ति अप्रधान है।

क्वचित्प्रयोगे जातेः प्राधान्य व्यक्तेरंगभाव:, यथा गौर्न स्पृष्टव्येति सर्वगवीषु प्रतिषेधो गमयते, क्वचिद्व्यक्तेः प्राधान्यं जातेरंगभावः यथा गां मुंच , गाम् बधानेति नियतां क्वचिद् व्यक्तिमुद्देश्य प्रयुज्यते। क्वचिदाकृते प्राधान्यं व्यक्तेरंगभावों जातिरनास्त्येव , यथा पिष्टकमयो गाव: क्रियन्तामिति तत् सन्निवेश चिकिर्षया इति।

-*न्यायमंजरी*, खण्ड -२ , पृ. ४१-४२

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः (२.२.६६) सूत्र में 'तु' शब्द इसी प्रधान और अप्रधान भाव के विशेषणार्थ प्रयुक्त हुआ है। प्रधान अर्थ से अंग(अर्थ) को पृथक् करने के लिए 'तु' शब्द कहा गया है। जहाँ पर व्यक्तिप्रधान है, वहाँ जाति और आकृति अंग रूप से गृहीत है। जहाँ जातिप्रधान है, वहाँ व्यक्ति, आकृति अंग रूप से है।

गदाधर *शक्तिवाद* ग्रंथ में कहते हैं कि -- 'पिष्टकमयो गाव क्रियन्तामिति' स्थल में आकृति विशिष्ट व्यक्ति का ही बोध होता है। जाति का बोध नहीं होता है। लेकिन यदि पदार्थ का अर्थ जाति, आकृति और व्यक्ति तीनों ही होंगे तो 'गो' शब्द के व्दारा सिर्फ आकृति विशिष्ट व्यक्ति का बोध नहीं हो सकता है। और यदि ऐसा हो तो इसके लिए लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा।

यत्र केवलाकृति विशिष्टे गवादिपद तात्पर्य यथा पिष्टकमयो गाव इत्यादौ तत्र शुध्द गोत्वाद्यवच्छिन्नपरे धेन्वादिपद इव लक्षणैव।

--*शक्तिवाद*, पृ. १७२

पिष्टकमयो....दृष्टान्त से गोत्व जाति के अभाव में गवाकृति का भी बोध नहीं हो सकता है, फलस्वरूप हमें आकृतिविशिष्ट व्यक्ति का बोध करने के लिए लक्षणा का ही सहारा लेना पड़ेगा। जैसे - धेनु पद के व्दारा धानकर्मत्व विशिष्ट गौ का बोध होता है, किन्तु यदि हमें सिर्फ गौ का बोध करवाना हो तो लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा।

मुग्धबोध व्याकरण के टीकाकार राम तर्कवागीश कहते हैं कि उपर्युक्त दृष्टान्त में गो पद गाय का बोधक नहीं है, बल्कि 'गाय-सदृश' का बोधक है। अतएव गाय सदृश का बोध करवाने के लिए लक्षणा का ही सहारा लेना पड़ेगा, क्योंकि गो पद का मुख्यार्थ 'गो- सदृश' नहीं है बल्कि गाय है। अतएव 'गो सदृश' का बोध लक्षणा के व्दारा ही होगा।

यहाँ पर यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि हम यहाँ पर नैमित्तिक संज्ञान में अर्थ का विचार कर रहे हैं, औपाधिक और पारिभाषिक संज्ञाओं का नहीं ।पद को वाचक तथा पदार्थ को वाच्य या शक्य कहा जाता है; जो धर्म पदार्थ का अवच्छेदक हो उसे शक्यतावच्छेदक कहा जाता है। शक्यतावच्छेदक को प्रवृत्तिनिमित्त भी कहा जाता है। जैसे 'गो' पद वाचक है गाय का और गोत्व शक्यतावच्छेदक है। आकृति भी शक्य होती है पर गवाकृति शक्यतावच्छेदक नहीं होती है।

जगदीश तर्कालङ्कार के गुरु रामभद्रसार्वभौम आकृति शब्द की व्याख्या अन्य प्रकार से करते हैं। व्युत्पत्तिगत अर्थ के अनुसार 'आक्रियते अनेन' इस करण अर्थ में वह उस सम्बन्ध का वाचक है जो जाति और व्यक्ति के मध्य रहता है। अतएव गो पद गो, गोत्व और समवाय पदार्थ का वाचक हुआ।

सौत्रमाकृतिपदं न संस्थान पदं परन्तु करण-व्युत्पत्त्या आकारनिरूपकार्थकं जातिव्यक्त्योः संसर्गपरमेव , अन्यथा समवायादेरपि सम्बन्ध विधया गवादिपदशक्यत्वेन तदनुक्त्या मुनेर्न्यूनत्वापत्ते':--

शब्दशक्ति प्रकाशिका, पृ. ५८

गदाधर भी इस मत का समर्थन करते हैं--

तद्विशिष्टे शक्तिरित्यस्य तद्धर्म वैशिष्ट्य तदाश्रयेषु त्रिष्वेव शक्तिरित्यर्थः।

-- *शक्तिवाद*, पृ.४०

जिस तरह पुष्पवन्त पद के व्दारा चन्द्र और सूर्य दोनों का ही बोध एक साथ होता है और धेनु पद के व्दारा धानकर्मत्व और गोत्व दोनों का बोध होता है वैसे ही गो पद के व्दारा गो-व्यक्ति गोत्व-जाति और समवाय सम्बन्ध तीनों का ही बोध होता ही है।

नैयायिकों के विरुद्ध जो आपत्ति की गई थी कि व्यक्ति में पद की शक्ति मानने से आनन्त्य और व्यभिचार का दोष होगा, फलस्वरूप अनन्त शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी, उसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि यद्यपि गो पद के व्दारा संकेतित पदार्थ असंख्य हैं फिर भी शक्ति एक ही है, और जिस धर्म के व्दारा असंख्य पदार्थ नियन्त्रित होते हैं वह भी एक है अर्थात् शक्यतावच्छेदक धर्म एक ही है। अतएव आनन्त्य और व्यभिचार का दोष नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए, गो पद की शक्ति सभी गाय पदार्थ में है, उसका शक्यतावच्छेदक धर्म गोत्व है। ईश्वर- संकेत भी एक है, इसलिए अनन्त शक्ति स्वीकारने की आवश्यकता भी नहीं है। इस आधार पर भी जातिविशिष्ट व्यक्ति ही पदार्थ रूप में स्थिर होता है।

दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि इस मत का खंडन करते हैं। उनके अनुसार गो पद के द्वारा जिस पदार्थ का बोध होता है वह गाय व्यक्ति ही होता हैं। गाय शक्य या वाच्य है। शक्यतावच्छेदक गोत्व है पर उसे जाति मानना आवश्यक नहीं है तथा उसे पदार्थ का अंश मानना भी आवश्यक नहीं है। इससे हमें यह सुविधा होगी कि औपाधिक और पारिभाषिक पदों के स्थल में (जहाँ जाति संभव नहीं है) पदार्थ निश्चित किया जा सकेगा। अन्यथा वाचक, पाठक (औपाधिक संज्ञा), आकाश, राम इत्यादि (पारिभाषिक संज्ञा) स्थल में जाति के अभाव में पदार्थ का निश्चित करना कठिन हो जायेगा। जाति को दीधितिकार यद्यपि पदार्थ के अन्तर्गत नहीं मानते हैं, पर उसे शक्यतावच्छेदक मानते हैं, अन्यथा घट पद के व्दारा द्रव्यत्व विशिष्ट घट का बोध होने लगेगा जो घटत्व की अपेक्षा अतिरिक्त वृत्ति है। शक्यतावच्छेदक अन्यूनातिरिक्त धर्म होता है जो कि घट पद के स्थल में घटत्व ही होगा, द्रव्यत्व नहीं। इसलिए शक्यतावच्छेदक स्वीकारना अनिवार्य है।

'व्यक्तिवाची संज्ञा और उनके अर्थ ' इस निबन्ध में प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण की आलोचना के प्रसंग में कहा जा चुका है कि प्रवृतिनिमित्त का जाति होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि वैसा करने से हमारे पदार्थ-बोध का दायरा अत्यन्त संकुचित हो जायेगा। फलस्वरूप हम सिर्फ नैमित्तिक संज्ञा तक ही अपने आप को सीमित रख सकेंगे। ऐसे हजारों पद हैं जिनके व्दारा हमें बिना जाति के भी पदार्थ बोध होता है। अतएव जाति शब्द को सूत्र में एक व्यापक अर्थ में लेना चाहिए।

न्यायसूत्रवृत्तिकार विश्वनाथ भी 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ :' सूत्र में जातिपद का अर्थ - धर्म ही लेते हैं 'जातिपदं धर्मपरो वा'। ऐसा करने से पाचकत्व, पाठकत्व इत्यादि धर्म के व्दारा तथा रामत्व, आकाशत्व इत्यादि धर्म के व्दारा पाचक, पाठक (औपाधिक) तथा राम, आकाश (पारिभाषिक) इत्यादि पदार्थ क्रमशः नियन्त्रित हो जाते हैं-- जिससे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति की संभावना नहीं रहती है।

विवेकानन्द कॉलेज, मधु कपूर
ठाकुरपुकुर, कलकत्ता-७०००६३

ग्रंथ - सूची

१. *न्यायदर्शनम् -* सम्पादित तारानाथ न्यायतर्कतीर्थ और अमरेन्द्र मोहन तर्कतीर्थ मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, प्रा. लि.

२. *न्यायमंजरी -* जयन्त भट्ट (खण्ड-२) ग्रंथि भंग टीका सह (सम्पादित श्री गौरी नाथ शास्त्री) पब्लिशर्स, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

३. *न्याय-सिध्दान्त मुक्तावली-* सम्पादित श्री पंचानन शास्त्री, संस्कृत पुस्तक भंडार, ३८, विधान सरणी कलकत्ता - ६.

४. *पाणिनीय व्याकरण महाभाष्यम्-* निर्णयसागर मुद्रित

५. *वाक्यपदीयम्-* भृर्त्रहरि(ब्रह्मकाण्डम्) श्री सूर्यनारायण शुक्ल व्दारा सम्पादित (चौखम्बा संस्कृत संस्थान प्रकाशित)

६. *शब्दशक्ति प्रकाशिका-* श्री जगदीश तर्कालङ्कार, सम्पादित श्री मधुसूदन भट्टाचार्य, न्यायाचार्य, संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता

७. *शक्तिवाद-* श्री गदाधर भट्टाचार्य-- हरिनाथ तर्कसिध्दान्त भट्टाचार्य टीका सह प्रकाशक जयकृष्ण दास-- हरिदास गुप्त, चौरवम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस विद्या विलास प्रेस गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक, बनारस सिटी

8. *Epistemplogy, Logic and Grammar in the Analysis of Sentence Meaning (Vol. I) - by Dr. V. P. Bhatta. Eastern Book Linkers. 5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar, Delhi - 110007*

दर्शन और सामाजिक परिवर्तन: एक तार्किक दृष्टिकोण

" दर्शन " एक अमूर्त विचार है जबकि 'परिवर्तन' एक ऐसी मूर्त प्रक्रिया है जिसे समाज का प्रत्येक आदमी जान सकता है या महसूस कर सकता है। मगर, हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि अमूर्त अस्तित्त्वहीन होता है। अमूर्त भी उसी रुप में अस्तित्वमान् होता है जिस रुप में मूर्त। 'सत्ता' दोनों का ही सामान्य लक्षण है। इस प्रकार यहाँ कार्य-कारण की एक समस्या निहित है कि क्या "दर्शन" सामाजिक परिवर्तन का कारण हो सकता है ? यदि हां तो कैसे ?

न्याय दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में लें तो "दर्शन" *हेतु* है "समाज" *पक्ष* है, एवं 'परिवर्तन' *साध्य* है, जिसकी सत्ता हमें दर्शन के हेतु से समाज रुपी पक्ष में सिद्ध करनी है। पर, चूंकि इस प्रकार का अनुमान केवल "व्याप्ति" के आधार पर ही हो सकता है, अत: हमारा प्रश्न यह बनता है कि क्या "दर्शन" एवं परिवर्तन में व्याप्ति का सम्बन्ध हो सकता है ?

इस सम्बन्ध का पता लगाने से पहले हमें यह तय करना होगा कि *दर्शन परिवर्तन* एवं *सामाजिक* से हम क्या आशय लें। क्योंकि ये ही वे मूल पद हैं जिनके सम्बन्ध का हमें पता लगाना है, और जब हम उन मौलिक पदों का ही आशय ठीक से नहीं समझते तो उनके बीच में जो संबंध विद्यमान है, उसका पता हम कैसे लगा पायेंगे ?

दर्शन क्या है ? इस प्रश्न का कोई सर्वमान्य उत्तर आज तक नहीं दिया गया। फिर भी भिन्न - भिन्न दार्शनिकों ने इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर दिये हैं। जॉन ड्यूई लिखते हैं: "जब कभी *दर्शन* पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया तो सदा ही यह मान लिया गया कि वह एक ऐसे ज्ञान की प्राप्ति का द्योतक है जो कि जीवन के व्यवहार को प्रभावित करेगा।" दूसरी ओर विण्डलबैंड के मतानुसार "दर्शन सार्वभौम मूल्यों का आलोचनात्मक विज्ञान है।" इस सब में मूर द्वारा दी गई दर्शन की परिभाषा सर्वाधिक व्यापक एवं सन्तोषपूर्ण लगती है जो दर्शन की प्रकृति एवं विषय-क्षेत्र को व्यापक रुप में स्पष्ट करती है। मूर के शब्दों में "समस्त विश्व का एक सामान्य विवरण देना ही दर्शन की प्रमुख समस्या है।" अत: इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दर्शन एक विश्वदृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा हम वस्तुजगत् की स्थिति को समझ सकते हैं।

दर्शन एक व्यष्टिगत (Micro) विज्ञान न होकर समष्टिगत **(Macro)** विज्ञान है जो इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् एवं इससे परे भी जाकर इस जगत् को इसकी सम्पूर्णता (Totality) में समझने का प्रयास करता है। दर्शन को सम्पूर्ण शास्त्रों की जननी भी कहा गया है जो शत-प्रतिशत सही भी है। परन्तु दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिकों या दार्शनिक सम्प्रदायों ने इन समान दार्शनिक समस्याओं के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं। परिणामस्वरुप आज तक दर्शन में किसी सर्वमान्य प्रस्थापना को प्रतिपादित नहीं किया गया। इसी प्रक्रिया में दर्शन स्वरुप अपने आप को प्रकट करता हुआ सा प्रतीत होता है। क्योंकि यह प्रश्न किया जा सकता है कि आखिर इसका कारण क्या है कि एक ही समस्या के दो विरोधी उत्तर दिये गये ? इसका सन्तोषपूर्ण उत्तर डॉ. रामनाथ शर्मा देते हैं। उनके मतानुसार, ''दर्शन कुछ विशिष्ट समस्याओं को विशिष्ट दृष्टिकोण और विशिष्ट विधियों से हल करने की प्रक्रिया है, जिससे निष्कर्षों और परिणामों पर पहुँचा जाता है।''

''दर्शन'' शब्द का यही अर्थ इस निबन्ध में लिया गया है। 'दर्शन' को इस प्रकार परिभाषित करने के बाद हमें *परिवर्तन* शब्द पर ध्यान देना चाहिए। इस शब्द को किस प्रकार परिभाषित किया जाए जिससे कि यह अपने समानार्थक शब्दों, जैसे--प्रगति एवं विकास--से भिन्नता रख सके ? इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि प्रत्येक प्रकार की प्रगति एवं प्रत्येक प्रकार का विकास एक परिवर्तन भी है, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक का परिवर्तन प्रगति या विकास माना जायेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परिवर्तन शब्द ज्यादा मौलिक है। लेकिन जब हम परिवर्तन शब्द पर विचार करते हैं तो उसमें ''काल'' का विचार आवश्यक रूप से सम्मिलित ही नहीं जा सकती। इसी प्रकार इसमें 'सम्बन्ध' का सम्प्रत्यय भी सम्मिलित हो जाता है, क्योंकि 'परिवर्तन' को तब तक परिभाषित नहीं किया जाता जब तक इस प्रश्न का समाधान नहीं प्रस्तुत किया जाता कि काल ''अ'' में अस्तित्त्वमान् वस्तुस्थिति एवं काल ''ब'' में अस्तित्त्वमान् वस्तुस्थिति में किस प्रकार का सम्बन्ध है ? यह सम्बन्ध भेद का है या अभेद का ? यदि उन दोनों में अभेद का सम्बन्ध है तो हम उसे परिवर्तन नहीं कहेंगे। ''परिवर्तन'' केवल उसी स्थिति में माना जायेगा जब उन दोनों मे भेद का सम्बन्ध हो। फिर उन दोनों स्थितियों में एक तारतम्य भी होना चाहिए अन्यथा हम यह कैसे कह सकते हैं कि परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई स्थायी वस्तु विद्यमान है जिसकी पूर्व एवं अपर **(Former and Later)** स्थितियां भिन्न भिन्न हैं। निष्कर्षत: पूर्वापर स्थितियों में भेद का सम्बन्ध ही ''परिवर्तन'' कहलाता है।

''परिवर्तन'' शब्द के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर सामाजिक परिवर्तन को आसानी से समझा जा सकता है। समाज का स्वरुप समय के प्रवाह में जब धीरे धीरे उसके पहले वाले स्वरुप से भिन्न हो जाता है तो हम कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।

पर समाज का स्वरूप कैसे निर्धारीत किया जाए ? समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों, आचार-विचारों,रहन-सहन, मान्य सामाजिक मानकों, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक मूल्यों तथा प्रचलित आर्थिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों का कुल योग ही उस समाज का स्वरूप निर्धारित करता है ।

किसी समाज का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज के व्यक्ति किन "मूल्यों" में विश्वास करते हैं । किसी विशिष्ट समाज को किसी दूसरे विशिष्ट समाज से इसी आधार पर भिन्न माना जा सकता है, अन्यथा दो समाजों में भेद करना असम्भव हो जायेगा । यहाँ "मूल्यों" से हमारा आशय उस समाज के सभी व्यक्तियों व्दारा स्वीकृत कुछ ऐसी मान्यताओं से है जिन पर उस समाज का सम्पूर्ण क्रिया-कलाप निर्भर करता है, क्योंकि कुछ विचारों को सत्य स्वीकार किये बिना "कर्म" सम्भव ही नहीं है । विलियम जेम्स ने कहा है कि "यदि हमें यह विश्वास न हो कि पृथ्वी की सतह, जिस पर मैं चल रहा हूँ, कठोर है तो मैं अपना अगला कदम नहीं बढाऊंगा ।"

मानव का *"सोच"* ही उसे एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करता है जिसके व्दारा वह अपना स्वयं का एवं अपने सामाजिक पर्यावरण का निर्माण करता है । कुछ मनुष्य जब किसी विशिष्ट सामाजिक पर्यावरण में रहना शुरू कर देते हैं, तो एक विशिष्ट "मानव समाज" का उदय होता है जो किसी दूसरे विशिष्ट "मानव समाज" से अवश्य ही भिन्न होगा, क्योंकि यदि उनके सामाजिक पर्यावरण में भिन्नता नहीं होगी तो वे दो विशिष्ट समाज न होकर एक ही समाज कहा जायेगा ।

किसी समाज का असली रूप उसकी "सभ्यता" एवं "संस्कृति" में प्रकट होता है । "सभ्यता" समाज का बाह्य एवं "संस्कृति" आन्तरिक पक्ष है। यह भी कहा जा सकता है कि "सभ्यता" समाज का भौतिक एवं "संस्कृति" उसका आध्यात्मिक पहलू है । जैसा कि *मार्क्स* ने कहा है कि समाज का एक "आधार" होता है एवं एक उसका "उपरी ढांचा"। उसका "उपरी ढांचा" उसके "आधार" पर निर्भर करता है । अर्थात्, यदि "आधार" बदलता है तो "उपरी ढांचा" भी बदल जाता है। "आधार" से मार्क्स का आशय "उत्पादन - सम्बन्धों की समग्रता" से है एवं ऊपरी ढांचे से उनका आशय "दार्शनिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक , धार्मिक , राजनीतिक एवं विधिक विचारों और तदनरूप विचारधारात्मक सम्बन्धों से है । मार्क्स ने "भौतिकता" अर्थात् आर्थिक सम्बन्धों को समाज का "आधार" माना है जिस पर सम्पूर्ण "सामाजिक चेतना" निर्भर करती है। मार्क्स के इस कथन का कि "Being determines Consciousness" यह आशय लिया जा सकता है कि " सामाजिक स्थिति सामाजिक चेतना" को निर्धारित करती है । दूसरे शब्दों में, इसको यों भी कहा जा सकता है कि समाज का आध्यात्मिक जीवन उसके भौतिक जीवन पर निर्भर करता है ।

अब, यदि समाज को एक व्यक्ति के रूप में माना जाए, जो अपना एक जीवन जीता है, तो ''संस्कृति'' को उसका आध्यात्मिक जीवन एवं ''सभ्यता'' को उसका भौतिक जीवन कहा जायेगा। मार्क्स की पारिभाषिक शब्दावली में कहा जाए तो उनके मतानुसार ''सभ्यता'' समाज का वह आधार है जिस पर उसका संस्कृति रूपी ''ऊपरी ढांचा'' खड़ा होता है, क्योंकि मार्क्स आध्यात्मिक को भौतिक पर निर्भर मानते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के मतानुसार ''संस्कृति'' ''सभ्यता'' पर निर्भर है और उन्होंने दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक एवं राजनीतिक सम्पूर्ण ''चेतना'' को संस्कृति के ही अन्तर्गत माना है।

अब, यदि मार्क्स की इस भौतिकवादी व्याख्या को मान लिया जाए तो ''दर्शन'' के व्दारा ''सामाजिक परिवर्तन'' सम्भव नहीं है, क्योंकि दार्शनिक विचार ही सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता है , फिर वह सामाजिक स्थिति को कैसे बदल सकता है, क्योंकि ''परतन्त्र'' ''स्वतंत्र'' में परिवर्तन नहीं कर सकता। मगर मार्क्स ने इस आलोचना से बचने का एक उपमार्ग निकाला और कहा कि समाज का ऊपरी ढांचा उसके आधार पर निर्भर रहते हुए भी अपनी ओर से उसके आधार पर प्रभाव डालता है। समाज के जीवन में विचार, राज्य, राजनीतिक पार्टियां और ऊपरी ढांचे से सम्बन्धित अन्य परिघटनाएं विशाल भूमिका अदा करती हैं। क्रान्तिकारी सिध्दान्त और इन सिध्दान्तों से मार्ग- दर्शित राजनीतिक पार्टियां ऐतिहासिक प्रगति को तेज कर देती हैं।

सामाजिक परिवर्तन समाज शास्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विभाग है। सामाजिक जीवन में समाज के स्वरूप, उसकी संरचना, उसकी व्यवस्था, उसके संगठन, उसके मूल्यों एवं संस्थाओं में सतत परिवर्तन की प्रक्रिया चालू है। आज से ही नहीं, अनादिकाल से। यह बात दूसरी है कि कभी इसकी गति धीमी रहती है, कभी तीव्र। कहीं किसी समाज में सामाजिक परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है, कहीं वह दिखाई नहीं पड़ता।

''परिवर्तन'' तो एक शाश्वत तत्त्व है। उसका चक्र अविराम गति से चलता रहता है। उसके फलस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों में, सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन होता चलता है। गतिशील समाज में कोई भी सामाजिक संगठन स्थिर एवं स्थायी नहीं रह सकता।

गिलिन और गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा करते हुए लिखा है कि ''जीवन की स्वीकृत पद्धतियों में परिवर्तन का नाम ही सामाजिक परिवर्तन है। यह बात दूसरी है कि ये परिवर्तन भौगोलिक स्थिति में परिवर्तन के कारण हुए हैं कि सांस्कृतिक कारणों से, जनसंख्या की रचना या उसके सिद्धान्तों में परिवर्तन के कारण हुए है, अथवा समूह के अन्तर्गत ही आविष्कार या विस्तार के कारण हुए हैं। डेविस ने सामाजिक परिवर्तन में केवल उन्ही परिवर्तनों को माना है, जो सामाजिक संगठन अथवा समाज की संरचना तथा उसके प्रकार्यों में घटित होते हैं।

मेकाइवर एवं पेज ने कहा है कि, "हमारा सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों मात्र से है, अतः हम केवल सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन मानेंगे। "जेंसन कहते हैं कि, "लोगों के कार्य करने की तथा विचार करने की पध्दतियों में होने वाले परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन हैं।" "मैरिल एवं एलड्रेज ने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा इस प्रकार की है, " ठोस अर्थ में कहें तो सामाजिक परिवर्तन का अर्थ यह है कि अधिकांश व्यक्ति ऐसे कार्य कर रहे हैं जो उनके निकट के पूर्वजों के कार्यो से भिन्न हैं। समाज कुछ प्रतिमानित मानवीय सम्बन्धों का एक ऐसा विशाल तथा जटिल जाल है जिसमें सभी मनुष्य फंसे हुए हैं। जब मानव-व्यवहार में रूपान्तरण की प्रक्रिया चालू हो जाती है तो हम कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।

सामाजिक परिवर्तन की इन परिभाषाओं से इतना ही स्पष्ट होता है कि जब व्यक्तियों एवं समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों, पदों, कार्यों तथा सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में कुछ परिवर्तन होता है, तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।

सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारक हो सकते हैं। परन्तु हमें केवल इस प्रश्न पर ही विचार करना है कि दर्शन सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करता है या नहीं ? यदि "हां" तो किस प्रकार ?

हम उपर्युक्त प्रश्न का सकारात्मक उत्तर ही देंगे, क्योंकि कोई भी विचारशील मानव इस तथ्य को नकार नहीं सकता कि "विचार" में एक प्रकार की अमूर्त शक्ति होती है जो सामाजिक परिवर्तन में उतनी ही भूमिका अदा करती है जितनी की मूर्त शक्तियाँ इतिहास इस बात का साक्षी है कि नवीन विचारधाराओं का आविर्भाव ही समस्त सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्तियों का मुख्य कारण रहा है। और चूँकि ये ही सामाजिक परिवर्तन जब तीव्र हो जाते हैं तो इनका नाम क्रान्ति पड़ जाता है अर्थात् सामाजिक क्रान्ति भी एक रूप में सामाजिक परिवर्तन ही है। समाजवादी क्रान्ति की पृष्ठभूमि में सदियों से चला आ रहा समाजवादी चिन्तन ही है। मार्क्स ने एक नई विचारधारा को जन्म दिया जिसके आधार पर लेनिन ने साम्यवादी क्रान्ति का सूत्रपात किया जिसके फलस्वरूप सोवियत संघ के समाज का ढांचा बदल गया।

उपर्युक्त सभी, इतिहास में पाये जाने वाले कुछ ऐसे प्रमाण हैं जो इस बार को प्रमाणित करते हैं "दर्शन" सामाजिक परिवर्तन में मुख्य भूमिका अदा करता है। यहां पर सम्पूर्ण मानव-सभ्यता के इतिहास का विश्लेषण तो उससे और ऐसे अनेक तथ्य मिल जायेंगे कि किस प्रकार एक नवीन विचार - धारा के आविर्भाव के साथ ही सामाजिक क्रिया-कलापों का प्रचलित ताना - बाना बिखरने लगता है और फिर नये सिरे से किसी युगान्तकारी "विचार" के आधार पर नवीन सामाजिक ताना - बाना बन जाता है।

वर्तमान युग में सामाजिक सुधार एवं सामाजिक पुनर्निर्माण के बहुत से आन्दोलन चले हैं। इनके इतिहास के अध्ययन से हमें पता चलता है कि इन आन्दोलनों का सूत्रपात तब हुआ जब समाज बिकट सामाजिक समस्याओं से ग्रसित हो गया। हमें यह भी पता चलता है कि सामाजिक सुधार एवं सामाजिक पुनर्निर्माण का सामाजिक परिवर्तन से गहन सम्बन्ध है। इस बात को हम इस तर्क से सिध्द कर सकते हैं -- चूँकि सामाजिक समस्या समाज की एक अवांछित दशा का नाम है, अत: इस अवांछित दशा में परिवर्तन ला के ही सामाजिक सुधार का सूत्रपात किया जा सकता है। अर्थात् अवांछित सामाजिक दशा को बदले बिना सामाजिक सुधार या सामाजिक पुनर्निर्माण नहीं किया जा सकता। इससे यह सिध्द होता है कि सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए भी सामाजिक परिवर्तन अत्यावश्यक है। और यह हम पहले ही बता चुके हैं कि दर्शन सामाजिक परिवर्तन में मुख्य भूमिका अदा करता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक समस्याओं के समाधान में भी दर्शन की उपादेयता सिध्द होती है।

"सामाजिक संरचना" पर "सामाजिक नियन्त्रण" का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि किसी समाज की संरचना इस बात पर निर्भर करती है कि उसके नियामक तत्त्व क्या हैं। सर्वमान्य सामाजिक मूल्य एवं आदर्श ही वे नियामक तत्त्व हैं जिनके आधार पर सम्पूर्ण "सामाजिक व्यवहार" चलता है।

अब, हमें यह देखना है कि किस प्रकार इन सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों के परिवर्तन से सामाजिक संरचना में परिवर्तन आ जाता है ? अर्थात् सामाजिक नियामकों (Social Norms)के परिवर्तन से सामाजिक संरचना किस प्रकार बदल जाती है ?

नैतिक मान्यताओं, नियमों तथा आदर्शों में देश-काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। अत: देश एवं काल के साथ समाज की संरचना भी बदलती रहती है। उदाहरण के लिए यह एक तथ्य है कि विवाह से पूर्व सन्तानोत्पत्ति भारत में अनुचित माना जाता है, परन्तु आइसलैण्ड में इसको बहुत अच्छा माना जाता है और पास पड़ोस के लोग बधाइयां देने आते हैं। हमारे ही देश में १७ वी शताब्दी तक "सती प्रथा" को उचित माना जाता था, मगर राजाराम मोहन राय की विचारधारा के आविर्भाव के साथ इस प्रथा को अनुचित माना जाने लगा।

इसके साथ ही हमें यह भी देखना है कि किसी दार्शनिक के तत्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त उसके नीतिमीमांसीय सिद्धान्तों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, जो कि कालान्तर में सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए भौतिक वादियों तथा आध्यात्म वादियों के नैतिक मान दण्डों एवं आदर्शों

में मौलिक भिन्नता है । भौतिकवादी जड़ पदार्थ को ही विश्व की परम सत्ता मानते हैं और ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते । अपने इसी कारण वे "सुख" को ही मानव - जीवन का अन्तिम ध्येय मानते हैं । इसके विपरीत अध्यात्मवादियों के मतानुसार आध्यात्मिक उन्नति ही सर्वोच्च शुभ है । क्योंकि उनके मतानुसार विश्व की परम सत्ता आध्यात्मिक है और वे ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्त्वमीमांसीय सिध्दान्त नीतिमीमांसीय सिध्दान्तों को स्पष्ट रूप से प्रभावित करते हैं तथा नीतिमीमांसीय सिध्दान्तों का सामाजिक संरचना पर गहरा प्रभाव पड़ता है । इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से तत्त्वमीमांसीय सिध्दान्त भी सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हैं ।

मानवीय चिन्तन की अनेक धाराएँ हैं । सामाजिक पुनर्निर्माण एवं सामाजिक प्रगति में सामाजिक चिन्तन मुख्य भूमिका अदा करता है । सामाजिक सुधार एवं नव जागरण के लिए भी प्रचलित विचारधारा से भिन्न एक नवीन विचारधारा का आविर्भाव अत्यावश्यक है । हम यह पहले ही सिध्द कर चुके हैं कि सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति एवं सामाजिक पुनर्निर्माण एक प्रकार का ऊर्ध्वगामी सामाजिक परिवर्तन ही है ।

संक्षेप में, दार्शनिक वह होता है जो एक विश्व-दृष्टिकोण (Weltanshauung) प्रस्तुत करता है । दार्शनिक युग-द्रष्टा एवं युग स्रष्टा दोनों ही होता है । वह सम्पूर्ण मानव समाज को एक नई दिशा देता है । अत: स्पष्ट है कि "दर्शन" एवं "सामाजिक परिवर्तन" का एक अटूट सम्बन्ध है ।

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर - ३०२००४
राजस्थान

राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
और
घनश्याम शर्मा

भरतमुनि का *नाट्यशास्त्र* - सौदर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में

भरतमुनि प्रणीत *नाट्यशास्त्र* भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है । विषय की व्यापकता की दृष्टि से यह अतीव महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कला एवं साहित्य के महत्त्वपूर्ण पक्षों की गम्भीर विवेचना की गई है । यह भी एक विडम्बना है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता के जीवन, व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ उपलब्ध नहीं है । संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों में भरत एक मुनि के रूप में प्रतिष्ठित हैं ।[१] नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है । सामान्यतः इसका रचनाकाल विक्रमपूर्व द्वितीय शती से लेकर द्वितीय शती विक्रम तक स्वीकार किया जाता है ।[२] इसमें छः हजार के लगभग श्लोक हैं जो कि अनष्टुप् छन्द में निबध्द हैं । इस समय नाट्यशास्त्र के दो प्रकार के संस्करण उपलब्ध हैं-- ३६ अध्यायवाला संस्करण जो कि चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, वाराणसी से प्रकाशित है तथा ३७ अध्यायवाला संस्करण जो कि काव्यमाला सिरीज़ में प्रकाशित हुआ है । विषय की दृष्टि से इनमें अधिक विभिन्नता नहीं है ।

ललित कलाओं के काव्य को उत्कृष्ट कला के रूप में स्वीकार किया जाता है तथा काव्य का भी श्रेष्ठतम रूप नाटक है । अतएव भारतवर्ष में विभिन्न कलाओं की समस्याओं का अध्ययन संगीत, स्थापत्य या चित्रकला के सन्दर्भ में न करके नाटचकला के प्रसंग में किया जाता रहा है । यहाँ संगीत और नृत्यकला नाट्यकला की सहयोगिनी हैं । *नाटचशास्त्र* के अन्तगर्त कला-जगत् की समस्त समस्याओं, अंगों को लेने का प्रयत्न किया गया है । डॉ. निर्मला जैन के अनुसार *नाटचशास्त्र* के अन्तर्गत भरत ने नाटच के ब्याज से नृत्य, संगीत, मण्डप-रचना चित्र आदि कलाओं की जैसी विस्तृत चर्चा की है, उससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि भरतमुनि ने सम्पूर्ण कलाओं के सन्दर्भ में रस- निरूपण किया है । सारांश यह है कि भरत-निरूपित रस एक व्यापक सौन्दर्य - शास्त्रीय अवधारणा है ।[३] वस्तुतः भरत के लिये ''नाटच'' शब्द अत्यन्त व्यापक है जिसमें सभी प्रकार का ज्ञान , शिल्प , विद्या एवं कला समाहित हैं ---

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
शिल्प, योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥[४]

डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित ने नाट्यशास्त्र को भारतीय कलाओं का विशालकोष माना है ।[५] नाट्यशास्त्र के विवेच्य विषय हैं -------(१) रस, (२) भाव,

३) अभिनव, (४)धर्मी, (५)वृत्ति, (६) प्रवृत्ति, (७) सिद्धि, (८) स्वर, (९) आतोद्य, (१०) गान, (११) रंग। [६] सौन्दर्य शास्त्र के अन्तर्गत भी रस, भाव कलाओं की प्रेरणा, प्रयोजन, लक्ष्य मूलाधार आदि की विवेचना की जाती है। वस्तुत: आचार्य भरत के नाट्यकला सम्बन्धी विचार सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण हैं जिन पर यहां संक्षेप में उपशीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया जाता है।

(क) कला की उत्पत्ति:-

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय की ग्यारहवीं कारिका में नाट्यकला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा दी गई है। इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि हम कोई "क्रीडनीयक" चाहते हैं जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी । [७] यहां "क्रीडनीयक" शब्द ध्यातव्य है। अभिनवगुप्त के अनुसार जिसके व्दारा चित्त को बहलाया जा सके या चित्त का मनोरंजन किया जा सके या जो चित्त विनोद के लिये हितकारी हो, क्रीडनीपक है। [८] आचार्य हजारी प्रसाद व्दिवेदी जी ने "क्रीडनीयक" का पर्याय खेल माना है, [९] जो यहां उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार आचार्य भरत ने नाटक को समस्त कलाओं का प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर उसे एक प्रकार की क्रीडा ही माना है। यहां ध्यातव्य है कि पश्चिम में भी हटबर्ट स्पेन्सर ,शिलर आदि विव्दानों ने कला के मूल में मनुष्य की क्रीडा-वृत्ति को स्वीकार किया है। [१०] ललित कलाओं के मूल में उपयोंगिता की भावना न होकर मनोरंजन एवं आनन्द की भावना होती है। क्रीड़ा का लक्ष्य भी आनन्द होता है। इस प्रकार भरत ने क्रीड़ा-वृत्ति को कला की उत्पत्ति का कारण माना है , जो उपयुक्त है।

ख) कला का कार्य : लोकधर्म की प्रतिष्ठा :-

आचार्य भरत कला का मुख्य कार्य लोकधर्म की प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। *नाट्यशास्त्र* में वर्णित एक प्रसंग के अनुसार जब लोग ग्राम्यधर्म अर्थात् असभ्य एवं शास्त्र - विपरीत आचरण में प्रवृत्त हो गये , काम लोभादि में फंस गये, ईर्ष्या, क्रोध आदि से अभिभूत हो गये तो ऐसी स्थिति में ब्रह्मा से नाट्यकला के लिये प्रार्थना की गई। [११] इस प्रकार वे कला का उद्देश्य लौकिक दृष्टि से जनसाधारण को सुसभ्य एवं शास्त्रानुकूल आचरण की ओर उन्मुख करने तथा उन्हें काम , लोभ , ईर्ष्या-व्देष आदि तुच्छ भावनाओं से मुक्त करवाने का स्वीकार करते हैं। वे अन्यत्र भी कहते हैं कि जो शास्त्र, धर्म, शिल्प और जो क्रियाएं लोकधर्म प्रवृत्त हैं, वे ही नाट्य कहलाती हैं--

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि या: क्रिया: ।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्त्तितम् ॥ [१२]

इस प्रकार वे कलाओं का मुख्य कार्य लोकधर्म की प्रतिष्ठा करना स्वीकार करते हैं। सौन्दर्य - शास्त्र के चिन्तकों का एक वर्ग जिनमें प्लेटो, अरस्तू, प्लोटिनस, टाल्सटाय, रस्किन और काण्ट प्रभृति विद्वानों का नाम प्रमुख है, कला का मुख्य कार्य लोकहित स्वीकार करता है। टाल्सटाय का विचार है कि किसी भी कलाकृति के निर्माण का उद्देश्य लोक में धर्मबुद्धि का अधिष्ठान करना या नैतिक अभ्युत्थान की भावना की स्थापना करना होना चाहिये। [१३] इस प्रकार भरत भी कला का मुख्य कार्य सामाजिक हित स्वीकार करके कला को अत्यन्त उच्च धरातल पर अवस्थित कर देते हैं।

ग) कला का क्षेत्र:-

भरतमुनि कला के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक मानते हैं। उनके विचारानुसार कला में केवल सत्पात्रों को ही चित्रित नहीं किया जाता अपितु दुश्चरित्र पात्रों को भी चित्रित किया जा सकता है। वे कहतें हैं कि मैंने केवल दानवों तथा देवताओं के ही चरित्र - प्रकाशन हेतु नाट्य - रचना नहीं की है, अपितु इस समस्त त्रिभुवन के भावों के दिग्दर्शन हेतु नाट्य रचना की है। [१४] साथ ही वे सभी प्रकार के सत् एवं असत् कर्मों के प्रकाशक विभिन्न भावों का चित्रण कला में आवश्यक मानते हैं। [१५] जो कि कला के आदर्शवाद एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण में समन्वय का प्रतीक है। वे कला का क्षेत्र अतीव व्यापक कर देते हैं जिसमें सभी प्रकार के भावों, अवस्थाओं, चरित्रों को चित्रित किया जा सकता है।

घ) कला का लक्ष्य एवं प्रयोजन---

सौन्दर्यशास्त्र में कला के प्रयोजन को लेकर विव्दानों के दो वर्ग हैं -- पहला वर्ग कला का लक्ष्य केवल मनोरंजन करना स्वीकार करता है जबकि दूसरे वर्ग के विव्दानों के अनुसार कला के लिये उपयोगी होना अनिवार्य है। आचार्य भरतमुनि ने इन दोनों मतों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि नाटक के प्रयोजन हैं-- दुःख से व्याकुल, श्रम से क्लान्त एवं शोक पीड़ित दीन - दुःखीजनों को विश्रान्ति प्रदान करना, सज्जनों एवं धार्मिक व्यक्तियों की धार्मिक रुचि को तुष्ट करना, असज्जन को या दुष्टों को सच्चरित्रता की शिक्षा देना, अज्ञानियों के ज्ञान में अभिवृध्दि करना, क्रोध एवं कायर व्यक्तियों में पौरुष, बल एवं साहस का संचार करना, शूरवीरों के उत्साह में अभिवृध्दि करना, धनवानों के विलास में वृध्दि करना, पीड़ितों को धैर्य प्रदान करना -- आदि। [१६] इस प्रकार वे नाटक या कला को सभी प्रकार की सांसारिक समस्याओं का समाधान एवं अभावों की पूर्ति के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। साथ ही उन्होंने रस या कलाजन्य आनन्द को भी कला का वह गुण स्वीकार किया है जिससे सामाजिक उसमें प्रवृत्त होता है। [१७] इस प्रकार वे कला के प्रति लोकरंजनवादी एवं लोकमंगलवादी---दोनों दृष्टिकोणों के समर्थक प्रतीत होते हैं। उनके विचारानुसार कला का मूल प्रयोजन तो आनन्द

तो आनन्द है पर साथ ही उसे लोकमंगलकारी भी होना चाहिये।

कला और रस - सिद्धान्त --

आचार्य भरतमुनि ने "रस" पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। उन्होंने "रस" को नाटक का सर्वोपरि एवं सर्वप्रमुख तत्त्व स्वीकार करते हुए उसे ही कला का साध्य स्वीकार किया है। उन्होंने रस - निष्पत्ति की प्रक्रिया को अतीव गम्भीरतापूर्वक विवेचित किया है। इस निबन्ध में हमारे अध्ययन की परिधि सीमित है, अतएव संक्षेप में कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र का सर्वप्रमुख विवेच्य तत्त्व रस है तथा रस का सम्बन्ध संवेदनाओं एवं भावानुभूतियों से है। रस का सम्बन्ध केवल एक ही कला - काव्यकला- से ही नहीं है। वह सभी कलाओं का आधार बन सकता है या यों कहिये कि उसे विकसित करके बनाया जा सकता है। इस प्रकार रस-सिध्दान्त जैसे महत्त्वपूर्ण सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्त की भारत में स्थापना का श्रेय भरतमुनि को दिया जा सकता है।[१८]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का प्रारम्भिक स्वरूप भरत के नाटचशास्त्र में देखा जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग नाटक है जिसमें प्राय: समस्त ललित कलाओं का किसी न किसी रूप में उपयोग हो जाता है। नाट्यशास्त्र में सभी कलाओं के अंत:सम्बन्ध पर भी विचार किया गया है। इतना अवश्य है कि सौन्दर्यशास्त्र में सभी ललित कलाओं पर विचार किया जाता है, जबकि *नाटचशास्त्र* में मुख्यत: नाट्यकला पर विचार किया गया है। यहां संगीतकला, काव्यकला, चित्रकला एवं स्थापत्य कला पर गौण रूप में विचार किया गया है। *नाटचशास्त्र* में इन कलाओं की व्यावहारिक विधियों का भी निर्देश है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र किसी प्रकार की व्यावहारिता से सम्बद्ध नहीं है। फिर भी *नाट्यशास्त्र* के कुछ सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में अतीव उपादेय एवं सहायक हो सकते हैं। अन्त में हम डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त के शब्दों में कह सकते हैं कि भरतमनि का *नाटचशास्त्र* विषय-वस्तु की व्यापकता एवं विवेचन की गम्भीरता की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि उसका नाम नाटचशास्त्र के स्थान पर सौन्दर्यशास्त्र भी रख दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा।[१९]

चन्द्रकला माटा

हिन्दी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र - १३२११९
(हरियाना)

टिप्पणियाँ

1. :-प्रधान सम्पादक--डॉ. नगेन्द्र -- हिन्दी अभिनव भारती-- व्दितीय संस्करण--पृष्ठ-

2:-S.K.DE--*Sanskrit Poetics*, Vol 1, end edition, p-18

3:- डॉ. निर्मला जैन -- *रस सिध्दान्त और सौन्दर्यशास्त्र*-- प्रथम संस्करण -- पृष्ठ २२

4:- प्र.सं डॉ. नगेन्द्र -- *हिन्दी अभिनव भारती*-- व्दितीय संस्करण-- 1-116

5:- डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित-- *भरत और भारतीय नाटचकला*-- प्र.सं.पृष्ठ 25

6:- *हजारी प्रसाद व्दिवेदी ग्रन्थावली*-- भाग 7 --पृष्ठ 320

8:- वहीं--पृष्ठ 67

9:- *आचार्य हजारी प्रसाद व्दिवेदी ग्रन्थावली*-- भाग 7, पृष्ठ 313

10:-"The play impluse which constitutes beauty and art...."-- (Schiller).
In the book *A History of Esthetics* by Gilbert and Kuhn, p-366

11:- प्र. स.-- डॉ.नगेन्द्र -- *हिन्दी अभिनवभारती*-- संस्करण व्दितीय पृष्ठ 66

12:- *हजारी प्रसाद व्दिवेदी ग्रन्थावली*-- भाग7, पृष्ठ 329

13:- वाचस्पति गैरोला ; *भारतीय चित्रकला*, प्रथम संस्करण , पृ . 28

14:प्र. सं. डॉ. नगेन्द्र-- *हिन्दी अभिनवभारती*-- व्दितीय संस्करण--कारिका-- -1-106

15:- वहीं--1--106

16:- प्र. सं. डॉ. नगेन्द्र-- *हिन्दी अभिनवभारती* 110-114

17:- डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित-- *भरत और भारतीय नाटचकला*-- प्रथम संस्करण, पृष्ठ 230

18:- डॉ. कुमार विमल -- *सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व*-- व्दितीय संस्करण - पृष्ठ 27-29

19: डॉ. गणपति चंद्रगुप्त -- *रस सिध्दान्त का पुनर्विवेचन* --पृष्ठ 3

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) **Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-**

S.V. Bokil (Tran) **Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-**

A.P. Rao, **Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-**

Ramchandra Gandhi (ed) **Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-**

S.S. Barlingay, **Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-**

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) **The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-**

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) **Studies in Jainism, Rs.50/-**

R. Sundara Rajan, **Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-**

S.S.Barlingay (ed), **A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980) , Part I, Rs.50/-**

R.K.Gupta, **Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-**

Vidyut Aklujkar, **Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-**

Rajendra Prasad , **Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-**

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

योगाचार विज्ञानवाद:एक ऐतिहासिक पुनरावलोकन

छठी शती ई. पू. सारे विश्व में बौध्दिक उन्मेष का युग था। इस युग में महान् साहित्य का सृजन हआ, कलात्मक प्रगति और वैज्ञानिक अनुसन्धानों के साथ राजनीति के नये आयाम भी मुखरित हुए और अनेक महान् दार्शनिक आन्दोलनों ने अपना निश्चित रूपाकार पाया। चीन में कन्फ्युशियस् यूनान में पाइथागोरस और भारत में महावीर और बुद्ध का अवतरण इसी युग की विशेषाताएँ थीं।

एंगेल्स ने भी कहा है कि -"महान् ऐतिहासिक मोड़ों के साथ-साथ धार्मिक परिवर्तनों का आना अब तक केवल जारी रहे तीन विश्व धर्मों के साथ ही सत्य सिध्द हुआ है-- बुद्ध धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म"। [१]

काल के अवरोधों के मध्य अपनी प्रवहमानता के लिए सरणियाँ काटनेवाली और फिर विस्मृति की धुंध के बीच अपना प्रवाह जारी रखनेवाली प्रत्येक विचारधारा को अनेक खण्डों, उपखण्डों में विभक्त होना ही पड़ता है। बुद्ध के जीवनकाल में ही उनके अनुयायियों में मतभेदजन्य उभार सुगबुगाने लगे थे। "आत्म दीपोभव" का युग सत्य बुद्ध के व्यक्तित्व की गुरुता के आगे नतशिर था, किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् उपजे शून्य ने उनकी नीतिविषयक अर्थ-गम्भीरता, मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता और आध्यात्मिक शिक्षाओं के मूलार्थ को लेकर व्यापक अन्तर्विरोध पैदा कर दिया।

इतिहास में इस बात के सबल अन्त:साक्ष्य हैं कि आदि बौद्ध धर्म के स्वरूप में कई विसंगतियाँ थीं जिनके कारण न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी इसके अनुयायियों में व्यापक मतभेद उत्पन्न हुए। मोटे तौर पर निर्वाण प्राप्ति के दो मार्ग हीन यान और महा यान -- में विभक्त उत्तर कालीन बौद्ध धर्म कालान्तर में अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इस विवाद को आगे बढ़ाते हुए कि " प्राचीन भारत की दार्शनिक शाखाओं का प्रादुर्भाव धार्मिक विचारों से स्वतन्त्र रूप में हुआ था-- यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म की दार्शनिक आधारभित्ति स्वयं उनका धर्म था।" [२] इसके परिणामास्वरूप "भारत में दर्शन की दो बार आवृत्ति हुई-- एक बार विविध हिन्दु दर्शनों में और दूसरी बार बौद्ध दर्शन के विविध सम्प्रदायों में। [३] कुल मिलाकर बौद्ध धर्म दर्शन का जो चित्र हमारे मानस में उभरता है वह यह है कि यह एक दर्शन नहीं प्रत्युत दर्शन का पुंज है और प्रत्येक पुंज अपने आप में एक व्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन के मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास है। इस प्रयास का विभाजन चार प्रमुख दार्शनिक शाखाओं के रूप में हुआ है यथा, वैभाषिक, सौत्रान्तिक,

योगाचार व माध्यमिक। यह चारों शाखाएँ इस बात पर एकमत हैं कि भगवान् बुद्ध ने जन - कल्याण हेतु विभिन्न स्थलों पर धर्मचक्रों का प्रवर्तन किया है और इनमें व्यक्त विचारों से ही बौद्ध धर्म - दर्शन विकसित हुआ है। यह प्रश्नातीत है कि तथागत के समस्त उपदेश इन त्रिविध धर्मचक्रों में संग्रहित हुए या नहीं। तथापि निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रथम धर्मचक्र (सारनाथ) में उनके वे विचार संग्रहीत हैं जो स्वभाव-सत्ता या स्वलक्षण-सत्ता पर आधृत हैं और इन्हीं के आधार पर चार आर्यसत्य की स्थापना की गया है। जिनकी विषयवस्तु शून्यता, अनुत्पाद व अनिरोध आदि हैं ऐसे नि:स्वलक्षण या नि:स्वभावता पर आधृत विचार व्दितीय धर्मचक्र (गृद्धकूट) का वर्ण्य - विषय है। तृतीय धर्मचक्र (वैशाली) का वर्ण्द विषय भी वही है जो दूसरे धर्मचक्र का था। उसमें स्वभावता एवं नि:स्वभावता का क्षेत्र विभाजन कर उन्हें प्रवर्तित किया गया है। यहीं से विज्ञानवाद और माध्यमिक शून्यवाद के मध्य मतभेद के अंकुर फूटने लगे थे। शान्तरक्षित ने *मध्यमालोक*में तथा चन्द्रकीर्ति ने *मध्यमकावतार* के स्वभाष्य में इस मतभेद को जागर करते हुए विज्ञानवादियों को मूढ़ और बुद्ध देशना का अपात्र माना है; विज्ञानवादी ग्रन्थ *आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र* सदाशयता दिखाते हुए कहता है कि वही तृतीय धर्मचक्र का सारांश है और धर्मचक्रों का स्वरूप उसमें वर्णित स्वरूप की भांति ही होना चाहिए।

काल की दृष्टि से बुद्ध के समस्त उपदेश इन त्रिविध धर्मचक्रों में सूत्रबध्द हो जाते हैं या नहीं यह प्रश्न विवादों के घेरे में है किन्तु सभी प्रमुख बौद्ध सम्प्रदाय यह मानते हैं कि स्वभाववाद के विषय में उनका दृष्टिकोण लगभग समान है। कोई भी परिणाम उसके कारण से निर्धारित होता है और वह परिणाम पुन: भावी परिणाम के लिए कारणीभूत होता है-- परिवर्तन की प्रक्रिया कार्यकारण भाव से नियमबद्ध रहती है। जिन कारणों से कुछ नवीन निर्मित होती है उसे समुदाय और परिवर्तित परिस्थिति को निरोध कहते हैं। समुदाय और निरोध की यह विश्वव्यापी प्रक्रिया प्रतीत्य समुत्पाद की संज्ञा पाती है। [४]

अस्ति, नास्ति ,उभय और अनुभय की इस पुरातन विचारकोटि का उद्गम वैदिक मान्यता के अतिरिक्त जैन और आदि बौद्ध मत में भी है। यह विचार कोटि बगैर सम्भावित परिणामों की रूपरेखा को ध्यान में रखते हुए मध्यमक योगाचार के व्दार तक पहुँचा। फलत: शीघ्र ही एक नवीन प्रकार का महायान विकसित हआ जिसने साम्प्रतिक धारा के परिणामों को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया और एक व्यवस्थित दार्शनिक लेखन को प्राचीन महायान की प्रवृत्तियों के अनुरूप व्यवस्थित रखा।

योगाचारवादी प्रवृत्ति के प्रमुख सूत्रों की धारा तीसरी शती में निर्मित की गयी थी यद्यपि कुछ प्रसंगों में जोड़ तोड़ , पुनरावृत्ति और पुनस्फूर्ति की प्रक्रिया चौथी शती की दार्शनिक कृतियों और उनके कतिपय प्रमुख अंशों के चीनी अनुवाद तक चलती रही किन्तु पाचवीं शती के प्राप्य मुख्य सूत्र हमारी ऐतिहासिक तिथियों को दृढ़ता प्रदान करते हैं। [५]

योगाचार मत में योगचर्या का एक सोपान है और उससे सम्बद्ध दार्शनिक भाव का व्यामिश्रण है। मैत्रेयनाथ, असंग, वसबन्धु, स्थिरमति, धर्मपाल और शीलभद्र प्रभृति दार्शनिक इसे जीवन्तता प्रदान करते हैं, एवं *लंकावतार, समाधिराज सूत्र, सन्धि -निर्मोचन सूत्र,* महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र आदि महायान सूत्र एवं शास्त्र इसे बौद्धिक खुराक भी देते हैं। यद्यपि इन रचनाओं से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि ये विज्ञानवाद के प्रतिपाद्य विषय हैं या शून्यवाद के , क्योंकि दोनों ही विचारधाराओं का मिश्रित प्रतिनिधित्व अपना रूपाकार इनमें पाता है तथापि *योगाचार भूमि शास्त्र* को इस मत का मूल शास्त्र कहा गया है। इस मत के आदि प्रस्तोता आचार्य असंग के अनुसार --"योग के माध्यम से परमार्थ ज्ञान की ओर गमन करना ही योगाचार का लक्षण है।" कहीं - कहीं यह उल्लेख भी आया है कि बोधिसत्व भूमि के अनुरूप योगचर्या ही योगाचार का मूल है। दूसरी ओर समस्त त्रैधातुक के चित्रमात्र या विज्ञानमात्र घोषित करने के कारण उन्हें विज्ञानवादी की उपमा दी गयी है। आचार्य वसुबन्धु की विज्ञप्ति मात्रता, *विंशिका* और *त्रिंशिका* में योगाचार का यह दार्शनिक पक्ष विराट् को आत्मसात् करता जान पड़ता है। मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु की त्रयी ने योगाचार विज्ञान वाद को एक दार्शनिक प्रस्थान-बिन्दु प्रदान किया।

वसबन्धु के चार शिष्य थे --- स्थिरमति , विमुक्तसेन, गुणप्रभव तथा दिग्नाग।[६] वसुबन्धु की मृत्यु के अनन्तर यह मत अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया था। दिग्नाग और धर्मकीर्ति ने इसे एक प्रांजल न्याय दर्शन का रूप दिया।

अव्दैत वेदान्त और विज्ञानवाद:

अव्दैत वेदान्त और विज्ञानवाद दोनों समस्त प्रपंच के मूल में ज्ञान य: विज्ञान को स्थान देते हैं। शान्तरक्षित का कथन है-- "नित्यत्व का स्वीकरण ही वेदान्त का अल्प अपराध है"।[७] प्रत्युत्तर में शंकर की टीका है कि बौद्धमत विज्ञान को अनित्य एवं सविशेष मानता है जबकि वेदान्त में पारमार्थिक ज्ञान नित्य एवं निर्विशेष है। बाद का अव्दैत जगत् को स्वप्नवत् और मायावत् मानते हुए और सांख्य के ज्ञान सिध्दान्त को स्वीकार करते हुए भी वेदान्त बाह्यार्थ की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता। यह भी ध्यातव्य है कि शंकर ग्राह्य ग्राहक भाव से विरहित विज्ञान का उल्लेख नहीं करते। वसुबन्धु का दर्शन सांख्य - वेदान्त से दूर है , किन्तु *लंकावतार* पर वेदान्त की छाया स्पष्टत: दीख पड़ती है, विशेषत: जगत् के पीछे एक व्दैतरहित निर्विकल्पक ज्ञान की पारमार्थिक सत्ता दोनों को समान रूप से स्वीकार्य है।[८]

महासांघिक और सौत्रान्तिक:

बहुविध हीनयानी सम्प्रदाय प्रज्ञप्तिवादियों का विवरण देते हैं किन्तु उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि विज्ञानवाद से उनका कोई साम्य न था। महासांघिक विचारणा

चित्त एवं स्वभावविशुद्धि का उल्लेख करती है। उनका रूपकाय सिद्धान्त विज्ञान मूलक मायावाद को समेटे हुए है। सौत्रान्तिकों ने महासांघिकों के मूल विज्ञान की कल्पना के समानान्तर सूक्ष्म मनोविज्ञान कल्पित किया है।

महायान सूत्र:-

परवर्ती विज्ञानवाद का एक सम्यक् निरूपण *महायान सूत्रों* में मिलता है। तिब्बती अवधारणा के अनुसार योगाचार के तीन मूल सूत्र हैं-- *सन्धिनिर्मोचन, लंकावतार व धन व्यूह।* [९]

दर्शन सूत्र और विज्ञानवाद:-

न्यायसूत्रों में माध्यमिक शून्यवाद एवं आभिधार्मिक दृष्टियों का वर्णन तो आता है, किन्तु विज्ञानवाद का नहीं। *योगसूत्रों* में विज्ञानवाद का खण्डन किया गया है, किन्तु *ब्रह्मसूत्रों* में शून्यवाद का खण्डन अवश्य पाया जाता है, किन्तु विज्ञानवाद का नहीं। *ब्रह्मसूत्र* काफी प्राचीन हैं और वे सर्वास्तिवाद का विस्तार से उल्लेख करते हैं।

सन्धि निर्मोचन, लंकावतार और धन व्यूह:-

माध्यमिकों के लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी *सन्धिनिर्मोचन* विज्ञानवाद का प्रतिपाद्य ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ इस बात का दावा करता है कि तथागत ने जिन तीन धर्म-चक्रों का प्रवर्तन किया है। [१०] उनमें तीसरा धर्म चक्र तो सन्धिनिर्मोचन, *लंकावतार* और *धन व्यूह* में ही निहित है।

लंकावतार की मूल मान्यता यह है कि चित्त के अतिरिक्त सब माया है। [११] यहीं पर शून्यवाद और विज्ञानवाद के मध्य भेद दिखाई देने लगता है। शून्यवाद के अनुसार समस्त पदार्थ मायोपम हैं, विज्ञानवाद में यह समस्त माया चित्र पर आरोपित है। *लंकावतार* इसी विचार को आगे बढ़ाता है। यह *सन्धिनिर्मोचन सूत्र* से अति व्यापक और जटिल भी है क्योंकि उसका विकास शनैःशनैः हुआ। यह उन विभिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ को स्पष्ट करता है जिनसे योगाचारवादी आन्दोलन उत्प्रेरित हुआ। इसके विचारों को मूलतः दो भागों में बाँटा जा सकता है यथा-- आलय विज्ञान और मनस् याचित। स्थविरवाद अभिधर्म के अनुसार छह इन्द्रियों की चेतना। आठ इन्द्रियाँ कभी- कभी आठ धर्म धातु भी कहलाती हैं। आलय विज्ञान, जो कि चित्त का पर्याय है, मूलाधार है। विभिन्न प्रकार की चेतना से उत्पन्न होनेवाली समस्त धर्मधातुएँ केवल सागर तरंगों की भाँति हैं। विभिन्न प्रकार की वासनाएँ अनन्तकाल में आलय विज्ञान के रूप में एकत्र हो जाती हैं। [१२] आलय विज्ञान में इस कल्पना का अवरुध्द होना ही निर्वाण है। [१३] अपने छठे अध्याय में *लंकावतार* आलय विज्ञान और तथागत गर्भ में तादात्म्य स्थापित करता है। इसके अतिरिक्त *श्रीमाल सूत्र* का

सन्दर्भ देते हुए कहता है कि बुद्ध ने उसमें ऐसा कहा है। भूमि के औचित्य का वर्णन बतलाते हुए आलय विज्ञान के नवीन सिद्धान्त को समाहित करता है।

सर्वास्तिवादियों के छियालीस चित्त सम्प्रयुक्त संस्कारों के अतिरिक्त विज्ञानवाद अमोह, मुषित स्मृतिता, असम्प्रजन्य तथा विक्षेप इन पाँच संस्कारों को भी मानता है। सर्वास्तिवादियों के चौदह विप्रयुक्त संस्कारों में "अप्राप्ति" को छोड़ कर शेष तेरह विज्ञानवाद को भी मान्य हैं। इनके अतिरिक्त वह ग्यारह अन्य संस्कारों की गणना कराता है यथा- पृथग्जनत्व, प्रवृत्ति, प्रतिनियम, योग, जप,अनुक्रम, काल, देश, संख्या सामग्री तथा भेद। विज्ञानवाद, छह असंस्कृत धर्मों को भी मानता है यथा- आकाश, प्रतिसंख्या- निरोध, अप्रतिसंख्या निरोध, आतिज्य, संज्ञा निर्देशित निरोध एवं तथता। इनमें अन्तिम तीन सर्वास्तिवाद को ज्ञात नहीं हैं। *अभिधर्म समुच्चय* "तथता" को त्रिविध कहता है - कुशल धर्मतथता, अकुशल धर्मतथता एवं अव्याकृत धर्मतथता। कुल मिलाकर स्कन्ध, धातु और आयतन सौ धर्मों को तीन धर्मों में और पाँच ज्ञेयों यथा रूपचित्त, चैतसिक , चित्तविप्रयुक्त संस्कार तथा असंस्कृत में संग्रहित किया जा सकता है। ये त्रिविध धर्म त्रिविध लक्षणों - परिकल्पित, विकल्पित और धर्मता- में भी संग्रहित किये जा सकते हैं। इनमें पहला पुद्गल, दूसरा स्कन्धादिक लक्षणों और तीसरा नैरात्म्य की ओर संकेत करता है।

धनव्यूह सूत्र आलय विज्ञान की महिमा से मण्डित है। वह मानता है कि आलय ही संसार का उद्गम है और समस्त पदार्थों में तथागत गर्भ वैसे ही प्रतिबिम्बित है जैसे चन्द्रमा जल में। सब कुछ चित्त मात्र है और पंचस्कन्ध कल्पित हैं नाम और लक्षण के व्दारा ही मिथ्या प्रपंच प्रतिभासित होता है।

अन्य ग्रन्थ एवं विज्ञानवाद:

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त *महायान सूत्रों*, *अश्वघोषकृत महायान शुध्दोत्पाद शास्त्र*, *योगाचार भूमि शास्त्र* आदि में भी विज्ञानवाद का निरूपण हुआ है। किन्तु अभिधर्म सूत्रों को उतनी महत्ता प्राप्त नहीं हुई जितनी महायान अभिधर्म को। नई धारा के दार्शनिकों ने आलेखों को व्यवस्थित किया और असंग ने उनका सैध्दान्तिक एवं व्यावहारिक परिचय अपने *महायान संग्रह* के आरम्भ में ही गहन रूप से दे दिया था। उन्होंने अधुनातन सूत्रों पर आधारित योगाचारवादि प्रवृत्ति का शिलान्यास किया। *अभिधर्म समुच्चय* में सम्पूर्ण प्राचीन अभिधर्म की व्यवस्था का निचोड़ देकर उसे योगाचार की शिक्षाओं के अनुकूल परिवर्ध्दित कर दिया गया है। इसमें हम प्रपंच और विज्ञप्ति को पाते हैं। आलय विज्ञान भी उनमें से एक है। चित्त और विचार का वर्णन *सन्धिनिर्मोचन* में वर्णित स्वरूप की भाँति है। प्रपंच की अपनी प्रकृति की तीन विशिष्टताओं व बोधिसत्त्व के आदर्श का संक्षिप्त उल्लेख भी हुआ है। *महायान संग्रह* में आलय विज्ञान का विस्तृत विवरण है। असंग के अनुसार हम नैतिक रूप से अनिर्धारित आलय

समझना चाहिए । जिसमें आनेवाली भावी घटनाओं के बीज परस्पर विपरीत गुणों के अनुसार भी विद्यमान हैं । [१४] इसमें वर्णित इन्द्रियवाद स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद की शिक्षाओं के अनुकूल नहीं हैं । *योगाचार भूमिशास्त्र* समस्त कृतियों से कई गुना बड़ा है । आंशिक रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि यह बोधिसत्त्व के जीवन के सोपानों का विस्तार और *अभिधर्म समुच्चय* का पुनरावृत्तिकरण मात्र है । अपने प्रारम्भिक स्तर पर यह ग्रन्थ अभिधर्म की सारगर्भित रचना है जो प्राचीन *त्रिपिटक* तथा अधुनातन *महायान सूत्र* के विस्तार को परिव्याप्त करता है ।

असंग के कथनानुसार बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक विश्लेषण अशुद्ध हैं ; यहां तक कि एक ओर मध्यकम सिद्धान्त तथा दूसरी ओर पूर्व की शाखा (विशेषत: सर्वास्तिवाद) । वास्तव में दोनों अतिरेकवादी विचारधाराएँ हैं , जिन्हें बुद्ध ने त्यागने का विचार दिया । [१५]

असंग के उपरोक्त कथन में मैत्रेय द्वारा प्रतिपादित योगाचार विज्ञानवाद की स्थापना का संकल्प एक नई वैचारिक भ्रान्ति के साथ बौद्ध मत के द्वारा दस्तक दे रहा था ।

सुरेन्द्र सिंह नेगी

दर्शन विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर - ४७० ००३
(मध्यप्रदेश)

टिप्पणियाँ

1. देखिए, के. दामोदरन कृत् - *भारतीय चिन्तन परम्परा*, पृ. 118
2. कीथः *बुध्दिस्ट फिलासॉफी*, पृ. 149
3. एम. हिरियण्णाः *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*. पृ. 198
4. देखिए, श्रीनिवास सरदेसाईकृत *भारतीय दर्शनः वैचारिक और सामाजिक संघर्ष*, पृ. 85.
5. वार्डर, के. ए. के. : *इण्डियन बुद्धिज्म* , पृ. 423
6. डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय : *बौध्द धर्म का इतिहास*. पृ. 446
7. तेषामल्यापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः *द्रव्य संग्रह* 330-31.
8. देखिए, *लंकावतार* - 400.
9. *एक्टा ओरियण्टालिया* 1931, पृ. 84 पादटिप्पणी.
10. *एक्टा ओरियण्टालिया*: 1032, पृ. 91.
11. देखिए, *लंकावतार*, पृ. 22, 62, 79, 101, 154, 176, 184, 186, 199 आदि.
12. *लंकावतार*, पृ. 126
13. *लंकावतार , पृ. 61* एफ, 98 एफ, 126 एफ.
14. वार्डर, ए. के. : *इण्डियन बुध्दिज्म*, पृ. 441. मोतीलाल बनारसीदास, 1970
15. वार्डर, ए. के: *वहीं*, पृ. 440.

दुखः की समस्याः समाज-दर्शन एवं मोक्षवादी भारतीय दर्शन की दृष्टियों के सन्दर्भ में

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन मोक्षवादी हैं। विभिन्न दार्शनिकों की मोक्ष सम्बन्धी अवधारणाओं के भिन्न-भिन्न होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि मोक्ष को एक दुःख रहित अवस्था के रूप में सभी मोक्षवादी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। दुःख की ऐकान्तिक व आत्यन्तिक निवृत्ति के रूप में मोक्ष को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। मोक्षवादी दार्शनिकों ने मोक्ष को मानव के परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया है। अतः यह कहना एक दृष्टि से औचित्यपूर्ण होगा कि दुःखरहित मानव जीवन भारतीय दर्शन का चरम साध्य रहा है। लेकिन यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि दुःख के सम्बन्ध में भारतीय मोक्षवादी दार्शनिकों की एक विशेष दृष्टि रही है। प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य दुःख की समस्या के प्रति भारतीय मोक्षवादी दार्शनिकों की उस विशिष्ट दृष्टि का दार्शनिक स्पष्टीकरण कर यह दिखाना होगा कि वह दृष्टि दुःख की समस्या के प्रति उस दृष्टि से किस प्रकार भिन्न है जिसे समाज- दर्शन से सम्बन्धित चिन्तन में स्वीकार करना आवश्यक होता है। यहां पर कोई यह न समझे कि दुःख के सम्बन्ध में समाज-दर्शन की वह दृष्टि कोई ऐसी दृष्टि है जो भारतीय दर्शन के लिए विजातीय है। हमारा आशय केवल इतना ही है कि दुःख के सम्बन्ध में समाज-दर्शन की वह दृष्टि, जिसे निश्चय ही भारतीय दर्शन में भी देखा जा सकता है, दुःख के सम्बन्ध में भारतीय मोक्षवादी चिन्तन के सिध्दान्त में स्वीकृत दृष्टि से भिन्न है।

अन्त में हम इस प्रश्न पर भी विचार करेंगे कि इन दो भिन्न - भिन्न दृष्टियों पर आधारित प्रयासों को भारतीय मूल्य-व्यवस्था के अन्तर्गत, क्या समान रूप में मूल्यवान् समझा जा सकता है ?

•

दुःख की समस्या के सम्बन्ध में भारतीय मोक्षवादी दर्शनों की विशिष्ट दृष्टि

भारतीय दर्शन में दुःख की समस्या पर जो भी विचार हुआ है वह अधिकतर मोक्ष- सम्बन्धी चिन्तन के सन्दर्भ में हुआ है। दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति के विचार की अभिव्यक्ति मोक्ष की अवधारणा के माध्यम से होती है। व्यक्ति दुःख निवृत्ति का आमतौर पर जो प्रयास करता है उसके फलस्वरूप दुःख निवृत्ति कुछ काल के लिए ही होती है। फिर यह भी है कि कुछ काल के लिए भी दुःख की जितनी निवृत्ति होती है उसमें भी सभी दुःखों की निवृत्ति

नहीं होती । किसी न किसी रुप में दुःखों का चक्र अनरवत रुप में बना ही रहता है । जीवन में यदि सुख के क्षण उपस्थित भी होते हैं तो भी उनके साथ यह दुःख रुप चिन्ता अवश्य ही संलग्न रहती है कि कहीं ये नष्ट न हो जाए । कहने का तात्पर्य है कि जीवन में सुख के अनुभव अपने विशुद्ध रुप में नहीं होते । सुख भी दुःख के साथ मिश्रित रहता है । इसलिए महात्मा बुद्ध ने कहा कि यह सारा संसार ही दुःख से व्याप्त है । जो कुछ वेदनीय है वह दुःख है । अब भले ही कोई इस बुध्द वचन को स्वीकार न करे कि जो कुछ वेदनीय है वह दुःखरूप है तथापि इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि सुख के साथ केवल पूर्वापार रूप में ही दुःख नहीं होते बल्कि जितने समय सुख की सत्ता होती है उतने समय भी दुःख उपस्थित रह सकते हैं । संसार में ऐसा कोई भी विदित उपाय नहीं है जिससे व्यक्ति सदा-सदा के लिए दुःखों से मुक्त हो जाए । सदा-सदा के लिए सभी दुःखों से मुक्त हो जाने का आदर्श ही मोक्ष की अवधारणा के रूप में व्यक्त हुआ ।

अब देखने की बात यह है कि भारतीय दर्शन की दुःख के प्रति उक्त दृष्टि एक व्यक्ति - केन्द्रित दृष्टि है । व्यक्ति के प्रसंग में ही यह कहना औचित्यपूर्ण हो सकता है कि दुःखों का सदा-सदा के लिए अस्तित्व मिट गया है । इसे समझने के लिए ''दुःख'' शब्द के प्रयोग में निहित एक व्दि-अर्थकता को स्पष्ट करना आवश्यक है । 'दुःख' शब्द का प्रयोग दुःखानुभवों के लिए भी होता है और दुःखकारक स्थितियों अर्थात् दुःखानुभव के कारणों से सम्बध्द वस्तुओं अथवा स्थितियों के लिए भी होता है । उदाहरण के लिए, हम न केवल यह कहते हैं कि 'अमुक को अब दुःख हो रहा है' , बल्कि कई बार इस तरह की अभिव्यक्ति का भी प्रयोग करते हैं कि 'वह दुःखों से घिरा हुआ है' । उत्तरोक्त अभिव्यक्ति का प्रयोग करते समय हमारा तात्पर्य यह हो सकता है कि वह दुःखकारक स्थितियों में है, जब कि पूर्वोक्त से हमारा तात्पर्य यही होता है कि वह दुःख का अनुभव कर रहा है । अतः दुःखानुभवों का दुःख के कारणों से अन्तर करना होगा । कुछ दुःखानुभव भोक्त व्यक्ति की इच्छा, आकांक्षा और अपेक्षाओं पर निर्भर करते हैं । किसी परीक्षा में असफल होने पर दुःख का अनुभव उसी को होता है जो उस परीक्षा में सफल होना चाहता है । किन्तु सभी दुःखानुभव इस प्रकार के नहीं होते । कांटा चुभने से उत्पन्न दुःखानुभव व्यक्ति को तब भी होता है जब उसे कोई विशेष इच्छा नहीं होती । कांटा चुभने का दुःख एक विशेष प्रकार की अप्रिय शारीरिक संवेदना ही है । अगर कोई व्यक्ति अपने किसी लाभ के लिए इस प्रकार की इच्छा करे कि उसे कांटा चुभाया जाए तो भी उसे कष्ट की संवेदना का अनुभव शरीर के तल पर तो होगा ही । यहां यह सवाल उठाया जा सकता है कि अगर किसी ने जीते जी मोक्ष प्राप्त कर लिया है तो, क्या उसे इस प्रकार के दुःखानुभव भी नहीं होंगे जिनका घटित होना किसी विशेष आसक्ति, तृष्णा अथवा इच्छा पर निर्भर नहीं करता ? भारतीय दर्शन के सैध्दान्तिक ढांचे में कल्पना की जा सकती है कि चेतना का ऐसा कोई रुपान्तरण कदाचित् संभव हो , जिसके होने पर व्यक्ति

दैहिक सुख - दुःख के प्रति भी तटस्थ हो जाता है। इस तरह चेतना के किसी तल पर शायद यह सम्भव हो कि व्यक्ति को किसी भी तरह का दुःखानुभव न हो। परन्तु दिलचस्प बात यह है कि "कारण" पद के एक अर्थ में दुःखों के कारणों की सत्ता तब भी बनी रहेगी जबकि सम्बन्धित दुःखानुभवों की सत्ता नहीं होगी। भारतीय दर्शनों में प्रायः यह माना गया है कि दुःख का मूल कारण अविद्या है। सांख्य दर्शन में उस अविद्या को 'प्रकृति - पुरुष - अविवेक' की संज्ञा दी जाती है। इस पर यह कहा जा सकता है कि दुःखों के मूल कारण के नष्ट होने पर भी दुःखों के लौकिक कारण तो बने ही रह सकते हैं। भारतीय मोक्षवादी दर्शनों की दृष्टि का पक्ष ग्रहण करने वाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं कहना चाहेगा कि दुःख के लौकिक कारणों को मिटा दिये जाने पर दुःखों से हमेशा के लिए निवृत्ति प्राप्त हो सकती है। इसीलिए भारतीय मोक्षवादि दर्शनों के अन्तर्गत दुःखों की निवृत्ति के मूल कारण की ओर ध्यान दिया गया। यहां इस ओर ध्यान देना आवश्यक होगा कि दुःखों के उस मूल कारण को चाहे अविद्या कहे अथवा अविवेक, उसका आश्रय व्यक्ति ही होता है। इस दार्शनिक पूर्वमान्यता का एक तार्किक परिणाम स्पष्टतः यह है कि व्यक्ति ही दुःखों से आत्यन्तिक रूप में निवृत्त हो सकता है। दूसरी बात, चाहे कोई दुःखों के मूल कारण के रुप में अविद्या को स्वीकार करे या न करे, यह सच है कि दुःखानुभवों का तो आश्रय स्पष्टतः व्यक्ति होता है। चूंकि आत्यन्तिक निवृत्ति समस्त दुःखानुभवों की कही जा सकती है, न कि उनके लौकिक कारणों की। अतः इसी अर्थ में हम मोक्षवादी दृष्टि को एक व्यक्ति - केन्द्रित दृष्टि कहना चाहते हैं। अतः कहना न होगा कि दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् मोक्ष का प्रश्न वस्तुतः व्यक्ति की इस आध्यात्मिक चिन्ता से जुड़ा हुआ प्रश्न है कि, मैं समस्त दुःखों से हमेशा-हमेशा के लि किस प्रकार मुक्त होऊँ ? हमें इस प्रश्न का एक दूसरे प्रश्न से अन्तर करना चाहिए कि किसी समाज में जी रहे मानव - समुदाय के दुःखों की निवृत्ति किस प्रकार हो ?

यह दिखाने के लिए कि दुःखों के प्रति भारतीय दर्शन की दृष्टि की परिधि के अन्तर्गत दूसरे प्रश्न का भी समावेश हो जाता है यहाँ 'बोधिसत्त्व' की अवधारणा का उल्लेख करना किसी को प्रासंगिक प्रतीत हो सकता है। बोधिसत्त्व वह महाप्राणी है जो व्यक्तिगत निर्वाण को प्राप्त होने पर भी तब तक उसे स्वीकार नहीं करता जब तक कि विश्व के अन्य प्राणी मुक्त न हों। अर्थात् दूसरों को दुःखों से विमुक्त करने के लिए वह अपने परमार्थ का भी उत्सर्ग कर देता है। परन्तु सवाल यह है कि, 'बोधिसत्त्व' दूसरों को दुःख से मुक्त करने के लिए जिस आदर्श को अपना ध्येय बनाता है क्या वह आदर्श दुःख -निवृत्ति के उस आदर्श से भिन्न है जिसमें दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को स्वीकार किया जाता है ? यह कहना अयुक्तियुक्त नहीं होगा कि 'बोधिसत्त्व' का आदर्श भी तत्त्वतः उसी कोटि का आदर्श है जो व्यक्ति के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को मान्यता प्रदान करता है। ऐसा हम इस कल्पना के आधार पर कह सकतें

हैं कि 'बोधिसत्त्व' के परोपरकारवादी प्रयासों का अभीष्ट भी दूसरे जीवों अथवा मनुष्यों का आध्यात्मिक हित - साधन अर्थात् उन्हें समस्त दुःखों से हमेशा - हमेशा के लिए मुक्त करना ही होना चाहिए। हमारी इस कल्पना के पीछे तर्क यह है कि लौकिक उपायों के द्वारा दुःखों की आंशिक समाप्ति कर देना तो 'बोधिसत्त्व' के लिए मूल्यवान् हो नहीं सकता। इस प्रकार का कार्य तो प्रत्येक साधारण व्यक्ति अपने अथवा दूसरों के लिए आमतौर पर करता ही है। इसकी निरर्थकता का अनुभव 'बोधिसत्त्व' को अवश्य होना चाहिए, क्योंकि 'बोधिसत्त्व' ऐसा महाप्राणी होता है जिसमे निर्वाण प्राप्ति की योग्यता रहती है, भले ही वह अपने निर्वाण को सर्वोपरि नहीं समझता कहने का तात्पर्य है कि 'बोधिसत्व' के परहितवादी प्रयासों के फल को भी उसी कोटी की चीज़ होना चाहिए जो कोई मुमुक्षु अपने लिए प्राप्त करना चाहता है। फर्क इतना ही है कि 'बोधिसत्व' उस प्रकार की चीज़ को दूसरों को उपलब्ध कराने का उद्यम करता है। अत: यह निष्कर्ष निकालना अयुक्तियुक्त नहीं दिखाई देता कि 'बोधिसत्त्व' का दुःखों के प्रति दृष्टिकोण तत्त्वतः उसी प्रकार का हो सकता है जो अन्य मोक्षवादी भारतीय दार्शनिकों का है।

दुःखकी समस्या के सम्बन्ध में समाज -दर्शन की दृष्टि

समाज-दर्शन में किसी संप्रत्यय अथवा समस्या पर जब विचार किया जाता है तब उस विचार के नियामक सिध्दान्तों का सम्बन्ध अन्तर्वैयक्तिक मानवीय सम्बन्धों अथवा सामाजिक व्यवस्था के विस्तृत परिप्रेक्ष्य से जुड़ा हुआ होता है। अतएव दुःख की समस्या के प्रति भी समाजदर्शन की दृष्टि एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य - विशेष पर आधारित होती है। अब प्रश्न उठता है कि दुःख का वह कौन - सा पक्ष हो सकता है जो समाज -दर्शन के दृष्टिकोण से विचारणीय होगा। हमें ऐसा लगता है कि समाज -दर्शन के दृष्टिकोण से उस प्रकार के दुःख निश्चय ही विचारणीय होंगे जो किसी दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं, जैसा बेरोजगारी, अशिक्षा, स्त्रियों अथवा बच्चों का विभिन्न स्वीकृत प्रयासों के व्दारा शोषण इत्यादि। कहने का आशय है कि समाज- दर्शन की रुचि इस प्रश्न की अपेक्षा कि किसी एक अथवा एकाधिक व्यक्ति - विशेषों के दुःखानुभवों की निवृत्ति कैसे हो, इस प्रश्न में अधिक होगी कि उन सामाजिक स्थितियों का निराकरण कैसे हो जो सामाजिक जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के लिए दुःख का कारण हो सकता हैं। स्पष्ट है कि उन स्थितियों में परिवर्तन लाने वाले किसी प्रयास को एक विशेष अर्थ में ही दुःखों की निवृत्ति करने वाले प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। आमतौर पर इस प्रकार के प्रयासों को समाजिक - सुधारों की श्रेणी में रखा जाता है। यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के प्रयासों के फलस्वरूप मानव - दुःखों की जो निवृत्ति सम्भव हो पाती है वह न आत्यन्तिक होती है और न ही ऐकान्तिक होती है। यही नहीं, बल्कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह दुःख- निवृत्ति किन व्यक्ति विशेषों की होगी दुःख - निवृत्ति के इस प्रकार के प्रयासों के फल

का उपभोग कौन व्यक्ति - विशेष करेंगे। दूसरे शब्दों में , इस तरह के प्रयास प्रायः किन्हीं व्यक्ति - विशेषों को ध्यान में रखकर नहीं किये जाते। तथापि , इस तरह के प्रयासों से सामान्य रुप में कोई मानव - समुदाय लाभान्वित होता है अथवा हो सकता है। यहाँ ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार के प्रयासों का तात्कालिक लक्ष्य मानव की उन स्थितियों में परिवर्तन लाना होता है जिन्हें विशेष प्रकार के दुःखों के कारण रुप में समझा जाता है। इस सन्दर्भ में दो बातों पर अधिक ध्यान देना आवश्यक होगा। पहली बात तो यह कि किसी सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध मानवीय दुःखों को पहचान कर उनका निराकरण करने की अवधारणा में यह निहित नहीं है कि उस व्यवस्था से पीड़ित समझे जाने वो सभी लोग भी मनोवैज्ञानिक रुप में स्वयं यह अनुभव करेंगे कि उन्हें विशेष प्रकार के दुःख कष्ट अथवा कठिनाईयां हैं। दूसरी बात यह कि इस प्रकार के दुःखों के सामाजिक कारणों का निराकरण हो जाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि सम्बन्धित मानव -समुदाय के लोग स्वयं को दुःखानुभव से मुक्त अनुभव करें। उदाहरण के लिए, आधुनिक भारत के इतिहास में जब कुछ सुधारक विधवा - विवाह के मार्ग में बाधा ड़ालने वाली कुप्रथाओं के निराकरण में लगे हुए थे, तब न तो यह सत्य कहा जा सकता कि उस काल की सभी विधवाएँ भी उन कुप्रथाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले दुःखों का अनुभव कर रही थीं अथवा जो ऐसा अनभव कर भी रही थीं उनकी ऐसी इच्छा थी कि पुनर्विवाह के व्दारा उनके दुःख का निराकरण हो और न ही यह सत्य कहा जा सकता है कि उन कुप्रथाओं के निराकरण के उपरान्त सभी विधवाओं के तज्जनित दुःखों का अन्त हो गया होगा। जबकि, भारतीय मोक्षवादी दर्शनों की दृष्टि के अनुसार कहा जा सकता है कि दुःख -निवृत्ति तभी सम्भव हो सकती है जब व्यक्ति स्वयं यह अनुभव करें कि उसे दुःखानुभवों से मुक्त होना है और मुक्ति के पश्चात् स्वयं अपने भीतर दुःखानुभवों से निवृत्त हो जाने का भी अनुभव करे। इस प्रक्रिया में जो कुछ भी परिवर्तन घटित होता है वह स्वयं व्यक्ति की अपनी अन्तःसत्ता में होता है। इसमें दुःख के व्यक्ति - बाह्य कारणों में कोई परिवर्तन किया जाना अनिवार्य नहीं है। इसमें दुःख के मूल कारण होने का अपेक्षित पुरुषार्थ भी स्वयं उसी को करना होता है जो दुःखों का अनुभव करता है। कोई यह कह सकता है कि कभी- कभी इसमें दार्शनिक सम्प्रदाय अपेक्षित पुरुषार्थ के अलावा ईश्वर - कृपा अथवा गुरु -कृपा के रुप में कुछ कारण और जाड़ देते हैं। लेकिन यह कोई भी नहीं कहना चाहेगा कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है अथवा कोई अन्य व्यक्ति दूसरों को अपने अपेक्षित पुरुषार्थ के बिना दुःखों से आत्यन्तिक रूप में निवृत्त कर सकता है। दूसरी ओर, दुःख की समस्या के प्रति समाज- दर्शन रुप दृष्टि के अनुसार दूसरे व्यक्तियों के लिए (जो प्रायः व्यक्ति - विशेष नहीं होते) विशेष प्रकार के दुःखों अर्थात् दुःखकारक स्थितियों का निराकरण करने का प्रयास किसी अन्य अभिकर्ता के व्दारा किया जा सकता है। सारांश यही है कि दुःख की समस्या के प्रति भारतीय मोक्षवादी दर्शनों की दृष्टि और समाज -दर्शन की दृष्टि में अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर विषमता प्रकट होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुःख की समस्या के सम्बन्ध में भारतीय मोक्षवादी दृष्टि तथा समाज - दर्शन की दृष्टि न केवल भिन्न - भिन्न हैं बल्कि इनमें हमने कुछ ऐसी तार्किक विशेषताएं भी देखी जो एक दूसरे के विपरित हैं। अतः यह प्रश्न किया जाता है कि, क्या इन दृष्टियों पर आधारित प्रयासों को भारतीय मूय - व्यवस्था के ढाँचे में समान रुप से मूल्यवान् समझा जा सकता है ? पहले प्रश्न का अन्तर एक दूसरे प्रश्न से अवश्य कर लेना चाहिए , अन्यथा दार्शनिक घपला होने की सम्भावना हो सकती है। वह दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि , क्या एक व्यक्ति इन दो तरह की दृष्टियों के अनुसार दो तरह के प्रयासों का एक ही समय में अनुकरण कर सकता है ? इस दूसरे प्रश्न का यह उत्तर बड़ा ही आसान है कि व्यक्ति यह समझता है कि समाज - दर्शन की दृष्टि को सामने रखकर व्यवस्था - जन्य दुःखकारक स्थितियों का निराकरण करने का उसका प्रयास उसकी अपनी आत्यन्तिक दुःख - निवृत्ति के प्रयास में किसी रुप मे साधन बन सकता है , तो व्यवस्था - जन्य दुःखकारक स्थितियों के निराकरण को वह साधन -मूल्य के रूप में स्वीकार कर सकता है। किन्तु सवाल यह नहीं है कि, क्यां दुःख - निराकरण के इन प्रयासों का कोई व्यक्ति एक ही समय में अपनी क्रिया में समन्वय कर सकता है अथवा नहीं, अपितु यह है कि क्या कोई ऐसा तर्क है जिसके आधार पर उक्त दोनों तरह के प्रयासों को भारतीय दर्शन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) की मूल्यात्मक श्रेणीबध्दता को स्वीकृति देने वाली मूल्य - व्यवस्था के अन्तर्गत एक समान रूप में ग्रहण किया जा सकता है ? पूर्वोक्त प्रश्न के सन्दर्भ में जैसा सामने अभी ऊपर जो संकेत किया उससे यह फलित होता है कि अगर समाज - दर्शन की दृष्टि के अनुसार दुःख - निराकरण के कार्य को कोई व्यक्ति साधन रूप में ग्रहण करता है तथा अपनी अथवा दूसरों की आत्यन्तिक दुःख -निवृत्ति को साध्य बनाता है तब वह प्रथम कार्य के मूल्य को स्वतंत्र रूप में ग्रहण नहीं कर रहा होगा, बल्कि उसे परतः मूल्यवान् समझकर ही ग्रहण कर रहा होगा। उस स्थिति में वह आत्यन्तिक दुःख - निवृत्ति के कार्य को स्वतः मूल्यवान् समझेगा और समाज -दर्शन की दृष्टि के अनुसार दुःख -निराकरण के कार्य का हेतु आत्यन्तिक दुःख - निवृत्ति के साध्य के आधार पर प्रस्तुत करेगा। अतः तब उक्त दृष्टियों के आधार पर किये गए कार्यों को भिन्न - भिन्न लक्ष्यों के रूप में नहीं देखा जा सकेगा। जबकि हमारा आग्रह यह है कि इन्हें स्वतन्त्र लक्ष्यों अथवा साध्यों के रूप में भी देखा जाए। इसके अलावा हम यह भी मानकर चल रहे हैं कि चाहे दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करने का साध्य हो अथवा सामाजिक रूप में दुःखकारक स्थितियों के निराकरण का साध्य हो, इन दोनों साध्यों का मूल्य समान होना चाहिए। मूल्यात्मक दृष्टि से इनमें से एक को "उच्च " और दूसरे को "हीन" समझने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। तथापि , ऐसा मानकर हम इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं करना चाहते कि अगर दुःख की समस्या के सम्बन्ध में व्यक्ति को ही केन्द्र में रखकर दुःख -निराकरण के लौकिक उपायों की बात की जाती है तो उस प्रकार के प्रयासों के मूल्य को दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करने के प्रयास के मूल्य

को दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करने के प्रयास के मूल्य की तुलना में हीन समझने का औचित्य हो सकता है । ऐसा इसलिए सम्भव हो सकता है, क्योंकि एक ही वर्ग की दो चीजों में तुना करना युक्तिसंगत हो सकता है । सदा -सदा के लिए किसी व्यक्ति का सभी दुःखों से मुक्त होना कुछ समय के लिए किसी विशेष दुःख से मुक्त होने की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् कहा जा सकता है । इसी तरह किसी एक व्यक्ति का सभी दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर लेने की तुलना में एकाधिक व्यक्तियों द्वारा सभी दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर लेने को अधिक समझना युक्तिसंगत हो सकता है । किन्तु मोक्षवादी दृष्टि के अनुसार दुःख - निराकरण के साध्य में करने का कोई युक्तिसम्मत आधार प्रतीत नहीं होता । यही कारण है कि हमें दुःखकारक सामाजिक व्यवस्था को सुधारने का साध्य भी उतना ही मूल्यवान दिखाई देता है जितना व्यक्ति का सभी दुःखों से हमेशा के लिए मुक्त होने का साध्य ।

भारतीय मूल्य -व्यवस्था अर्थात् धर्म, अर्थ , काम तथा मोक्ष रूपी चार पुरूपार्थों की श्रेणीबध्द व्यवस्था के सन्दर्भ में ऐसा सोचा जा सकता है कि दुःख कारक सामजिक व्यवस्था को सुधारने के कार्य का सम्बन्ध ''धर्म'' नामक पुरूपार्थ से होना चाहिए, हालांकि ''धर्म'' के अन्तर्गत न केवल मानव - समुदाय को नियंत्रित करने वाले उचित नियमों की स्थापना तथा पालन करने से सम्बन्धित पुरुपार्थ का समावेश किया जाएगा, बल्कि, व्यक्ति के निजी आचरण का उचित रुप में नियमन करने से सम्बन्धित पुरुपार्थ का भी संमावेश किया जाएगा । अतएव ''धर्म'' के इस विस्तृत क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए सामाजिक व्यवस्था को उत्तम बनाने के साध्य का समावेश 'धर्म' के अन्तर्गत किया जा सकता है । श्रेणीबध्दता के क्रम में मोक्ष अर्थात् दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करने के साध्य को परम- पुरुषार्थ मानकर अन्य पुरुषार्थों से निश्चय ही 'ऊपर' रखा जाएगा । लेकिन मोक्ष को उच्च स्थान देने का अर्थ, जैसा कि हमारा आग्रह है, यह नहीं होना चाहिए कि इसका मूल्य अधिक है । कम से कम जहाँ तक 'धर्म' नामक पुरुपार्थ का सामाजिक व्यवस्था को दुःखरहित बनाने के साध्य से सम्बन्ध है, मोक्ष का मूल्य अधिक कहने का हमें कोई तर्कसम्मत आधार प्रतीत नहीं होता । अर्थ और काम के मूल्यों का जहाँ तक सवाल है , किसी व्यक्ति - केन्द्रित दृष्टि से उनकी तुलना में यदि मोक्ष के मूल्य को अधिक कहा जाए तो बात समझ में आ सकती है । अब यह प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा स्वीकार किया जाए, जैसा कि हमारा आग्रह है क्या किया जाना चाहिए, तो धर्म (जहां तक इसका सम्बन्ध समाजिक व्यवस्था को दुःखरहित बनाने से जोड़ा जा सकता है) की तुलना में मोक्ष की उच्चता का क्या अर्थ लगाया जाए ? हमारा संक्षेप में यही सुझाव है कि अगर हम धर्म और मोक्ष की साध्यता को स्वतंन्त्र रूप में ग्रहण करते हैं, अर्थात् मोक्ष की बात धर्म के हेतु के रूप में नहीं करते हैं तब दोनों को अपनी - अपनी जगह मूल्यवान् मानते हुए भी मोक्ष

को इस तार्किक अर्थ में ''उच्च' कहा जा सकता है कि इसके लिए दु:खरहित सामाजिक व्यवस्था तर्कत: उपयोगी है। इस प्रकार श्रेणीबध्दता के क्रम में तार्किक दृष्टि से मोक्ष का इस तरह की उपयोगिता का विषय होने से उसको उच्च कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, धर्म मोक्ष के लिए हो सकता है न कि मोक्ष धर्म के लिए। यदि सामाजिक व्यवस्था दु:खकारक होगी, तो मुमुक्षु के लिए यह भी सम्भव नहीं होगा कि वह दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करने के कार्य को निर्बाध रूप में सम्पादित कर सके। अत: धर्म अर्थात् सामाजिक व्यवस्था को दु:खरहित बनाने के कार्य का फल मोक्ष के लिए ''सहायक'' है। परन्तु सहायक होने से तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि स्वयं मुमुक्षु का सामाजिक व्यवस्था को दु:खरहित बनाने का कार्य उसके व्दारा मोक्ष प्राप्त करने के लिए आवश्यक है अथवा जो भी दूसरे लोग सामाजिक व्यवस्था को दु:खरहित बनाने का प्रयत्न करेंगे उनके प्रयत्न का साध्य मोक्ष ही हो सकता है। ''सहायक'' होने से तात्पर्य केवल इतना ही है कि दु:खरहित सामाजिक व्यवस्था अपने आप में एक ऐसी स्थिति है जो व्यक्ति के अनेक साध्यों की निर्बाध रूप में पूर्ति होने के लिए उपयोगी है। मोक्ष भी उन अनेक साध्यों में से एक है और उनमें से कई साध्यों की तुलना में शायद सर्वाधिक मूल्यवान् भी। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आत्यन्तिक दु:ख- निवृत्ति प्राप्त करने का साध्य और सामाजिक व्यवस्था को दु:खरहित बनाने का साध्य दोनों ही का मूल्य समान होते हुए भी एक विशेष अर्थ में प्रथम दूसरे की तुलना में उच्च है।

सुमित्रा कुमारी

दर्शन विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र - १३२११९
(हरियाणा)

मेघदूत - एक अनोखा साधारणवादी काव्य ।

महाकवि कालिदास क्या केवल राजामहाराजाओं के तथा राजपरिवार के ही कवि थे या उनमें सामान्य जन- जीवन के प्रति सहानुभूति भी पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है ? असाधारण व्यक्ति , वे चाहे राजा - महाराजा हों या कोई देवता हों, तथा असाधारण घटनाओं के प्रति स्वाभाविक आकर्षण रहते हुए भी कालिदास में कहीं क्या आम जनता, साधारण से साधारण तथा तुच्छ व्यक्तिविशेष के अनुभव, उसके सुख-दुःख के प्रति लगाव देखने में आती है ? ऐसा अगर नहीं है तो महाकवि होते हुए भी कालिदास एक राजकवि ही रह जायेंगे, सर्वकालीन विश्वकवि के रूपमें उन्हें मान्यता देना मेरी दृष्टि में उचित नहीं होगा । विक्रमादित्य की राजसभा में नवरत्नों में एक अनन्य रत्न के रूप में उनकी प्रसिध्दि सर्वजनविदित तो है ही, और संभवतः इस कारण अथवा तत्कालीन समय की मांग को देखते हुए उन्होनें *कुमारसंभव* , *रघुवंश* आदि महाकाव्यों की तथा *मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञानशाकुन्तल* आदि नाटकों की रचना की, जिससे कविओं के दरबार में उनकी मान्यता तो सुरक्षित हो गयी थी । राजा - महाराजाओं के खुश करने के लिये और उनके मनोरंजन के लिये तो ये पर्याप्त हैं । और रह गयी जनता को रीझाने की बात । उस जमाने में आम जनता की अपनी कोई स्वतन्त्र रुचि रहना तो संभव ही नहीं था । राजा- महाराजा तथा समाज - पतिओं के व्दारा निर्धारित मार्ग पर चलना उनके लिये स्वाभाविक था और जनता की रुचि या लगाव इसलिये समाज के ऊँचे दर्जे के लोगों के आग्रह के अनुकूल होना भी स्वाभाविक ही था । साधारण जनता भी उन दिनों राजा - महाराजाओं में तथा असाधारण देवदेवियों में ही दिलचस्पी लेती थी ।

फिर भी विचार करने की बात है, कालिदास ने *मेघदूतम्* नामक एक खण्डकाव्य की रचना क्यों की? इसकी जरूरत क्या थी ? मेघदूत का नायक कौन है ? क्या वह कोई राजा - महाराजा या कोई असाधारण देवता - विशेष था ? इसका नायक क्या धीरोदात्त था धीर -ललित है ? विचार करने पर देखने में आता है कि मेघदूत का नायक न कोई राजा - महाराजा है , न कोई असामान्य देवता- विशेष है । वह तो एक साधारण यक्ष ही था जो कि आम जनताओं में कोई एक ऐसा नगण्य तथा तुच्छ व्यक्ति था जिस का नाम लेना भी महाकवि को अभिप्रेत न था । अनगिनत यक्षों के बीच वह एक ऐसा अभागा यक्ष था जिसके ऊपर अपना प्रभु कुपित तो था ही, इसके अलावा उसे एक साल के लिये देश से निकाले जाने की सजा भी मिल गया थी । यह यक्ष ऐसा एक साधारण व्यक्ति था जिसका नाम लेने की कोई जरूरत ही नही थी , इसीलिये महाकवि ने 'कश्चित्', कोई एक यक्ष , ऐसा शब्द प्रयोग

करते हुए उसकी सूचना देना ही उचित समझा । और फिर अपनी कान्ता से बिछुड़ने पर यह यक्ष कामार्त हो गया था । धीरोदत्त - नायक होने के बजाय वह एक साधारण और एक ऐसा कामार्त यक्ष था जिसमें जड़ - चेतन के भेदभाव की सूझबूझ भी नहीं थी । महाकवि लिखते हैं - ''कामार्ता हि प्रकृति -कृपणाश्चेतनाचेतनेषु , '' जो कामार्त होता है उसमें चेतन और अचेतन में भेद का ज्ञान भी नहीं रह जाता । इसलिये यक्ष ने मेघ को दूत बना कर अपनी प्रिया के पास भेजने की तमन्ना की । यक्ष तो कामना - वासना का एक जीता जागता पुतला बन गया था । महाकवि की दृष्टि में यक्ष प्रेमी, रसिक, या भावुक नहीं था, वह ''कामी'' बन गया था, ''अबला विप्रयुक्तः स कामी'', कामार्त था, यह लक्ष्य करने की बात है । यक्ष की काम -वासना अपनी सीमा तोड़ चुकी थी । ऐसा एक कामार्त और कर्तव्य में गुरुतर त्रुटि के कारण राजा के व्दारा देश से निकाला गया एक साधारण अनामधेय यक्ष ही *मेघदूत* काव्य का नायक है । उसके सुखदुःख को अपने काव्य में वर्णन करते हुए महाकवि ने जिस साधारणवादी दृष्टिकोण तथा मनोभाव का परिचय दिया है, वह वास्तव में उस जमाने में एक अनोखी बात ही समझा जायेगा । महाकवि कालिदास राजसभा के कवि होते हुए भी, आम जनता के सुखदुःख के प्रति कितने संवेदनशील थे, इससे ही हमें पता लग जाता है । सिर्फ इसलिये मेरे विचार में कालिदास को एक विप्लवी कवि की मान्यता देना समुचित होगा । संस्कृत - काव्यों का नायक क्या ऐसा हो सकता है ? उस जमाने में यह तो कल्पना करना भी संभव न था ।

फिर विचार कीजिये, अलकापुरी में यक्ष का निवासस्थान था कहाँ पर ? उसे कैसे पहचाना जाय ? दूरसे दिखाई देने वाला इन्द्रधनुष जैसे रंग- बिरंगे फाटक, घरके पास एक छोटासा मंदार वृक्ष, जिसे यक्ष पत्नी ने पुत्र मान कर लाड़ प्यार से बढाया है, घरके दरवाजे पर शंख और पदम का चित्र, मरकतमणि से बनी हुई सीढियों वाली बावड़ी और उसके किनारे क्रीडापर्वत, रक्ताशोक और बकुल वृक्षों के बीच यक्षप्रिया के व्दारा तालियों से मोर का नर्तन, इन सबसे जाहिर होता है कि *मेघदूत* के मियाँबीबी सुसंपन्न तो थे ही, साथ ही साथ वे प्रकृति के परम सुहृद, सौंदर्य के पुजारी और बड़े ही शौकिन तथा रंगीन मिज़ाज के भी थे । पर थे तो वे अलका के सामान्य नागरिक ही । यक्ष का मालिक धनपति कुबेर का मकान ही वहाँ सुप्रसिध्द था । हमारे नायक के घर का पता लगाने के लिये पहले उसके मालिक के घर का पता जानना होगा, क्यों कि उसका अपना घर उसके मालिक के घर से उत्तर की ओर थोड़े ही दूरी पर था । यक्ष अपने घर का पता स्वयं ऐसे ही देता है-- ''तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं'', अर्थात् हमारा घर धनपति कुबेर के घर से उत्तर की ओर थोड़ी ही दूरी पर है , जैसे कोई साधारण आदमी का घर अगर राजभवन या राष्ट्रपतिनिवास के नजदीक हो तो पहले राजभवन या राष्ट्रपतिनिवास के बारे में सूचना देकर पीछे उसके जरिये ही उस साधारण आदमी का निवासस्थान

सूचित किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि *मेघदूत* का नायक अलकापुरी के आम जनता में से कोई एक साधारण व्यक्ति ही है और *मेघदूत* मेरे विचार में एक जनता - काव्य है।

कालिदास राजकवि होते हुए भी वास्तव में भारतीय जनता के भी कवि थे, इस लिये वे जातीय कवि के गौरव के अधिकारी हैं। इसके अलावा वे विश्व - कवि भी हैं। *मेघदूत* को जनता - काव्य के रूप में मान्यता देने के साथ साथ यह स्मरण रहे कि सामान्य तथा असामान्य , लौकिक तथा अलौकिक , लोक -चरित्र और उनके विभिन्न विभाग कालिदास की लेखनी के माध्यम से विकसित हुए हैं। साधारण जनता के कवि कालिदास सर्वकालीन तथा सर्वदेशीय महाकवि भी हैं , यही मेरा वक्तव्य है। कालिदास के विश्वप्रसिध्द नाटक तथा काव्यकृतिये में केवल *मेघदूत* ही मेरे विचार में साधारणवादी दृष्टिकोण से रचित आम जनता के काव्य के रूप में अनन्य तथा अपूर्व, सचमुच बेमिसाल है। संस्कृत के किसी भी अन्य महाकवि को यह श्रेय प्राप्त नहीं है। केवल कालिदास ही संस्कृत के ऐसे महाकवि हैं जिनके काव्य में एक साधारण अनामधेय यक्ष नायक के रूप में हमारे समक्ष आता है। श्रीहर्ष, माघ या भारवि अपने अपने स्थल पर महान् तो हैं ही, किन्तु *मेघदूत* काव्य के रचियता एक स्वतन्त्र सम्मान का अधिकारी है, यह मेरा विचार है। *मेघदूत* के कारण ही महाकवि होने के साथ साथ कालिदास मेरे मत में आम जनता के एक अनोखे साधारणवादी कवि भी हो जाते हैं और उनकी काव्यप्रतिभा सब देश तथा काल में सीमा को भी लाँघ जाती है।

अब आइए देखें मेघदूत की नायिका कौन है ? अपने पूज्य पतिदेव की तरह उसका नाम भी काव्य में कहीं पर है ही नहीं। एक सामान्य व्यक्ति की पत्नी है वह। उसका नाम होगा भी, तो उससे किसको क्या मतलब ? इसलिये महाकवि ने यक्ष -पत्नी का नाम भी कहीं पर नहीं लिया है। हालांकि वह बहुत ही सुन्दरी ''तन्वीश्यामा शिखरिदशना'', अनेक सद्गुणों की खान, तथा पतिव्रता भी है। ऐसी पतिव्रता कि क्या कहना ! महाकवि के मन में पतिव्रताओं की मूर्धन्यभूता जनक- नंदिनी सीता की जो मूरत बैठी हुई थी उससे *मेघदूत* की यक्षिणी की तुलना देने में उन्हें थोड़ा सा भी संकोच नहीं हुआ। ''इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा'' यक्ष के मुख से कहते हैं महाकवि। '' तुम्हारे इतने कहने पर मेरी प्रिया ऊपर को मुख करके तुम्हारी ओर ऐसे ताकेगी जैसे अशोकवाटिका में हनुमान जी को सीता जी ने देखा था''। कैसी पवित्र कल्पना है। यक्षिणी धर्मपरायणा तथा पतिव्रता होने के साथ साथ चित्रकला, संगीत आदि विभिन्न कलाओं में भी निपुणा है। रसिका और पतिप्रिया तो वह है ही। नायिका के मुहँ से निकली एक प्रकार की वक्रोक्ति से ही यही बात जानने में आ जाती है। नायक कल्पना करता है कि नायिका घरके पिंजरे में बन्द मैना से इस प्रकार पूछती होगी '' हे रसिके ! तुम्हें स्वामी की याद आती है [illegible] '' ''[illegible]र्तुः स्मरसि

रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति '' । इसीसे बता लग जाता है कि नायिका स्वयं ही रसिका तथा पतिप्रिया है; यहाँ पर स्वयं नायिका की रसिकता तथा वह स्वयं पति की प्यारी होना व्यंजित होता है । यह सब होते हुए भी यह नहीं भूलना चाहिये कि *मेघदूत* की नायिका एक साधारण व्यक्ति ही की पत्नी है । वह राजकन्या इन्दुमती तो है नहीं , न पर्वतराजपुत्री है । चूँकि यक्ष एक साधारण व्यक्ति है , उसकी पत्नी भी एक सामान्य नारी ही हो सकती है, ऐसा ख्याल आना स्वाभाविक ही है । इसलिये यक्ष को भी भय है , कहीं प्रिया के बारे में उसका वर्णन अतिशयोक्ति न समझा जाय । इसलिये मेघ को समझाने की कोशिश करता है वह -- '' हे भाई मेघ ! मैं वाचाल नहीं हूँ । तुम शीघ्र ही प्रत्यक्ष देख पाओगे मेरी प्रिया सचमुच कितनी सुंदरी ,कितनी गुणवती है और मेरे विरह में उसकी कैसी बूरी हालत है , ''प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत्'' । महाकवि ने यहाँ पर भारत के साधारण नारी में भी कितना सौंदर्य, कितने सद्गुण हो सकते हैं, इसकी सूचना दी है, और इसलिये भी *मेघदूत* के रचयिता कालिदास जातीय कवि की मान्यता प्राप्त करने का अधिकार रखते हैं। केवल भारतवर्ष की बात नहीं, बल्कि मैं तो कहूँगा कि विश्वभर के साधारण स्त्रियों में, आम महिलाओं में, सौदर्य तथा सद्गुणों का कैसा भरपूर प्रकाश हो सकता है, इसका एक अनोखा तथा भव्य चित्र हमारे सामने रख दिया है इस अनुपम काव्य ने । इसी कारण *मेघदूत* जनता काव्य तो है ही, मगर इसकी और एक विशेषता यह भी है कि इस जनता में उभय पुरुष तथा स्त्री सम्मिलित हैं । साधारण से साधारण व्यक्ति या वस्तु में भी महान् तथा असाधारण गुणों का समावेश हो सकता है, ऐसे विचार को मैं साधारणवादी विचार मानता हूँ, जिसका प्रभाव यहाँ सुस्पष्ट है । यक्षिणी से दूर , कामार्त होते हुए भी यक्ष का एकपत्नीव्रत और सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवहार- पटुता कितनी सराहनीय है । कोई राजकुमारी या देवी यहाँ काव्य की नायिका नहीं है । एक साधारण यक्षिणी का सुखदुःख ही इस काव्य की विषयवस्तु है । हाँ, यह जरूर है कि यक्ष - समाज में कुछ कमी नहीं थी सब कोई वहाँ सुख से ही रहता था । आँसू अगर वहाँ कदाचित् निकलती भी है तो सिर्फ आनंद का आधिक्य ही उसका कारण हो सकता है, यौवनावस्था ही वहाँ एकमात्र अवस्था है, ''आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः'' इत्यादि-- यक्ष के मुख से अलकापुरी का यह वर्णन-चाहे जितना मनोरम हो, यक्षिणी की स्थिती तो वहाँ दयनीय ही है । अलकापुरी एक बहुत ही सुंदर जगह है, जो कि हिमालय की गोदमें बसी हुई है और वहां के नागरिक भी सुसंपन्न हैं , फिर भी यक्ष - पत्नी वहाँ कितना निसंःग, बेसहारा तथा अभागिन है , यह सोचने की बात है । प्राचुर्य के बीच निसंःगता तथा असाहयता का कितना अनोखा वर्णन है *मेघदूत*में। ''प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः'', पूर्वदिशा में अमावस के नजदीक देखी गयी चंद्रकला की भांति शोचनीय अवस्था है यक्षपत्नी की । राजकुमारी इन्दुमती की सखी उसे एक राजा से दूसरे राजा के पास स्वयंवर के लिये ले जाती है । तपस्विनी पार्वती की सखी उनकी तरफ से ब्रह्मचारी के वेष धारण किये हुए शिवजी से वार्तालाप करने में तत्पर है । असहायी रति के समक्ष भी अपने मृत पति कामदेव के अंतरंग सखा वसन्त

आखिर पहुँच ही जाते हैं। मगर *मेघदूत* में यक्षपत्नी की कोई सखी है ही नहीं। इसलिये यक्ष ने अपनी प्रिया का वर्णन देते हुए उसे "चक्रवाकीमिवैकां", अकेली चकवी की तरह, कहा है। पति के अभाव में दिन तो बीतता नहीं, रात और भी अधिक असहनीय होना स्वाभाविक ही है। "शंके रात्रौ गुरुतरशुचां निर्विनीदां सखीं ते"। घर में पली हुई मैना ही उसकी एकमात्र सखी है, जिसके साथ वह अपने प्रियतम के बारे में वार्तालाप कर सकती है। वह तो एक साधारण यक्ष की पत्नी है, विशेष क्षमता संपन्न कोई नागरिक तो वह है नहीं। इसके अलावा वह ऐसे एक व्यक्ति की पत्नी है जो राजदण्ड से दण्डित है। उसके घर को कौन भला और क्यों आने लगा ? इसलिये मैं *मेघदूत* को निसंःगता या मानवीय असहायता का एक अनोखा काव्य भी कहूँगा !! एक तरफ राजदण्ड से दण्डित प्रिया से दूर निर्वासित यक्ष असहाय तो है ही, "गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोग व्यथाभिः" दूसरी ओर उसकी पत्नी मनोव्यथा से क्षीण भूमि - शय्या पर एक ही करवट से लेटी हुई है, "आधिक्षामां विरह शयने सन्निषण्णैकपार्श्वां"। कितना करुण है यह दृश्य। मानवीय असाहयता का कैसा सजीव चित्र आँका है महाकवि ने।

मेघदूत का नायक जहाँ एक साधारण व्यक्ति है, और नायिका भी एक साधारण स्त्री है, वहाँ *मेघदूत* में ग्रामीण तथा वनचरवधुओं का वर्णन, महाराजा उदयन की प्रेमकहानी में दिलचस्पी लेनेवाला वृध्द, पुष्प चयन करने वाली मालिन युवतियाँ जो कि पसीने से पीडित हों, इनका वर्णन, पथिक वनिताओं को आश्वासन, साधारण वेश्याओं के सुखदुःख का अनुभव, पहाड़ों के शिलागृह में प्रकटित नागरिकों की उच्छृंखल जवानी, इन सब का वर्णन भी कालिदास को सामान्य जनजीवन के कवि या जनता - कवि के रूप में ही हमारे समक्ष पेश करते हैं। विचार करने की बात है कि आम जनता का कोई स्वतन्त्र परिचय होता ही नहीं; जिसे "आइड़ेण्टिटी" कहते हैं वह आम जनता के पास नहीं होती है। चाहे फूल चुनने वाली कोई मालिन हो जिसे सूर्य का ताप सता रहा हो या कोई ग्रामीण वधू, जो कि कृषि - फल के लिये व्याकुल हों, इन की भावनाओं से, इनके अनुभवों से किसी को कुछ लेना देना तो है नहीं। इतिहास में इनको कोई स्थान मिलने की गुंजाईश भी कहाँ है ? मगर विश्वकवि के लेखनी में सामान्य से सामान्य वस्तु, साधारण व्यक्ति भी सजीव हो उठता है। कालिदास में यह किमया कर दिखाने की शक्ति थी, *मेघदूत* ही इसका प्रमाण है। फूल चुनने वाली मालिन को चाहे एक पल के लिये भी हो छायादान करते हुए और पथिक वनिता को आश्वासन देते हुए मेघ को आगे बढ़ना है। इन लोगों का नाम नहीं होता, वे अनामधेय तथा नगण्य हैं, इतिहास इनके बारे में कभी कुछ कहना संभव नहीं है। मगर जनता -कवि, जनता के हृदय से गहरा नाता रखने वाला कवि इन सामान्य लोगों का ख्याल रखने के कारण ही असामान्य हो जाता है। कालिदास ऐसे ही एक कवि थे।

महाकवि कालिदास का यह रूप अब तक हमारे समक्ष इसलिये इतना उभर नहीं पाया, इसका भी कारण है । कालिदास वास्तव में एक महाकवि थे । उनके काव्य - नाटकों के नायक नायिका प्रायशः ही उच्चकोटि के हैं और उनके हावभाव , जीवनधारा आदि सबकुछ उच्च- कोटि का ही है । इसलिये जनता - कवि होते हुए भी *मेघदूत* के रचयिता का यह रूप अबतक हम से छुआ ही रहा और यह स्वाभाविक भी है । कौन भला सोच सकता है कि विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक महार्घरत्न कालिदास साधारण जन - जीवन से इतनी दिलचस्पी ले सकता है ? इसलिये *मेघदूत* की सराहना तो बहुत की गयी है, मगर इस रूप में नहीं, और इसी कारण *मेघदूत* आप और हम जैसे साधारण व्यक्तियों के सुखदुःख का एक अनुपम चित्र है यही बात हम से अज्ञात ही रह गयी । *मेघदूत* एक अनोखा साधारणवादी काव्य है और विश्वकवि कालिदास एक अनोखे साधारणावादी कवि भी हैं यही इस संदर्भ में मेरा वक्तव्य है ।

श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय
श्री विहार
जगन्नाथपुरी -- ७५२००२
(उड़ीसा)

गौरांगचरण नायक

नव्य - न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२४)
निरूपकता और निरूप्यता

पूर्व लेख में कहा गया था कि प्रतियोगितावच्छेदक धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता और प्रतियोगिता में निरूप्य - निरूपक - भाव होता है। जिस प्रकार प्रतियोगितावच्छेदक धर्म में रहने वाली अवच्छेदकता से भी निरूपित प्रतियोगिता होती है उसी प्रकार संसर्ग में रहनेवाली अवच्छेदकता से भी प्रतियोगिता निरूपित होती है। उदाहरण के लिये - 'घटाभाव' की प्रतियोगिता घटत्व में रहने वाली अवच्छेदकता तथा घट से घटत्व जिस समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है उस समवाय सम्बन्ध में रहने वाली अवच्छेदकता से भी निरूपित होती है। दोनों ही अवच्छेदकताओं का प्रतियोगिता के साथ निरूप्य-निरूपक-भाव होता है।

घटाभाव के विषय में सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि उक्त अभाव घट में रहने वाली प्रतियोगिता का निरूपक होता है। अत: न्याय परिभाषा में घटाभाव का अर्थ इस प्रकार किया जाता है -- "घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव"। प्रतियोगिता और अनुयोगिता या विशेष्यता और प्रकारता में आम तौर पर से परस्पर निरूप्य - निरूपक - भाव माना जाता है। प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता जैसे होती है वैसे ही अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगिता भी होती है। अथवा जैसे प्रकारता से निरूपित विशेष्यता होती है उसी प्रकार विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है। परन्तु अभाव का प्रतियोगिता के साथ परस्पर निरूप्य - निरूपक -भाव नहीं होता है। उसी प्रकार ज्ञान और विशेष्यता का भी आम तौर से परस्पर निरूप्य - निरूपक - भाव नहीं होता है। तथापि यह आत्यन्तिक नियम नहीं है। कुछ नैयायिक अभाव और प्रतियोगिता में भी परस्पर निरूप्य - निरूपक - भाव मानते हैं। उनके मत से प्रतियोगिता का निरूपक जैसे अभाव होता है उसी प्रकार प्रतियोगिता भी अभाव का निरूपक होती है। अत: प्रतियोगिता में भी निरूपकता और अभाव में भी निरूप्यता रहती है।

पूर्व लेख में यह बतलाया जा चुका है कि प्रतियोगिता, अनुयोगिता, कार्यता, कारणता, उद्देश्यता, विधेयता आदि परस्पर सापेक्ष पदार्थों में निरूप्य-निरूपक-भाव माना जाता है। यदि उनमें निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध न माना जाय, अर्थात् निरूपकता और निरूप्यता पदार्थ न स्वीकार किया जाय, तो क्या हानि है ?

"तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थ :" इस प्रकार से तर्कसंग्रहकार ने प्रमा का लक्षण किया है। न्यायबोधिनीकार ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है - "तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्वम् " और उसका निष्कर्ष निकाला है -- "तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित तन्निष्ठप्रकारताशालित्वम् "। [२] तथापि उन्हें ऐसा निष्कर्ष निकालने की क्या आवश्यकता थी ? यदि तद्वन्निष्ठ विशेष्यता से निरूपित तन्निष्ठ प्रकारता न कहें तो "रंगरजतयोरिमे रजतरंगे " - रंगा और रजत ये दोनों क्रमशः रजत और रंगा हैं - इस भ्रम में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि उस भ्रम में भी रजतत्ववद् विशेष्यकत्व और रजकत्व प्रकारकत्व तथा रंगत्ववद् विशेष्यकत्व और रंगत्व प्रकारकत्व है। इस भ्रम में यथार्थ ज्ञान की तरह ही रजतत्ववद् विशेष्यकत्व और रजतत्व प्रकारकत्व है। उसी तरह उक्त भ्रम में रंगत्ववान् विशेष्य है और रंगत्व प्रकार है। परन्तु यह यथार्थ ज्ञान नहीं है। तथापि प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य - निरूपक - भाव स्वीकार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त ज्ञान की रजतत्व में रहने वाली प्रकारता रजतत्ववान् में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित नहीं है। उसी प्रकार रंगत्व में रहने वाली प्रकारता रजतत्ववद् विशेष्यता से निरूपित नहीं है। अतः तद्वन्निष्ठ प्रकारता रजतत्व से निरूपित तन्निष्ठविशेष्यता का प्रमा के लक्षण में समावेश करना आवश्यक है।

उसी प्रकार 'व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान ' यह परामर्श का जो लक्षण किया जाता है वह लक्षण भी प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव न मानने पर शुद्ध लक्षण नहीं होगा। क्योंकि व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान से हम "धूमो वह्निव्याप्यः आलोकवान् पर्वतः " यह ज्ञान भी ले सकते हैं और उस ज्ञान से पर्वत पर अग्नि की अनुमिति अतिव्याप्त होगी। अतः 'पक्ष में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित हेतु में रहने वाली प्रकारता से निरूपित व्याप्ति में रहने वाली प्रकारता वाले 'ज्ञान' को परामर्श कहना पड़ेगा। 'धूम अग्निव्याप्य है और पर्वत आलोकवान् है ' इस ज्ञान की धूम में रहने वाली प्रकारता पक्ष (पर्वत) पर रहने वाली प्रकारता से निरूपित व्याप्ति में रहने वाली प्रकारता नहीं है। [३]

कुछ नैयायिक निरूपकता और प्रकारता में भेद मान कर ही उपलक्षण और विशेषण का भेद करते हैं। प्रकारता का नियामक होते हुए जो निरूपकता का नियामक नहीं होता है वह उपलक्षण है, और प्रकारता का अवच्छेदक होते हुए जो निरूपकता का भी अवच्छेदक होता है वह विशेषण कहलाता है। विशिष्ट सत्ता को उपलक्षण मान कर 'विशिष्टसत्तावान् गुणः' इस प्रतीति में विशिष्टसत्तात्व प्रकारतावच्छेदक होने पर यह निरूपकता का नियामक (अवच्छेदक) नहीं है। [४]

अभाव जैसे प्रतियोगिता का निरूपक होता है उसी तरह अभावत्व भी प्रतियोगिता का नियामक होता है। यही कारण है कि मथुरानाथ ने *व्याप्तिपंचक* में 'साध्यवदन्यत्व' का अर्थ 'अन्योन्याभावत्वनिरूपित साध्यत्वावच्छिन्न प्रतियोगिकाभावत्व' किया है । क्योंकि 'वह्निमत्वावच्छिन्न' प्रतियोगिताकात्यन्ताभाव ' भी 'स्वावच्छिन्नभिन्नभेदरूप ' होने से उसके अधिकरण पर्वत पर धूम के विद्यमान होने से अव्याप्ति होती है । वह्निमान् का अत्यन्ताभाव स्वावच्छिन्नभिन्नभेद के कारण अन्योन्यभावरूप होने पर भी उसकी प्रतियोगिता अत्यन्ताभावत्व से ही निरूपित होती है, अन्योन्याभावत्व से नहीं । [५]

दीधितिकार ने भी सिद्धान्तलक्षण में इसी बात को ग्रहण किया है । उन्होंने 'अत्यन्ताभावत्वनिरूपकप्रतियोगिता ' का निवेश लक्षण में किया है । [६]

'पर्वतो अग्निमान् ' इस ज्ञान में रहने वाले प्रमात्व की व्याख्या भी ज्ञान और विषयता में निरूप्य-निरूपक- भाव स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है । ज्ञान विषयता का निरूपक होता है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है । यही कारण है कि 'स्वव्यधिकरण प्रकाराच्छिन्ना या विषयता तन्निरूपकत्व ' को गदाधर ने सर्वांश में प्रमात्व कहा है । 'पर्वतो अग्निमान् ' यह ज्ञान प्रमा है और 'पर्वतो वह्न्यभाववान् ' यह ज्ञान प्रमा नहीं है । उक्त लक्षण में स्व पद से पर्वतो वह्न्यभाववान् इस ज्ञान की पर्वत में रहने वाली जो विशेष्यता है उसका व्यधिकरण प्रकार है वह्न्यभाव । उससे अवछिन्न जो पर्वत में रहने वाली विशेष्यता है उसकी अनिरूपकता उक्त बाध-निश्चय में नहीं है । अत: उक्त ज्ञान प्रमा नहीं है ।

पूर्व में कहा जा चुका है कि अधिकरणता, वृत्तिता, विषयता , विषयिता आदि धर्म सापेक्ष हैं । क्योंकि अधिकरण के बिना कौन वृत्ति होगा और आधेय के बिना किसका अधिकरण होगा ? अत: वृत्तिता को अधिकरण की अपेक्षा रहती है , तो आधेय को अधिकरणता की । जिसको जिसकी अपेक्षा होती है वह उससे निरूपित होता है । घट कहाँ पर है-भूतल पर है या अन्यत्र ? इस सन्देह का निवारण घट में भूतल की वृत्तिता स्वीकार करने से होता है । 'भूतल पर' कहने से वृत्तिता कैसे है इसका विशेषरूप से निर्धारण होता है । उसके फलस्वरूप भूतलरूपी अधिकरण तथा उसमें रहने वाली अधिकरणता दोनों ही आधेयता के निरूपक होते हैं । इसी प्रकार आधेयता भी अधिकरणता की निरूपक होती है । अत: इनमें परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है । इसी युक्ति के आधार पर प्रकारता, विशेष्यता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है ।

अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि यदि प्रकारता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है तो प्रकारता में निरूपकता एवं निरूप्यता है और विशेष्यता में निरूपकता और निरूप्यता है । ऐसी अवस्था में प्रकारता में रहने वाली निरूपकता का और विशेष्यता में रहने वाली निरूप्यता का क्या सम्बन्ध है ? नैयायिक निरूपकता और निरूप्यता में भी निरूप्य -निरूपक -भाव

भाव मानते हैं। अत: परिष्कारों में "निरूपकतानिरूपितनिरूप्यता" ऐसा कहा जाता है। इसका अर्थ है कि निरूपकता और निरूप्यता भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भावापन्न हैं। इस प्रकार निरूपकता में पुन: निरूपकता, इसमें भी पुन: निरूपकता इस तरह से अनवस्था दोष उपस्थित होता है और यह चिन्तनीय है। इस आक्षेप के उत्तर में कहा जा सकता है कि यह एक प्रामाणिकी अनवस्था होने से दोषास्पद नहीं है। निरूपकता को स्वतंत्र पदार्थ न मान कर निरूपक - रूप मानने पर अनवस्था नहीं रहती है।

दूसरा प्रश्न यहाँ यह है कि जिस प्रकार प्रतियोगिता या प्रकारता धर्मावच्छिन्न और सम्बन्धावच्छिन्न होती है उसी प्रकार निरूपकता सम्बन्ध-विशेष तथा धर्म-विशेष से नियंत्रित होती है या नहीं ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि प्रतियोगिता आदि की तरह ही निरूपकता को स्वतंत्र पदार्थ माना जाय तो निरूपकता को संबंध तथा धर्म से नियंत्रित मानना अनिवार्य है।

जब हम घटाभाव कहते हैं तो घट में रहने वाली प्रतियोगिता का निरूपक अभाव होने से अभाव में निरूपकता आती है तो वह निरूपकता अभावत्व रूप धर्म से नियंत्रित होती है तथा घट में रहने वाली प्रतियोगिता में रहने वाली निरूप्यता / निरूपकता प्रतियोगितात्व धर्म से नियमित होती है। अत: घटाभाव को हम "घटत्वावच्छिन्न निरूपकतावान् अभाव:" कह सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि जिस प्रकार अभाव में रहने वाली निरूपकता अभावत्व - रूप धर्म से अवच्छिन्न होती है उसी प्रकार वह अभाव में रहने वाली अनुयोगिता से भी अवच्छिन्न होती है। इसी प्रकार चूंकि अभाव स्वरूप संबंध से अपने आश्रय में रहता है अत: अभाव में रहने वाली निरूपकता स्वरूप संबंध से भी नियमित होती है।

प्रतियोगिता और अभाव में परस्पर निरूप्य -निरूपक -भाव होने से प्रतियोगिता में रहने वाली निरूपकता भी स्वरूप संबंध से नियमित होती है क्योंकि प्रतियोगिता नामक स्वतंत्र पदार्थ को नैयायिक स्वरूप संबंध से वृत्ति मानते हैं।

'घटज्ञानम्' ऐसा प्रत्यय होने पर घट में रहने वाली विषयता का निरूपक ज्ञान होने पर ज्ञान में रहने वाली निरूपकता ज्ञानत्व रूप धर्म से नियमित होती है, तथा ज्ञान में विषयिता होने से उसी विषयित्रा से भी निरूपकता अवच्छिन्न होती है। [७] ज्ञान आत्मा में समवाय संबंध से रहता है। अत: ज्ञान में रहने वाली निरूपकता भी समवाय संबंध से नियमित होती है, तथा भूतल पर घट संयोग संबंध से रहता है; अत: उसमें रहने वाली निरूप्यता/ निरूपकता संयोग संबंध से नियमित होती है।

परन्तु जब विषयिता और विषयता या वृत्तिता अथवा अधिकरणता आदि में निरूप्य - निरूपक - भाव प्रदर्शित किया जाता है तो उसमें रहने वाली निरूप्यता/निरूपकता विषयतात्व या विषयितात्व धर्म से नियमित मानी जाती

है। तथा चूंकि विषयता आदि सभी पदार्थ स्वरूप संबंध से रहते हैं अत: उनमें रहने वाली निरूप्यता/निरूपकता स्वरूप संबंध से ही नियमित होती है।

कुछ नैयायिक समानाकारक विषयताओं में भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव मानते हैं। जैसे, 'संयोगेन अभावो नास्ति' इस प्रत्यय में भासित होने वाली नञ् पद से उत्पन्न होने वाले अभाव-ज्ञान की विषयता और अभाव पद से उत्पन्न होने वाली अभाव-ज्ञान की विषयता दोनों परस्पर निरूप्य - निरूपक - भावापन्न हैं। इसमें विशेष बात यह है कि विषयता और विषयिता में तो निरूप्य - निरूपक - भाव होता ही है, परंतु विषयताओं में भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है यह विशेष बात है। [८]

निरूपकता नामक पदार्थ को लेकर विषयिता आदि पदार्थों की व्याख्या कर के विषयिता आदि पदार्थों को स्वतंत्र पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे, विषयता - निरूपकत्व को विषयित्व कह सकते हैं। विषयता आदि के समान ही निरूपकता का भी संबंध और धर्म दोनों ही रूप में प्रयोग नैयायिक अनेकत्र करते हैं।

निरूपकता का सम्बन्ध के रूप में कैसे और धर्म के रूप में कैसे प्रयोग होता है और क्यों होता है इसका विवेचन अग्रिम लेख में किया जायेगा।

दर्शन विभाग,
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. शिवदत्त मिश्र ; अभाव प्रतियोगित्वयोः परस्पर निरूप्यनिरूपक भावात् । जागदीशी, *सिद्धान्तलक्षणटीकायाम् ।*

२. गोवर्धन मिश्र ; *न्यायबोधिन्याः* प्रत्यक्षपरिच्छेदे ।

३. *न्यायबोधिनी* ,अनुमानपरिच्छेदे ।

४. उपलक्षणत्त्वञ्च प्रकारतावच्छेदकत्वे सति निरूपकतावच्छेदकत्वम्, विशेषणत्वं प्रकारतावच्छेदकत्वे सति निरूपकतावच्छेदकत्वम् ।

५. मथुरानाथ ; व्याप्तिपञ्चकरहस्ये ।

६. रघुनाथ शिरोमणि ; *दीधिति,* सिद्धान्तलक्षणे

७. शिवदत्त मिश्र ; तादृशनिश्चयनिष्ठ विषयितानिरूपकतावच्छेदकत्वात् । *सामान्यनिरूक्ति टीकायाम् ।*

८. वच्चा झा; तत्र नञ् यदाभावपदजन्योपस्थित्योः समानाकारकत्वेन तदीय विषयतयोर्निरूप्यनिरूपक भावेनाभाव विषयता निरूपित विषयता प्रयोज्यत्वं सैवाभावविषयताया सत्त्वात् । *व्युत्पत्तिवादटीकायाम् ।*

ग्रन्थ - समीक्षाएँ

(१)

भवानीलाल भारतीय (डॉ.), *आर्य लेखक कोश*, प्रकाशक : दयानन्द अध्ययन संस्थान , रत्नाकर, ८/४२३, नंदन वन चौपासनी आवासन बोर्ड, जोधपुर (राज), १९९२, पृ. ३२+३७६ मूल्य १००. (सजिल्द)

सामान्य शिक्षित लोगों के लिए संदर्भ व कोश ग्रंथों की आवश्यकता सदा से रही है । क्योंकि इन कोशों के व्दारा सामान्य रूप से शिक्षित व्यक्ति भी अपने सीमित अध्ययन - क्षेत्र से बाहर का भी संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त करने में सफल हो जाता है । इसलिए प्राय: सभी भाषाएं कोश- विश्वकोष निर्मित करने का प्रयास करती रही हैं । संस्कृत में *महाभारत* , *अमरकोश* आचार्य माधव कृत *सर्वदर्शन संग्रह* आदि ग्रंथ एक तरह से कोश - विश्वकोश शैली के ही अन्तर्गत लिखे गए हैं । यह एक पृथक् बात है कि ये अ आदि क्रम में न होकर विषय क्रम से लिखे गए हैं ।

हिन्दी भी कोश रचना परम्परा से अछूती न रह सकी । फलत: विगत कई दशाब्दों से अनेक उच्चकोटि के कोशों का निर्माण इस भाषा में भी हो रहा है । इनमें शब्द कोश, साहित्यिक, पारिभाषिक शब्द कोश, धर्म कोश व पौराणिक कोश जैसे विषयगत कोश, कवि एवं साहित्यकार कोश तथे विश्वकोश जैसे कोश -ग्रंन्थ हिन्दी के गौरव ग्रंथ हैं । इनमें दूसरी भाषाओं से अनूदित कोश- ग्रंथ शामिल नहीं हैं । यदि उन्हें भी शामिल करें तो हिदी की यह कोश विषयक समृध्दि और भी बढ़ जाती है । कोश रचना की इसी श्रृंखला में डॉ. भवानीलाल भारतीय का *आर्य लेखक कोश* भी एक कड़ी बनकर जुड़ गया है । डाँ. भारतीय आर्य सामाजिक लेखन क्षेत्र के एक प्रख्यात मनीषी हैं जिनकी अनुसंधान पूर्ण लेखनी ने दयानंद और आर्य समाज विषयक अनेक लघु एवं बृहत् ग्रंथों का निबन्धन किया है ।

प्रस्तुत *आर्य लेखक कोश* उन लगभग १२०० लेखकों के जीवन एवं लेखन वृत्तांत का उल्लेख करता है जो महर्षि दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित होकर वाङ्मय की किसी भी विद्या को अपने विचार -प्रेषण का माध्यम बनाते हैं । इस ग्रंथ की बड़ी विशेषता यह है कि विज्ञ कृतिकार ने इसमें भारतीय तथा विदेशी कई भाषाओं में प्रकाशित उन कृतियों तथा कृतिकारों का परिचय प्रस्तुत किया है, जिन्होंने स्व-स्वभाषाओं में दयानन्द और आर्य समाज के चिंतन और कार्य को साहित्य - निबध्द किया है । इन भाषाओं में हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, पंजाबी, कन्नड, मराठी, तमीळ, तेलुगू, मल्याळम्, असमिया, बंगला ,

उडिया आदि भारतीय भाषाएं तथा अंग्रेजी, नेपाली, बर्मी, जर्मन, फ्रेंच आदि विदेशी भाषाएं उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत कोश लेखक की विगत दो दशाब्दों की तैयारी का परिणाम है तथा जैसा कि श्री क्षेमचंद्र जी 'सुमन' ने इसकी 'भूमिका' मे लिखा है कि -- 'कोश का निर्माण करना साधारण कार्य नहीं है। उसकी संरचना करने के लिए तो डॉ. भारतीय जैसे अनेक जागरूक एवं मेधावी व्यक्तियों को दीर्घकाल तक शोध एवं अनुसंधान करने की अपेक्षा थी। फिर भी यह उनका अद्भुत कार्य -कौशल है कि लगभग दो दशक के अनवरत परिश्रम एवं सतत साधना के बल पर से इस असम्भाव्य कार्य को अकेले ही सम्पन्न कर सके हैं। ऐसे संदर्भ- ग्रंथ के निर्माण में दो दशक तो क्या, कई शतियां भी लग सकती थीं।' इस दृष्टि से डॉ. भारतीय प्रशंसा के पात्र हैं।

आर्य लेखक कोश की लेखक - सूचि के कतिपय नाम तो ऐसे हैं जिन्होंने आर्य सिध्दांतों से प्रभावित होकर जागृति - मूलक साहित्य रचकर आर्य लेखन ही नहीं, वरन् समग्र हिन्दी- लेखन को समृध्दि प्रदान की और इस भाषा के साहित्य के इतिहास में जो सदा के लिए अंकित और अमर हो गए हैं। इनमें श्री नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर', पं. नारायण प्रसाद बेताब तथा श्री विष्णु प्रभाकर उल्लेखनीय हैं। हिंदी साहित्य के ये तीनों ही नक्षत्र दयानंद सूर्य की प्रकाश-किरणों से प्रकाशित हुए हैं। इसी कोश में योगिराज श्री अरविंद का नाम भी प्रसन्नता प्रदान करता है। निःसंदेह १८१६ में *वैदिक मैगजीन* में छपे श्री अरविंद के दयानंद और वेद विषयक लेख आर्य-लेखन की मूल्यवान् धरोहर हैं; जो उन्हें एक आर्य लेखक होने की प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। इतना कुछ होने पर कुछ बातें अखरने वाली हैं। जैसे कोश- लेखक का नाम अ, आ। आदि अक्षर- क्रम में न होकर सबसे बाद में अलग से दिया गया है। मानों कि कोशकार आर्य- लेखक न होकर किसी बाह्य लेखन क्षेत्र से संबध्द हैं !! इसी प्रकार आर्य - समाज व लेखन के प्रवर्तक दयानंद सरस्वती को सबसे आरम्भ में रख दिया है, जबकि उन्हें 'द' अक्षर के अन्तर्गत ही रखना चाहिए था। अक्षर -क्रम में रखकर प्रवर्तक के सम्मान और श्रध्दांजलि पर किंचित् भी आक्षेप न आता और कोश - रचना- विद्या और विद्या की विश्वसनीयता और नियम व प्रकार की भी रक्षा हो जाती। एक और उपाय यह था कि आदि में प्रवर्तक का विवरण अक्षर- क्रम आरंभ से पूर्व पृथक् से दिया जाता और अंदर अक्षर क्रम के अनुसार भी संक्षिप्त विवरण डाला जाता। इससे श्रध्दांजलि और कोश - भावना दोनों ही सिध्द हो जाते। कुछ महत्त्वपूर्ण लेखक भी छूट गए हैं, यथा ऋषि दयानंद के पत्रों के संग्रहकर्ता, खतौली, जनपद मुजफ्फरनगर के स्वर्गीय श्री महाराज जी, *ब्रह्मविज्ञान, आत्मविज्ञान, निर्गुण ब्रह्म, बहिरंग योग* जैसी आर्य कृतियों के लेखक स्व. स्वामी योगेश्वरानंद जी, इंदौर से प्रकाशित त्रैमासिक स्वास्थ पत्रिका *निरोगधाम* के संपादक डॉ.प्रेमदत्तजी पांडेय, अलीगढ के ग्राम खेड़ा, पत्रालय दयालनगर के श्री रामस्वरूपजी शास्त्री आदि महानुभाव। ये सब भी आर्य लेखक ही गण्य, मान्य हैं। ग्रंथ में प्रूफ संबंधी त्रुटियां उल्लेखनीय तो नहीं कही जा सकती, फिर भी वैदिक यंत्रालय जैसी प्रतिष्ठ प्रेस के लिए ऐसी एक भी त्रुटि का

होना शुभ नहीं कहा जा सकता। (आज भी गीता - प्रेस , गोरखपुर का मुद्रण प्रुफ की दृष्टि से सर्वोत्तम है। अन्य हिंदी प्रेसों को उससे प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए।)

अन्ततः आर्य लेखक कोश कुल मिलाकर एक अन्वेषक और मेधावी लेखक की एक सुविज्ञतापूर्ण व अभिनव कृति है। यह कोश दयानंद और आर्यसमाज से संबंधित लेखन- कार्य का संदर्भ - ग्रंथ तो है ही, साथ ही समकालीन , समधर्मा अन्य सुधार आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में यह कृति उसी समय प्रादुर्भूत आर्य समाज की जागृति विषयक चिंता और मिशनरी तेवर से भी हमें अवगत कराता है कि क्यों आर्यसमाज अन्य समकालीन समाजों, सोसायटी या मिशन से अधिक प्रखर और प्रभायुक्त बन सका। हाँ, यह सर्वथा दूसरी बात है कि आरंभिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इतने विशालाकार और तेजस्वी साहित्य का धनी आर्यसमाज कालांतर में क्यों उत्तरोत्तर अपनी मौलिक और सत्य की प्रकाशिका तथा आग्रही दृष्टि को खोकर शुष्क तार्किक और अपरिवर्तनशील होता चला गया। यह पृथक् से विचारणीय विषय है। आर्य -लेखन चूंकि सर्वाधिक हिन्दी भाषा में ही रचा गया है, अतः आर्यसमाज विषयक अपने इस विशाल साहित्य पर हिन्दी को गर्व करना चाहिए। ग्रंथ में परिशिष्ट विषयक सामग्री भी ज्ञानप्रद और महत्त्वपूर्ण है। सुधी लेखक इस संकलन के लिए निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।

(२)

रामकृष्ण आर्य (डॉ) *स्वामी दयानंद का आर्थिक चिन्तन*, प्रकाशकः आर्य परिवार प्रकाशन समिति, ४- भ- २७, विज्ञान नगर, कोटा(राज), १९९१, पृ. ३२+२७१ मूल्य १२० रूपये

प्रस्तुत ग्रंथ लेखक डॉ. रामकृष्ण आर्य के व्दारा १९९० में दयानन्द शोधपीठ, पंजाब वि. वि , चंडीगढ़ से *महर्षि दयानंद के ग्रंथों में प्रतिपादित आर्थिक विचारधारा* शीर्षक विषय पर प्राप्त की गई पी. एच्. डी. उपाधि से संबंधित शोध- प्रबंध का संशोधित और परिवर्धित संस्करण है। सम्पूर्ण ग्रंथ १३ अध्यायों में निबध्द है। प्रथम अध्याय में विषय की प्रविष्टि और अर्थ - शास्त्र का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरा अध्याय संस्कृत वाङ्मय में अर्थ संबंधी विचारों का परिचायक है। तीसरे, चौथे अध्याय में महर्षि दयानंद के जीवन- चरित्र में आर्थिक विचारों का दिग्दर्शन तथा महर्षि दयानंद की दृष्टि में अर्थ, अर्थशास्त्र और उसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। पांचवें, छठें , सातवें, आठवें , नौवें तथा दसवें अध्याय क्रमशःउपभोग और प्राथमिक व गौण आवश्यकताओं की पूर्ति तथा राजकीय कर्तव्य, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व जैसे विषयों पर महर्षि दयानंद के अर्थशास्त्रीय विचारों से अवगत कराते हैं।

ग्यारहवां अध्याय दयानन्दीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में समाज , राज्य और उसके आर्थिक संघटन पर प्रकाश डालता है। बारहवें अध्याय में आर्थिक समस्याएं उठाकर महर्षि के विचारों से उनका हल सुझाया गया है। तेरहवां अध्याय उपसंहार है। इस प्रकार समग्र ग्रंथ बहुत ही व्यवस्था व नियोजन पूर्वक रचा गया है।

ऋषि दयानन्द को आमतौर पर एक धर्म सुधारक ही माना जाता है। किन्तु समीक्ष्य ग्रंथ ऋषि विषयक इस आम धारणा को सुधार कर पाठक के चित्त में उनकी सर्वथा एक नयी व मौलिक अर्थ चिंतक की भी आकृति सुस्थिर कराता है। और यह इस किताब की बड़ी भारी देन है। ऋषि दयानंद के बारे में एक यह तथ्य बड़ा ही विलक्षण व अव्दितीय है कि जहां १९ वीं शती के अन्य भारतीय धर्म व समाज संशोधक महानुभाव आंग्लभाषा, युरोप एवं अन्य पश्चिमी साहित्य और चिंतन के प्रकाश व संदर्भ में आधुनिकता व प्रगतिशीलता की व्याख्या कर रहे थे, वहां अंग्रेजी से सर्वथा अपरिचित यह अनिकेत ऋषि उस जमाने में भी *वेद, मनुस्मृति, शुक्रनीति, रामायण, महाभारत* प्रभृति नितांत प्राचीन ग्रंथों को आधार बना कर प्रगतिशीलता की एक सर्वथा सतर्क, बौध्दिक और अभिनव व्याख्या कर रहा था। निःसंदेह उस क्लीब और हीनवीर्य हिंदुस्तान में ऐसा अद्‌भुत काम हो जाना एक बड़ी ही आश्चर्यप्रद घटना थी। जाहिर है कि उस स्थिति में महर्षि दयानंद के अर्थशास्त्र विषयक विचारों की आधार -सामग्री भी उक्त पुरातन ग्रंथ ही होते , परंन्तु उन विचारों के अद्‌य प्रचलित अर्थशास्त्र के उपभोग उत्पादन, विनिमय , वितरण और राजस्व जैसे मौलिक तत्त्वों के क्रम में बांध कर एक रुचिकर शैली में उनका प्रस्तुतिकरण डॉ. आर्य की अन्वेषक दृष्टि का सबूत है।

डॉ. रामकृष्ण आर्य १९६८ से कोटा के 'श्रीराम फर्टिलाइजर्स एंड केमिकल्स' में श्रमिक पद पर कार्य कर रहे हैं। नियुक्ति के समय आप सिर्फ हायर सेकंडरी पास थे। उक्त उद्योग में श्रम जन्य कार्य करते हुए ही आपने अगली कक्षाएं पास कीं और सन् १९७८ में विक्रम वि.वि उज्जैन से प्रा.भा. इतिहास एवं संस्कृति विषय में एम्. ए. किया। श्रमिक जैसे निरीह पद पर रहकर अपने जीवन को उच्चशिक्षा संपन्न बनाना तथा शोध जैसे चुनौती भरे क्षेत्र में सफल पदार्पण, निःसंदेह यह तथ्य आर्य जी के प्रति श्रध्दा उपजाता है। हम आशा करते हैं कि श्रम से शोध तक की यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। ग्रंथ- लेखक अपने उद्योग की ट्रेड-युनियन के सक्रिय संपर्क में होने से ग्रंथ भी कहीं कहीं साम्यवाद के असर से ग्रस्त दिखाई पड़ता है, परंतु उस साम्यवादी कट्टरता का अभाव ही है, जो कि 'लाल सलाम ' वाले इन ट्रेड -युनियनवादियों में अनिवार्यतः पाई जाती है, (बल्कि रूसी साम्यवा५ के पतन के बाद तो 'पाई जाती थी' ही समीचीन होगा)।

ग्रंथ उपयोगी है। दयानंद जैसे विशुद्ध 'शास्त्री' व्यक्ति की एक 'अर्थशास्त्री' के रूप में प्रस्तुति निःसंदेह सर्वथा एक नई व मौलिक चीज है। ग्रंथ और ग्रंथकार दोनों ही क्रमशः स्वागत और बधाई के पात्र हैं।

जयसदन, देवपुरम
मुजफ्फर नगर-२५१००१
(उ. प्रदेश)

आलोक शर्मा

(३)

बन्दिस्ते, (डॉ). डी. डी.; *नवमानववाद:मानवेन्द्रनाथ राय का दर्शन;* मध्य प्रदेश हिन्दी अकादमी, भोपाल १९९०, पृष्ठ:१७७, मूल्य:२५ रुपये(सजिल्द)

ग्रीक चिंतक डेमोक्रीटस् ने मानव को ही मूल्यों का आश्रय प्रतिपादित करके कहा था कि" मानव सभी मूल्यों का मानदंड है"। मानववाद इसे आधार वाक्य मानकर व्यक्ति के विकास और स्वतंन्त्रता का उद्घोष करता है। मानवेन्द्रनाथ राय - १८८७-१९५४ -पूर्ववर्तीनाम "नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य - नवमानववाद के भारतीय चेता हैं। इन्होंने व्यक्ति- स्वातंत्र्य तथा विकास की अवधारणा को भौतिकवाद में ही संभव मानते कहा कि - "व्यक्ति की स्वतंत्रता केवल भौतिकवाद में ही संभव है" भौतिकवाद जगत् की व्याख्या पौद्गलिक करता है तथा विश्व का अंतिम सत्य भी चेतना के स्थान पर पुद्गल को स्वीकार करता है। इससे इसमें चेतना, मनस्, आत्मन् आदि गौण हो जाते हैं। इसमें पारमार्थिक विषयों के लिये स्थान कम बचता है। अत: नैतिकता अथवा मूल्यों की चर्चा इसमें कम समाहित हो पाती है। पर, प्रकृतिवाद - भौतिकवाद का नवीन विवेचक नव - मानववाद यह स्वीकार करता है कि- "भौतिकवाद ठोस नैतिकता में विश्वास करता है"। भौतिकवाद दुनिया के सुधारवादी प्रकृति का संपोषक है। इसके विपरीत प्रत्ययवादी / अध्यात्मवादी / धार्मिक ईश्वर पर आस्था रख कर पलायनवाद को प्रोत्साहित करने वाले होते हैं। ये बीमारी प्रभृति शारीरिक पीड़ा की चिकित्सा सेवा -सुश्रुषा के बदले इसे पूर्वजन्मों का संचयी अथवा नियति का परिणाम मान कर उसके हाल में छोड़ कर पलायन करते हैं। इसके विपरीत भौतिकवाद उसके इलाज को प्राथमिकता प्रदान करके नैतिक मूल्यों की तत्परिप्रेक्ष्य में विवेचना करता है। यह नैतिक मूल्यों - प्रेम, दया, करुणा, सहिष्णुता, सहयोग, मैत्री, सौजन्यता आदि की मानव- सापेक्ष विवेचना करता है। नवमानववाद यह स्वीकार करता है कि - किसी एक ही देश या एक ही वर्ग के उद्धार के लिये लड़ना संकीर्ण स्वरूप की लड़ाई है। (पृ ०७) अत: यह अपना विषय समष्टि की इकाई व्यक्ति को बनाता है।

नव- मानववाद मानवेन्द्रनाथ राय के कम्युनिस्ट प्रभाव से मुक्त होने के

पश्चात् प्रारंभ की गई १९४६ की रिनायसन्स इन्सिटिट्यूट जागरणमंच का प्रसाद है। दूसरे शब्दों में, नवमानववाद और मानवेन्द्रनाथ राय का दर्शन वर्तमान में समानार्थी हैं। (पृ १२) उन्होंने जन जागरण मंच से भारत और भारत के बाहर वर्ग चलाये तथा २२ आधार सिद्धांत प्रस्तुत किये जो इसके व्यावहारिक और सैद्धांतिक पक्ष की नियमावली है।

भौतिकवादी राय (पृ. १८) ईश्वर में विश्वास के स्थान पर मानव में आत्म- विश्वास जागृत करने को ज्यादा महत्त्व प्रदान करते हैं। (पृ. २७) उनका क़हना है कि सच्चा दर्शन भौतिकवादी ही हो सकता है। दर्शन के क्षेत्र में सिंहासन का वारिस तो भौतिकवादी ही है। बीच में प्रत्ययवाद इस ठग ने उससे वह स्थान हथिया लिया। परन्तु अब विज्ञान की सहायता से भौतिकवाद वह स्थल पुन: प्राप्त करने में ही है। (पृ २९-३०) राय "आत्मा" को भी भौतिक रसायन अभिहित करते कहते हैं कि "आत्मा " कोई स्वर्ग से उतरी दिव्य चिंगारी नहीं है। उनका भी मूल स्वरूप मूल रूप में भौतिक रसायन ही है। (पृ ३४) राय के अनुसार मानव भौतिक विकास से निर्मित प्राणी है। चेतना आदि सभी बातें मनुष्य को भी भौतिक द्रव्य के क्रमिक विकास से प्राप्त हुई हैं। अत: मनुष्य की आत्मा पृथ्वी की पुत्र है (पृ. ५८) रचना - विभिन्नत्व ही गुण - विभिन्नत्व का मूल है (पृ. ३२)। इससे व्यक्तित्व तथा कर्म - सिध्दांत की भारतीय अवधारणा राय को अवैज्ञानिक ,आत्म- विसंगत, असंतोषजनक, तथा निश्चय रूप से हानिकारक लगती है (पृ. ५६)

राय के चिंतन की मूल ईकाई मानव व्यक्तित्व है , मावन समाज नहीं। उनकी मान्यता है कि जीवन की कठिनाइयों का कारण सामाजिक जीवन की अनैतिकता है। सुधारवादी आंदोलनों ने मानव जाति को हमेशा प्राचीनता और अंधश्रद्धा का मार्ग दिया है (पृ. ७९)। अत: धार्मिक संस्थायें बंद कर देनी चाहिये। तथा सामजिक जीवन से हटा देनी चाहिये। तथापि वे व्यक्तिगत स्तर पर धार्मिक क्रिया के पक्षधर हैं। यह वैयक्तिक स्वतंत्रता ही नैतिकता की सर्वोच्च पराकाष्ठा है। राय स्वतंत्रता को सर्वोच्च मूल्य मानते हुए स्वातंत्र्य के साथ ही सत्य तथा ज्ञान को भी निरपेक्ष मूल्य मानते हैं (पृ. ९०)। उनकी मान्यता है कि मूल्य मानव निर्मित आदर्श हैं। मानव के साथ ही मूल्यों का अस्तित्व है। आदर्श निर्माण के लिये मानव अस्तित्व आवश्यक है। (पृ. ८८) वे समाज को व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखने के आग्रही हैं। उनका कहना है-" कोई समाज प्रगत है या पिछड़ा यह तय करना हो तो उस समाज के व्यक्ति की स्थिति देखिये " (पृ. १०९)। इसलिये नव - मानववादी व्यक्ति न कभी पूर्णत: सफल होता है न पूर्णत: असफल। वह उचित दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। वह अपने आदर्श को अपने प्रतिदिन के जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार यह दु:ख - निवृत्ति की एक मात्र आधुनिक तथा वैज्ञानिक योजना है। (पृ.१२२) आज हम विज्ञान और आधुनिकता की बात करते हैं तब इस ग्रथ की उपयोगिता हमारे लिये और बढ़ जाती है।

आठ अध्यायों में वर्गीकृत यह ग्रंथ अपने कलेवर में समग्रता का अनुभव कराता है। प्रस्तावना नामक प्रथम अध्याय में मानवता एवं नव मानववाद का परिचय है। तत्त्वमीमांसा का विवेचन द्वितीय अध्याय में है। इसमें भौतिकवाद और वैचारिक यथार्थवाद का गूढ़ विवेचन है। ज्ञान - मीमांसा नामक तीसरे अध्याय में ज्ञाता, ज्ञेय, प्रमण मीमांसा के साथ वस्तु - स्वातंत्र्य - वाद का विशद विश्लेषण है। मानव व्यक्तित्व एवं व्यक्तित्व के स्वरूप की अवधारणा का विवेचन मानव व्यक्तित्व का स्वरूप नामक चौथे अध्याय में हुआ हैं। इसी अध्याय में राय की मानव व्यक्तित्त्व संबंधी अवधारणाएं हैं। मूल्य विषयक चिंतन, नीति - मीमांसा नामक पांचवे अध्याय में है। इसमें मूल्य, नैतिकता तथा मुक्ति की अवधारणा का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। अध्याय ६,७, व ८ में इसके आनुषंगिक पक्ष इतिहास, समाज तथा सिंहावलेकन और मूल्यांकन के हैं, जिनमें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्वातंत्र्य की खोज, राजनीति - दर्शन, अर्थव्यवस्था, क्रांति की नवमानववादी अवधारणा तथा इसके लोकप्रियता न प्राप्त कर पाने की चर्चा हुई है। पुस्तक में रेडिकल डेमोक्रेसी के २२ सिद्धांत परिशिष्ट में दिये गये हैं , जिससे राय का चिंतन और नवमानववादी सिध्दांत को मूल रूप में समझने में सहायता मिलती है। विषय -सूची और संदर्भ - ग्रंथ विश्वविद्यालयीन छात्रों के लिये उपयोगी है।

वैसे डॉ. डी. डी. बंदिस्ते ने पुस्तक के प्रारंभ में ही ग्रंथों को उल्लेखित करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है--''नवमानववाद विचारों को पिराने के लिये मोतियों की माला बनाने के लिये इन ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक है। उन्होंने कोई ग्यारह ग्रंथों का उल्लेख किया है जिनमें प्रमुख है -- सॅव्हेजरी, मटीरियलिज्म, न्यू ह्यूमनिज्म आदि। समग्र रूप से यह ग्रंथ समकालीन भारतीय चिन्तकों की भौतिकवादी आस्थापरख नैतिकता के विवेचन को रेखांकित तथा प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य परम्परा के बीसवीं शताब्दी के पांचवें और छठें दशक के चिंतकों को - जिनमें रसेल और विएन्ना सर्किल के चिंतक आते हैं - तो हम सहज स्वीकार करते हैं; पर अपनी माटी को स्तरीय न मानकर पीछे के पृष्ठ पर रख छोड़ते हैं। इस ग्रंथ में हमारी इस हीन भावना ग्रंथी से ऊपर उठने की प्रेरणा ही है। अपने को भी सम्मान देने तथा पारंपरिक प्रेरणा प्रदान करने का प्रयास किया है।

जब हम पाठक शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमें यह देखना होता है कि मुद्रण तथा सज्जा में हम कहां है। प्रस्तुति अनिवार्यत: सुष्ठु हो यह जब हम कहते हैं तब इस ग्रंथ के सज्जा की तथा छपाई की त्रुटियों की चर्चा बिना किये बच नहीं सकते। पाठक सज्जा तथा शुध्दियां अपेक्षित मानता है। इस ग्रंथ में इसका अभाव है। प्रुफ की अनेक अशुध्दियां हैं। विश्व चिंतन में

भारत की छबि का प्रदर्शन करने वाले चिंतकों को प्रतिस्पर्धा के लिये तैयारी करनी चाहिये। इस दिशा में इस ग्रंथ में कोई ठोस कार्य नहीं हुआ है। फिर भी म. प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी साधुवाद का पात्र है कि उसने इस क्रांति को जिल्द दिया।

ढ़िमानी , खरसिया,
जिला रायगढ़ , म. प्र. ४९६६६१

गंगाप्रसाद डनसेना

परामर्श (हिन्दी) खण्ड १३ के योगदाता

अंक १, दिसम्बर, १९९१

अंक २, मार्च १९९२

(*सूचना :* कृपया इस अंक के पृष्ठांक १ से ८४ के बजाय
७३ से १५६ पढ़ें।)

अंक ३, जून , १९९२

अंक ४, सितम्बर , १९९२